प्रवचनांश

- मुनिश्री सौरभसागर जी महाराज

मानव जीवन में ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। संसार में प्रत्येक जीव के पास ज्ञान है। जो अनन्त की क्षमता में परिवर्तित हो सकता है, जो केवलज्ञान रूप है, इसलिये आध्यात्मिक ज्ञान हो या आधुनिक ज्ञान-विज्ञान रूप दिव्यध्वनि कारी रूप है, धारण करने वालों के ऊपर निर्भर करता है कि वह ज्ञान सु है या कु। भक्तामर स्तोत्र में भी कहा गया है -

भाषास्वभावपरिणामगुणैर्प्रयोज्यः।

ज्ञान की क्षमता का श्रुत रूप वर्णत तो व्याख्या से मात्र ६०० वर्ष चला पर धरसेनाचार्य की दूर दृष्टि ने दो मुनिराज पुष्पदन्त एवं भूतबलि को सम्पूर्ण ज्ञान समर्पित कर शब्द को अक्षर रूप में प्रस्तुत कर द्रव्य, पदार्थ, तत्त्व, अस्तिकाय आदि प्रकट कर षट्खण्डागम जैसा महान् ग्रन्थ दिया उनका ही उपकार मानते हुये वीरसेन स्वामी ने कहा है।

आचार्य पुष्पदन्तसागरजी महाराज कहते हैं कि जब ज्ञान अपनी सरलता, विनम्रता खो देता है तब वह ज्ञान बोझ बन जाता है, बोध का जागरण नहीं करता। इसलिये अज्ञान शास्त्र अध्ययन से नहीं सन्त समागम से टूटता है - दर्शनविशुद्धि है।

ज्ञान आत्मा के विकास में प्रमुख कारण होता है, इसलिये ज्ञान के उपार्जन के कारण या निमित्त बनाये जाते हैं उन्हीं निमित्तों में विद्वत्संगोष्ठी एक विशेष निमित्त है, मैं प्रतिवर्ष चातुर्मास में विद्वत्संगोष्ठी की प्रेरणा देता हूँ जिससे विद्वानों एवं समाज को ज्ञान के आदान-प्रदान का अवसर मिलता है इसमें मैं भी यथासम्भव ज्ञान का आदान-प्रदान करता हूँ। ज्ञान के, आराधना के आयोजन में नई-नई चर्चायें निकलकर आती है, नवीन-नवीन विषय भी उद्घाटित होते हैं। विगत २२ वर्षों में सम्पन्न हुई

संगोष्ठियों में अनेक सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विषयों पर विस्तार पूर्वक चर्चा और वार्तायें हुई है।

दिल्ली महानगर के रोहिणी उपक्षेत्र में २०१६ के चातुर्मास में 'जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान' विषय पर विद्वत्संगोष्ठी आयोजित की गई जिसमें विविध विषय आधुनिक विज्ञान से सम्बद्ध प्रस्तुत हुये। विद्वानों ने अपने क्षयोपशम व आगम के आधार पर आलेख तो प्रस्तुत किये उनमें वैज्ञानिक और धार्मिक गहराई की और आवश्यकता थी क्योंकि जैनधर्म का वैज्ञानिक पक्ष मजबूत है, जैनाचार्यों ने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्यों का विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अद्भुत चित्रण किया है। द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप को जैन धर्म के आलोक में वर्णन तो है किन्तु वैज्ञानिकों द्वारा द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप को वैज्ञानिक आधार से प्रस्तुत करना एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। पंचास्तिकाय, नवपदार्थ आदि के वैज्ञानिक पक्ष भी अपने आप में जैनधर्म का वैशिष्ट्य। जहाँ तक जैन सिद्धान्त की विवेचना की बात है। आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया है, वैज्ञानिक उतने सूक्ष्म विवेचन करने में अक्षम है। वैज्ञानिक तो ऊपरी धरातल पर ही टिके हैं और स्थूल, विश्लेषण करके सन्तुष्ट है, जबकि जैनाचार्यों ने विषयों की गहराई में पहुँच कर उन विषयों की विवेचना की है जो आधुनिक विज्ञान के लिये चुनौती बना हुआ है।

इस **जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान** विषय पर आयोजित संगोष्ठी में सम्मिलित होने वाले सम्पूर्ण मनीषियों को आशीर्वाद। संगोष्ठी संयोजक डॉ. श्रेयांस कुमार जैन बडौत को आशीर्वाद। संगोष्ठी की व्यवस्था बनाने वाले रमेश जैन (झज्जर वाले), शरदराज कासलीवाल, पुष्पेन्द्र जैन, एन.के. जैन, नरेन्द्र जैन (गन्नौर वाले), मनोज जैन, दीपक जैन एवं समस्त श्री पुष्पवर्षायोग समिति, रोहिणी दिल्ली का सराहनीय योगदान रहा एवं पं. संदीप जैन 'सजल' हस्तिनापुर ने भी व्यवस्था में योगदान देकर सहयोग किया है, इन सभी को मेरा मंगलमय आशीर्वाद।

१. जैनदर्शन समझौता नहीं समझदारी को स्वीकार करता है।

२. समझौता का अर्थ शिथिलता है, समझदारी का अर्थ परिस्थिति के अनुसार आचारण को सुरक्षित रखना है।

३. समझौता में मजबूरी होती है, समझदारी में ईमानदारी और जिम्मेदारी होती है।

४. पहले मुनि वनों में रहते थे, शहर–नगर में आ गये तो चर्या के साथ समझौता नहीं किया, समझदारी का प्रयोग करके चरणानुयोग को सुरक्षित रखकर समझदारी का प्रयोग किया है।

५. सिद्धान्त की दृष्टि से देखेंगे तो तीर्थों पर रहने वाला साधु उदिष्ठ आहार करता है, गाँव, शहर, नगर में रहने वाला सहज करता है, क्योंकि तीर्थों पर जाकर भोजन ग्रहण करने वाला श्रावक आजकल नहीं गाँव शहर में रहकर मर्यादित भोजन करने वाले आज भी है।

६. आजकल वॉटसप्प के माध्यम से अनर्थदण्ड ज्यादा होते हैं जो अप्रयोजनीय बातों का विस्तार देकर करते हैं यह शाब्दिक अनर्थदण्ड है।

७. वर्तमान में जितनी भी क्रियायें मनोरंजन की है वह सब अनर्थदण्ड है। अनर्थदण्ड करने मिल जाये ता खुश होकर व्यसनों की ओर जा रहा है, धन की बर्बादी कर रहा है, न मिले तो दु:खी होकर अवसाद (डिप्रेशन) में जा रहा है।

८. मानसिक, कायिक, वाचनिक पापों से बचने के लिये अनर्थदण्ड व्रत है।

९. कार्य सार्थक हो तो कोई न कोई अर्थ है और यदि कार्य व्यर्थ हो तो वह अनर्थदण्ड है।

१०. अति बुद्धिवादिता अहंकार की आराधना है, ओंकार की साधना नहीं है।

११. आज से ३००–४०० साल पहले के साधु टीवी, फेसबुक, वाट्सएप आदि पोस्टर में नहीं आये पर आज तक आपके दिल में बसे हैं, जिसका कारण उच्चज्ञान और आचरण है उनके ग्रन्थ व सहन क्षमता है विज्ञापन नहीं।

१२. धर्म रिवर्स (अपनी ओर ले लो)को और विज्ञान रिसर्च को मानता है।

१३. भीड़ में बुद्धि नहीं भेड़ चाल होती है, इसलिये भीड़ में एक की त्रुटि उपद्रव करती है और सभी देखादेखी उपद्रव में सम्मिलित हो जाते हैं।

१४. श्रुतपंचमी का महापर्व षट्खण्डागम ग्रन्थ की आराधना से प्रारंभ हुआ इसलिये **मंगल पुष्पदन्ताद्यौ** बोलकर हम उनके प्रति बहुमान व्यक्त करते हैं। क्योंकि मंगलाचरण चार कारणों से किया जाता है। वीरसेन स्वामी ने कहा है कि महावीर स्वामी के पश्चात् गौतमस्वामी है तत्पश्चात् पुष्पदन्त-भूतबलि के नाम का उल्लेख किया है।

१५. डॉक्टर बनकर मरीज को देखोगे तो रोगी नजर आयेगा, अभिभावक बनकर देखोंगे तो रोग निकालने का भाव उत्पन्न होगा, तथाकथित ज्ञानी (छिद्रान्वेषी)बनकर साधु को देखेंगे तो शिथिलाचारी नजर आयेगा, श्रद्धात्मक दृष्टि से देखोगे तो **दोषवादे च मौनम्** का भाव उत्पन्न होगा।

१६. साधु की त्रुटि देखकर साधु ही ज्यादा बकवास करें तो वह अपनी ही दिगम्बर मुद्रा को लांछित करता है। समाचार विधि का पालन कर दोष बताता है तो सम्यक्त्व के स्थितिकरण अंग का पालन करता हुआ अपने मिथ्यात्व को गलाता है। साधुता के प्रति श्रद्धाभाव बढ़ाता है।

१७. चारित्र से भ्रष्ट इंसान तर सकता है, दर्शन से भ्रष्ट इन्सान नहीं। इसलिये पुलाक, वकुश मुनि भी भावलिंगी कहे गये हैं इसलिये आचार्यों ने कहा कि **सिज्झंति चारित्र महादंसण महा न सिज्झंति।**

१८. भगवान महावीर स्वामी ने पथ दिया है पंथ नहीं। पथ की मान्यता गृहीत मिथ्यात्व है जो वस्त्रधारियों की देन है।

१९. धर्म और धर्मात्मा को सूक्ष्म बुद्धि से नहीं शुभ व शुद्ध बुद्धि से देखा जाता है।

२०. जैनत्व के संस्कार देने वाले लगभग १८ गुरुकुल में कुछ लुप्त हो गये, कुछ सुप्त हो गये, कुछ चुस्त हो गये हैं, पर गुरुकुल पंथवादी बनाकर धर्म, मंदिर, साधुता में भेद कर रहे हैं, जैनत्व का अस्तित्व नहीं

विकसित कर पा रहे हैं।

२१. पंथवाद के नाम पर गुरुकुलों से धार्मिक शिक्षा तो मिल रही है पर धार्मिक षट् कर्त्तव्य मूलक संस्कार नहीं।

२२. वर्तमान के शिक्षण संस्थान पंथवाद को बढ़ावा दे रहे हैं, देव-शास्त्र-गुरु की आराधना के भावों को मजबूत नहीं करा रहे हैं।

२३. गुरुकुल जैन शिक्षा का साधन मात्र है यदि उसके साथ सच्चाई, दृढ़ता, शान्ति, समपर्णता, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति सहज श्रद्धा का गुण प्रकट नहीं हुआ तो वह शिक्षा गधे की पीठ पर चन्दन का भार है वह समाज को लाभ नहीं हानि पहुँचाती है। गुरुकुल की शिक्षा का उद्देश्य मात्र धार्मिक क्रिया को धन कमाने का साधन नहीं बल्कि समाज के भीतर व्याप्त अज्ञानता को दूर करते हुये देव-शास्त्र एवं दिगम्बर गुरु की सेवा करना है यह उद्देश्य सफल न हो तो शिक्षा में किया गया खर्च व्यर्थ है।

२४. गुरुकुल में विद्यार्थी की बुद्धि का विकास होना चाहिये, बुद्धि में विकार नहीं, व्यक्तिवादी-पंथवादी मानसिकता प्रकट करना अपनी ही शिक्षा को अमान्य करना है। जहाँ **आप्तागम-तपोभृताम्** के प्रति श्रद्धा विनय नहीं वह शिक्षा बोध नहीं है बोझ है।

२५. वर्तमान में साधुओं में भी ज्ञानी साधु बहुत है पर यशस्वी नहीं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, परिषह सहना मजबूरी या महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति ये कारण हो सकते हैं। परन्तु अदर्शन, अज्ञान, प्रज्ञा, सत्कार-पुरस्कार आदि परिषह सहन करना साधना है, आज के युग में यह परिषह सहन करने वाले साधु भले ही यशस्वी न हो पर वन्दनीय अवश्य है।

२६. जो आचार्य पुष्पदंत-भूतबलिजी प्रणीत षट्खण्डागम को श्रद्धा से मानेगा वह कभी पन्थवाद को महत्त्व नहीं देगा।

२७. जो अपने आपको विद्वान् कहते हैं वे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनम्र रहे।

२८. बचपन में ईमानदारी, यौवन में उत्साह, बुढ़ापे में अनुभावात्मक क्रिया श्रेष्ठता का विकास करती है।

२९. अपने आपको ऊँचा दिखाकर किसी को नीचा दिखाना वीतरागता नहीं अहंकार का प्रदर्शन है।

३०. गुणानुवाद को परिभाषा नहीं श्रद्धा की उत्कृष्टता कहते हैं, जो तुलनात्मक अध्ययन नहीं स्वयं की मान्यता की अभिव्यक्ति होती है।

३१. ढंग का जीवन जीने वाला अपना आचरण सुधारता है, ढोंग का जीवन जीने वाला मात्र दूसरे पर टिप्पणी असद् वचन कहता हुआ अपने आप को चन्द्र शबासी में बेच देता है।

३२. स्पष्ट वादिता के नाम पर सत्य को स्वीकार करने के लिये कलेजा चाहिये और उसे कहने के लिये मात्र भेजा चाहिये।

३३. वर्तमान को शानदार, जानदान नहीं ईमानदार और समझदार और जिम्मेदार बनाये।

३४. ऐसा कोई भी मकान नहीं है जिसमें एक द्वार और एक नाली ना हो उसी प्रकार वर्तमान में ऐसा कोई साधु नहीं जिसमें एक गुण और एक दोष न हो।

३५. पण्डित और विद्वान् अगर धार्मिक वातावरण का विस्तार करना चाहते हैं तो अपने नगर में १ घंटा मंदिर में स्वाध्याय करें, स्वयं पूजा करें, संत नगर में आये तो उनका सम्मान करें, लाये ले जाये अपने आप वातावरण में परिवर्तन नजर आने लगेगा।

३६. तडित जल को शास्त्रों में शुद्ध माना है तो हेण्डपम्प का जल भी शुद्ध है। कुआ का पानी नहीं मिल रहा है तो वर्षा का एकत्रित जल पीने की बात कर रहे हैं, अपने पर बीतती है तब उपाय इन्सान स्वय खोजता है, पर आगम की नहीं अपनी व्यवस्था सुरक्षा देख रहा है।

३७. जैसे-जैसे विज्ञान आगे बढ़ रहा है वैसे-वैसे ऋषि और मुनियों की वाणी पर अपनी मुहर लगा रहा है।

३८. अवलोकन, विश्लेषण, प्रयोग फिर व्याख्या करें तब पुण्य-पाप ही नहीं, अहिंसा ज्यादा नजर आयेगी।

३९. धर्म में विज्ञान अवश्य होता है, विज्ञान में धर्म हो या न हो क्योंकि विज्ञान रिसर्च को स्वीकारता है, धर्म रिचर्स, तीर्थंकरों के उपदेश, आचरण

की ओर लौटने की प्रेरणा देता है।

४०. धर्माराधक धर्म विशेष के आचरण की बात करते हैं, धर्मोपदेशक मात्र धर्म की बात करता है, धर्म का प्रतिपादन करते हैं, मानना न मानना श्रोता के समझ पर छोड़ देते हैं।

४१. धर्म के पास दर्शन (विचार) भी है, आचरण भी (आचार), विज्ञान के पास मात्र दर्शन होता है आचरण नहीं।

४२. धर्म भीतर के भावों को देखता है, पाप को पकड़ता है, विज्ञान बाहर के पदार्थ को देखता है, मात्र अपराध को पकड़ता है।

४३. वर्तमान विज्ञान शरीर के तल पर जीता है, वीतराग विज्ञान आत्मा के तल पर जीता है, इसलिये विज्ञान आधुनिक है धर्म आध्यात्मिक होता है।

४४. वीतराग विज्ञान परिणामों के अनुसार निर्णय करता है, आधुनिक विज्ञान परीक्षणों के आधार पर निर्णय करता है।

४५. अध्यात्म से रहित कोई भी जीव नहीं है पर प्रकटीकरण की साधना का अभाव है।

४६. आदिनाथ से लेकर महावीर तक साधनों से वस्तु का परीक्षण नहीं किया, साधना से ध्यान, चक्षु से वस्तु का ज्ञान किया और यर्थाथ रूप का प्रतिपादन किया है, उनका माइक्रोस्कोप यंत्र उपकरण उनका केवलज्ञान था।

४७. आदिनाथ पुराण की संस्कार की क्रियाओं का पालन करता है पंथवादिता नहीं, आचारण का सुधार, संस्कारों का जन्म जैनत्व का बोध है जो जन को जैन में परिवर्तित करता है क्योंकि जन में मनुष्य मात्र है, जैन शब्द में आचार और विचार की दो मात्रा अवतरित होती है।

४८. आजकल गृहस्थों के गर्भ से मृत्यु तक के संस्कारो में से एक अन्त्येष्ठि संस्कार शेष बचा है, बाकी सब खो गये तो परमेष्ठी को स्वीकारता है, वहाँ पूर्वाग्रह से मुक्त विद्वत्ता का जागरण होगा वहाँ विभेद नहीं, विवाद नहीं, संवाद होगा, स्याद्वाद होगा।

४९. जो सम्यक् आचारण का दें पुरस्कार उसी का नाम है संस्कार,

इसलिये पहले सदाचार फिर जैनाचार फिर श्रावकाचार फिर श्रमणाचार है।

५०. जो धर्म एवं श्रद्धा से युक्त होगा वह परिचय एवं अधिकार का प्रयोग नहीं करेगा वह आगम को ही मान्यता देगा।

५१. आगम में मुनि और आर्यिका में भेद किया है तभी इसको महाव्रती कहकर भी कुछ आचरण की भिन्नता प्रकट कर दी पर श्रावक और श्राविका में भेद नहीं किया इसलिये उनके आचरण में षट्कर्त्तव्य की क्रिया में भेद नहीं है।

५२. मुनियों के आचरण में मात्र 2 या 3 ग्रन्थ है पर श्रावकचार के १०८ ग्रन्थों में ४३ उपलब्ध प्रकट है क्योंकि जिस काल में जिस दुराचरण की पाप की बहुलता देखी उसी को मुख्यता देकर आचरण की शुद्धता उत्कृष्टता को जन्म देने की बात कही इसलिये समयानुसार मूलगुणों के आचरण नामों में भी परिवर्तन है।

५३. प्रारंभिक श्रावकाचारों में श्रावकों के उत्कृष्ट आचरण का प्रतिपादन है, माध्यम अंत के श्रावकाचारों में छोटे-छोटे आचरण नियम बताकर श्रावकत्व को सम्भालने की चेष्ठा की गई है।

५४. जैन शासन में षट् खण्डागम को स्वीकारा है पंच-परमागम को श्रुतपंचमी का जनक नहीं माना। समझौता में मजबूरी होती है, समझदारी में ईमानदारी और जिम्मेदारी होती है।

५५. आगम को मानने वाला विचारों की टूटन की चर्चा भले करे पर सामाजिकता में टूटन को बचाता है और मुद्रा एव मान्यता स्यात् के सूत्र को अंगीकार कर पिच्छी, कमण्डल, नग्नता, केशलोंच, करपात्राहारी को देख सहजता से विनम्र हो जाता है।

५६. जैनत्व के संस्कार गर्भगत हो, जन्मगत हो, विवाहगत हो, वर्षगाँठ हो, सन्तान आगमन हो, मुण्डन हो, कोई भी संस्कार हो मात्र वीतरागी भगवान से जुड़ा है वह भावना है, मिथ्यात्व नहीं वह जिनधर्म से जुड़े रहने का साधन है। पन्थ का नाम देकर अन्य ग्रन्थों से आया ऐसा स्वीकार कर मिलावट कहकर नकारने से वह मिथ्यावी है व वह उनके

पास जायेगा।

५७. **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** की विशालता को स्वीकारने में जीवन खप जायेगा अभी तो **परस्परोपग्रहो जैनानाम्** ही स्वीकार ले ताकि जैनत्व संघठित हो सके।

५८. जब १८वे पुष्पवर्षायोग २०१२ सम्मेदशिखरजी में ५ आचार्य, २० साधु, १५ आर्यिका आदि लगभग ४६ पिच्छी के मध्य जब श्रमण (साधु) और श्रावक पर गोष्ठी का माध्यम हुआ – तब देखा कि कुछ श्रमण सत्कार–पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन आदि परिषह सहन कर रहे जो कि ज्ञानी है, तपस्वी है पर उनका यश नहीं है। इसलिये उनकी विशेषता की पहचान नहीं होती है।

५९. जैनदर्शन में पहला आचारांग, दूसरा सूत्रकृतांग, तीसरा व्याख्याप्रज्ञप्ति है, यानि पहले आचारण करो, सूत्र को समझो फिर व्याख्या करो अन्यथा मौन रहना ही श्रेष्ठ है।

६०. जैनियों के पास खान–पान की मर्यादा की चर्चा विशेष है क्योंकि खान–पान शुद्ध होता है तो खानदान भी शुद्ध होता है, आहार–शुद्धि, सत्त्व शुद्धि।

६१. खाते–पीते घर का होना पुण्य की बात है, खाने–पीने वाले घर का होना पाप का उदय है।

६२. जब तक व्यक्ति अभक्ष्य नहीं छोड़ता है, तब तक जैनत्व का पूर्ण जागरण नहीं हो सकता है।

६३. त्रसहिंसा कारक पदार्थ का त्याग वाला जैनी मद्य, मांस, मधु का सेवन तो किंचित् भी नहीं करता है, पर ज्ञात ऐलोपैथ, होम्योपैथ, औषधि का त्याग करता है और बाजार से पेक्ड खाद्य सामग्री का भी त्यागी होता है क्योंकि इनमें दो इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीवों की तीव्र मात्रा में हिंसा होती है।

६४. विज्ञान को मानने वाला मात्र बाहर की सफाई पर ध्यान देता है धर्म को मानने वाला बाहर की सफाई और भीतर की शुद्धता, दयालुता का भी ध्यान रखता है और स्वीकार भी करता है।

६५. सरकारी नौकरी वाले ये मेडिकल के बहाने छुट्टी लेते हैं तो अस्थिर अशुभ असाता कर्म का बन्ध करते हैं।

६६. आचरण भय से, कुल से, नियम से, अधिकार से नहीं भीतर के समर्पण से होना चाहिये, अन्यथा वह अकाम निर्जरा ही कहलायेगी।

६७. इन्सान को काय संभालने के लिये संयम, वचन के लिये मधुरता और मन को नियन्त्रित करने के लिये संतुष्टि की आवश्यकता है।

६८. बहुस्थावर हिंसाकारक पदार्थ का त्याग वाला इन्सान मात्र आलू का नहीं प्याज, लहसुन, गाजर, मूली, शकरकंद, आदि का त्याग करता है, गाजर, मूली पहले छोड़ता है क्योंकि वह एक फल के लिये एक पूरे वृक्ष को उखाड़ना पड़ता है, तामसिक है, जीवाश्म ज्यादा है। पूरा पेड़ उखड़ कर खाने वाला कृष्ण लेश्या परिनामी है।

६९. प्रमादकारक वाली सुस्ती, निद्रा, चिड़चिड़ापन, तामसिक, गरिष्ठ, मादक, नशीली वस्तु का नियमत त्याग करता है क्योंकि ये सक्रियता को निष्क्रियता में बदल देती है।

७०. महावीर की दृष्टि में साधना अहिंसा का पालन तो करना है पर शरीर के स्वास्थ्य का भी ख्याल रखना, भक्ष्य होने पर भी अनिष्टकारक हो और पापों को बढ़ाये उसे भी त्यागना चाहिये ताकि धर्म भी चले और शरीर भी चले।

७१. अनुपसेव्य पदार्थ का सेवन भोगी प्रवृत्ति के कारण इसको वर्तमान में आधुनिकता विलासिता के नाम पर ज्यादा विस्तार हुआ है जो खाने योग्य नहीं है उसे खाना तथा जो वस्त्र उपयोग योग्य नहीं होने पर भी पहनना ऐसे सभी योग, उपभोग, की सामग्री अनुपसेव्य है।

७२. धर्म पालन करने वाले को उद्देश्य स्वरूप परिणाम तीन शब्दों का ख्याल रखना चाहिये, कार्य का उद्देश्य क्या है? इसका स्वरूप कैसा है? और परिणाम क्या होगा?

७३. महावीर की त्याग परम्परा स्वास्थ्य एवं साधना दोनों का ख्याल रखती है।

७४. जैनदर्शन की क्रिया सरल है शब्द कठिन जो व्यवहारिकता का

परिचय देती है जिसे कई श्रावक स्वीकारते है जैसे पड़गाहन, उच्चासन, पाद-प्रच्छालन, नमन, पूजन शब्दों में नहीं जानते पर क्रिया में सहजता से यह क्रिया मात्र बुलाना, बैठाना, चरण धुलाना, विनम्रता खाद्य सामग्री की जानकारी है जो व्यवहारिक क्रिया है, आध्यात्मिक उपलब्धि का साधन भी है।

७५. समुद्र में ऊपर तैरोगे तो मछली मिलेगी, भीतर जाओगे तो मोती मिलेगा, धर्म के बाह्य विचार में जाओगे तो विवाद है भीतर जाओगे तो स्याद्वाद शुभ संवाद है।

७६. जो मनुष्य पंक्ति में न बैठने योग्य, पुरुषों के साथ भोजन आदि करते हैं वह इस लोक में निंदित और पर लोक में दुःख भोगते हैं। आज के हिसाब से अगर आगम वचन को देखे तो संभवतः कोई भी श्रावक विद्वान् सभा में बैठने योग्य भी नहीं है, और शास्त्र गद्दी के लायक तो है ही नहीं, क्योंकि होटलों में खाता है, सरकारी नौकरी करता है, अफसरों की खातेदारी करके उसके साथ ही ख-पी भी लेता है, अन्य भी कई व्यवहारिकतायें निभानी पड़ती है।

७७.पाश्चात्य संस्कृति में दार्शनिक एवं भारतीय संस्कृति में सन्तों ने जन्म लिया है।

७८. अगर आप योगी नहीं बन सके तो उपयोगी अवश्य बने।

७९. सत्य को पाने के लिये, सत्य को पढो, जानो, स्वीकारो एवं सत्य का

८०. खुलासा करो क्योंकि सत्य मुख का नहीं मन का विषय है।

आन्दोलित, उद्बेलित करने वाला नहीं आकर्षित करने वाला उपदेश करना चाहिये क्योंकि भीड़ को आन्दोलित किया जाता है। ईर्ष्यालू और दुश्मन को उद्बेलित किया जाता है तथा आकर्षित उन्हें किया जाता है जिनमें भविष्य के सुधार की संभावना के द्वार खुले होते हैं उन्हें ही आकर्षित उपदेश दिया जाता है।

८१. गृहस्थ तो आज भी भोला और सीधा है तथाकथित ज्ञानी और स्वार्थी ही उन्हें बिगाड़ते हैं अपना मतलब सिद्ध करने के लिये।

८२. आलू, प्याज, शकरकंद आदि कंद है, गाजर-मूली आदि मूल है,

क्योंकि वही जड़ वही मूल है, इसलिये कंदमूल का गृहस्थ को भी त्याग करना चाहिये, हल्दी और सौंठ में क्षार तत्त्व होने से सूखी औषधि के रूप में ग्रहणीय है।

८३. सचित्त फल को अचित्त, छिन्न-भिन्न करके, नमक छिड़कर, कुचलकर, मसलकर, उबालकर लिया जाता है किसी रुग्ण व्यक्ति के आचरण को नहीं थोपा जाता है। कुछ खाद्य-पदार्थ क्षेत्रीय रूप में हेय-उपादेय होते हैं।

८४. भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विकास में जैन संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है। पुरा वैभव के रूप में जैन साहित्य, प्रतिमा, सिक्का आदि बहुत-सी वस्तुयें है।

८५. आजकल एक अजैन प्रतिमा निकल आये तो पूरे देश में हल्ला मच जाता है और यदि जैन प्रतिमा निकल जाये तो कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

८६. अधिकांश प्राचीन प्रतिमायें यक्ष, यक्षिणी, प्रातिहार्य, चिह्नों से युक्त मिलती है, जो अरिहन्त प्रतिमा की द्योतक है, वर्तमान में प्रातिहार्य विहीन प्रतिमा ज्यादा है। इसे भी पंथ से जोड़कर प्रतिमा-विज्ञान, अतिशय, मर्यादा को ही छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया जा रहा है जो दुर्भाग्यपूर्ण है।

८७. वर्तमान में जीव कर्माधीन है स्वाधीन नहीं।

८८. जैसे एक ही बगीचे में आम, चीकू, केले, सनतरे के वृक्ष होते हैं अपनी-अपनी योग्यतानुसार रस, गन्ध, वर्ण ग्रहण करते हैं व जो सारे प्रकृति में विद्यमान है उसी प्रकार जीव भी दुनियाँ में भ्रमण करता है, कर्म के परमाणु चारों ओर फैले हैं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ कर्म ग्रहण करते हैं।

८९. सुख का कारण अहिंसा है, अहिंसा आनन्द की पद्धति है, अहिंसा जगत की माता है, अहिंसा का जीवन में आना ही शुद्धता का जागरण है।

९०. प्रायः चित्त में आई अशुद्धि, उलझने, द्वन्द्व से पार जाने का माध्यम

प्रायश्चित है, जो गुरु के सम्मुख दोष अभिव्यक्ति कर आत्मा का शुद्धिकरण है।

९१. व्रत से खण्डित होकर भी प्रायश्चित लेकर उस व्रत में पुनः स्थापित करने का परम उपकार गुरु करते हैं वह पश्चाताप ही प्रायश्चित है, आत्मशोधन का साधन है।

९२. विजाति के घर भोजन, गर्भपात, हिंसक, पंगत में बैठकर खाना यह दोषकारी ही नहीं पापकारी भी है वह जैन पंक्ति में बैठने लायक नहीं है यह सारे शब्द वर्तमान के गृहस्थ, विद्वान् को जैन होने से ही वंचित कर रहा है। क्योंकि आज ऐसे शुद्ध घर का होना मुश्किल है क्योंकि व्यापार, स्वार्थ, संबंध इन दुर्गुणों को सहज ही घरों में प्रवेश दे दिया है।

९३. चिर-परिचित रूढ़ियों और चिर-परिचित विश्वासों को आघात पहुँचाने वाली हलचलों को हम देखना, सुनना नहीं चाहते हैं, हम ऐसी हलचलों को परम्परा विरुद्ध समझकर उनके प्रति आँख मीच (बंद) लेना उचित समझते हैं किन्तु ऐसा करने से काम नहीं चलता वह हलचल वह क्रान्ति हमें झकझोर रही है और विना होश में लाये नहीं छोड़ती क्योंकि जिनवाणी के जनक पुष्पदन्त-भूतबलि की की स्मृति ही हमारी संस्कृति की स्वीकृति है।

९४. मनुष्य को अपने बंधनों से बिछुड़ते हुये दुःख होता है इसलिये बहुत सी बातों को हम इसलिये नहीं छोड़ पाते कि वह एक परम्परा बन गई है जिसमें सत्य को स्वीकारने की क्षमता होती है वही परवशता से मुक्त होकर कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

९५. परम्परा में बहुत कुछ अच्छाई होती है पर जब वह बोझ बन जाती है जिसकी बजह से प्रगति अवरुद्ध हो जाती है जो उस जंजीर से छुटकारा पाना ही पंथवाद से मुक्त होना है।

९६. परिस्थितियों से जन्मी परम्परा कुछ समय तक ही सही है उसके बाद मनःस्थिति पूर्व स्थिति को यथास्थिति में लाये वही ज्ञानी है।

९७. सत्य को स्वीकारने में बड़ी बाधा अज्ञान नहीं अपितु ज्ञान का भ्रम है।

सम्पादकीय

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बडौत

विद्वत्संगोष्ठियाँ तत्त्वज्ञान के प्रसार-प्रचार का सशक्त माध्यम हैं। इसी कारण अनेक आचार्य और मुनिवर विद्वत्संगोष्ठियाँ कराने के लिये जैन समाज को प्रेरणा प्रदान करते हैं, उन्हीं में परमपूज्य पुष्पगिरि प्रणेता आचार्यश्री पुष्पदन्तसागर महाराज के परमशिष्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी संस्कार प्रेरक मुनिश्री सौरभसागर महाराज अपने प्रत्येक वर्षायोग में ज्ञान की प्रभावना हेतु विद्वत्संगोष्ठी कराने की समाज को प्रेरणा प्रदान करते हैं। मुनिश्री का २०१६ का वर्षायोग भारत की राजधानी दिल्ली के उपक्षेत्र रोहिणी सेक्टर ११ में हुआ। वर्षायोग में भक्ति और ज्ञान के अनेक आयोजन रखे गये उन्हीं में **'जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान'** इस विषय पर एक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी को आयोजित किया गया। संगोष्ठी में जैनधर्म और विज्ञान के अध्येता मनीषी सम्मिलित हुये।

'जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान' विषय पर संगोष्ठी दो हेतुओं से आयोजित की गई एक वर्तमान का युवा शास्त्रीय कथनों पर विश्वास करके सन्तुष्ट नहीं होना चाहता है क्योंकि वह तो विज्ञान की कसौटी पर परख करना चाहता है। दूसरा मुनिश्री ने निज अध्यवसाय से आधुनिक विज्ञान को जाना समझा और जैन विद्या के परिप्रेक्ष्य में तत्त्वज्ञान जो जनसामान्य के लिये समझाने में कारण है, उसको मुनिश्री सौरभसागर महाराज उपयोगी दिया। विद्वान् और समाज मुनिश्री द्वारा दी गई आलेखों की समीक्षायें और तात्त्विक प्रवचन से अत्यधिक लाभान्वित हुये।

मुनिश्री ने आलेखों की समीक्षा करते हुये कहा - यह सत्य है कि विज्ञान ने दिक् और काल पर विजय पा ली है और वैज्ञानिक तकनीक ने मनुष्य के हाथ में परमाणु की असीम शक्ति दी है। जिससे

भौतिक संसाधनों में मनुष्य सन्तुष्ट हो गया है किन्तु आत्मिकता और आत्मीयता के क्षेत्र में वह अत्यन्त विपथ हो गया है, उसकी महत्त्वाकांक्षा ने उसे तोड़कर रख दिया है।

डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है – मनुष्य जो बनना चाहता है और जो है, उसके बीच विनाशकारीअसन्तुलन है यही विरोध हमारी अशान्ति का कारण है। हम बात समझदार व्यक्तियों की तरह करते हैं पर व्यवहार पागलों की तरह करते हैं।

संगोष्ठी में विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य ने बाह्य पदार्थों को तो अन्त तक जान लिया है, परन्तु उसे अपने अन्तर का अपने आप का कोई पता नहीं है। वह अपने सामने ही दीन–हीन हो गया है। आत्मा का ज्ञान न होने के कारण वह बाहर शरण की तलाश में भटकता है, परन्तु उसे कहीं भी शरण नहीं मिलती है। जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि बाह्य संसार की कोई भी वस्तु धरा–धाम, धन–सम्पत्ति, स्त्री–पुत्र कोई भी हमारी शरण नहीं हो सकते हैं। धर्मात्मा मनुष्य आत्मा में शरण पा सकता है परन्तु आधुनिक मनुष्य कभी भी अपने आप में और धर्म में नही हैं, वह सदैव बाह्य जगत् में भटकता रहता है। पर की तलाश निरर्थक है, जो भी पर है वह सहारा नहीं हो सकता है एक मात्र आत्मा ही सहारा है। आत्मा सहज और संसार असहज है। सहज आत्मा की अनुभूति/ संवेदन के लिये जैन धर्म में सामायिक, ध्यान, प्रायश्चित, प्रतिक्रमण आदि उपाय बताये गये हैं। इन्हीं क्रियाओं को करने से मानव आत्मा के निकट पहुँचता है साधक तो साक्षात्कार करने में भी सफल हो जाता है। गृहस्थ उक्त उपायों द्वारा जीवन के द्वन्द्वों दुःखों से छुटकारा पाकर सहजता का अनुभव करता है। सुख का अनुभव करता है। इत्यादि जानकारी मुनिश्री सौरभसागर महाराज और संगोष्ठी में चालीस विद्वानों द्वारा समाज को दी गई। दिल्ली रोहिणी क्षेत्र की समाज और संगोष्ठी के काल में बाहर से आई हुई समाज ने संगोष्ठी से विशेष ज्ञान लाभ लिया। इसलिये संगोष्ठी आयोजक सेक्टर ११ रोहिणी की जैन

समाज ने संगोष्ठी की सुव्यवस्था की और विद्वानों का यथायोग्य सत्कार किया। विद्वानों की सर्वसुविधा व्यवस्था करने में संयोजक श्री पुष्पेन्द्र जैन, प्रधान श्री नरेन्द्र जैन गन्नौर वाले, सचिव श्री एन के जैन, श्री एम के जैन, श्री एम के जैन इंजीनियर, गौरव जैन आदि ने अहर्निश कार्य किया इनके और सम्पूर्ण रोहिणी समाज के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। रोहिणी सेक्टर-११ की व्यवस्थाओं को सभी विद्वानों ने सराहा।

परम पूज्य ज्ञानयोगी संस्कार प्रेरक मुनिश्री सौरभीसागर की तात्त्विक समीक्षाओं और सामायिक प्रवचनों ने विद्वानों का मन-मोह लिया। पूज्य श्री के वात्सल्य को पाकर भी हम सभी विद्वान् कृत्कृत्य हुये उनके प्रति आभार मानते हैं। समागत देश के मूर्धन्य हुये उनके प्रति आभार मानते हैं। समागत देश के मूर्धन्य विद्वानों का पधारना निश्चित ही संगोष्ठी की सफलता का निमित्त रहा है। सभी समागत विद्वानों के प्रति आदर भाव व्यक्त करता हूँ। जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान विषय पर आयोजित संगोष्ठी में मूर्धन्य विद्वानों के द्वारा पठित आलेखों का प्रकाशन दिली रोहिणी सेक्टर ११ के द्वारा प्रकाशन किया जाना महत्त्वपूर्ण है। मैं सभी के प्रति पुनः आभार व्यक्त कर अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ।

अध्यक्ष -
अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्
मण्डी, आनंदगंज, बडौत २५०६११
९८३७०४३२२१

जल शुद्धि और आधुनिक विज्ञान
(जैन परम्परा के सन्दर्भ में)

-डॉ. धर्मेन्द्र जैन, जयपुर

संसार में तीन रत्न है। १. जल, २. अन्न, ३. सुभाषित।

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते।।[1]

वस्तुतः प्राणी मात्र के लिये जल जीवन का आधार है। एक बार प्राणी अन्न के बिना तो रह सकता है किन्तु जल और वायु के बिना तो वह नहीं टिक सकता है। इसलिये अन्तरिक्ष यात्री ऊपर जाते समय ऑक्सीजन अपने साथ लेकर जाते हैं। ऊँचे-ऊँचे पर्वतों की चोटी पर चढ़ने वाले भी ऑक्सीजन साथ लेकर जाते हैं। इसी प्रकार जल भी जीवन के अस्तित्व के लिये एक महत्त्वपूर्ण तरल पदार्थ है। भोजन के साथ जल का विशेष महत्त्व सर्वत्र प्रसिद्ध है। एकेन्द्रिय वनस्पति जीव भी पानी के बिना नहीं रहता है। पेड़-पौधे जब छोटे होते हैं तब उन्हें लगातार पानी पिलाना पड़ता है अर्थात् जल सिञ्चन करना पड़ता है। वे ही पेड़-पौधे जब बड़े हो जाते हैं तब उनकी जड़े स्वतः पृथ्वी की आर्द्रता की ओर बढ़ती जाती है अर्थात् जलीय भाग की तरफ जाकर अपने लिये आवश्यक जलापूर्ति वे वनस्पति कर लेती है।

जैनदर्शन में जलकायिक जीव को पाँच स्थावर जीवों में से एक माना गया है। विज्ञान इसे मात्र एच२ओ के एक रसायन मानता है। यह गौरव की बात है कि जैनधर्म बहुत ही वैज्ञानिक है। जैनधर्म जल की एक बूँद में असंख्यात जीव मानता है। आधुनिक विज्ञान पानी की एक बूँद में ३६४५० जीव स्वीकारता है। यह ब्रिटानी युवक केप्टन स्वकोर्सबी ने गंगा जल के एक नमूने के निरीक्षण में की थी। यहाँ यह बात ध्यान में रखें कि यह संख्या अलग-अलग प्रकार के पानी के नमूनों में

अलग-अलग होगी। यह तो पुरानी बात आज और भी कई यन्त्र विकसित हो गये हैं। यदि आज नवीनतम सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से जाँच की जाये तो पानी की एक बूंद में लाखों-करोड़ों जीव पाये जा सकते हैं।

हमारे जैन मुनियों और ऋषियों ने अपने दिव्यज्ञान से खोज करके हजारों वर्षों पूर्व बताया था कि जल भी एक प्रकार का वैसा ही जीव है जैसा की वनस्पति (पेड़-पौधे) का जीव होता है। सर जगदीशचन्द्र बोस ने करीब १०० वर्ष पूर्व अपने यंत्रों द्वारा विज्ञान जगत को बताया था कि पेड़-पौधों में संवदेनायें होती है तथा वे एक प्रकार के जीव होते हैं तब से इन पर बहुत तीव्र गति से खोज होने लगी। सर बोस ने तो पत्थरों में भी जीव की कल्पना की थी लेकिन उन पर कोई प्रयोग करने के पहले ही उनका देहान्त हो गया था अत: पता नहीं है कि उन्होंने किस प्रकार के कोषाणुओं की उनमें कल्पना अपने मन में संजोयी थी। हो सकता है कि वह किसी भौतिक रवों का अविकसित कोषाणु रूप रहा है।

जैनशास्त्रों में जलजीव के बारे में काफी विस्तृत वर्णन और चिन्तन मिलता है। जैनग्रन्थों में कहा गया है कि पानी को छानकर उपयोग करना चाहिये। प्रवचन सारोत्रार में कहा है कि -

एगम्मि उदगविंदुम्मि जे जीवा जिणवरेहिं पण्णत्ता।
ते जइ सरिसवमित्त, जंबूदीवे न मयंति।।[२]

अर्थात् जल की एक बूंद में इतने सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं कि यदि वे सरसारें के दाने के बाराबर हो जावे तो जम्बूद्वीप में नहीं समायेंगे - ऐसा जिनदेव ने कहा है। मनुस्मृति में कहा है -

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम् वस्त्रपूतं पिबेत् जलम्।

पानी छानकर पीना चाहिये।

पं. आशाधरजी ने तो श्रावक के मूलगुणों में ही छानकर पानी पीने का विधान किया है - १. मद्यत्याग, २. मांसत्याग, ३. मधुत्याग, ४. रात्रिभोजनत्याग, ५. पाँच उदुम्बर फल त्याग, ५. देवदर्शन या पंचपरमेष्ठी का स्मरण, ७. जीवदया, ८. वस्त्र से छने जल का पान[३] आहारशुद्धि में

जो सोला चलता है – इसमें १६ बातें प्रमुख हैं – १. अहिंसा, २. प्रासुकता, ३. जलगालन, ४. शुद्धता, ५. करूणा, ६. सादगी या सात्त्विकता, ७. स्वच्छता, ८. निरामिषता (तीन मकार से रहित), ९. जमींकंद नहीं, १०. रात्रिभोजन (दिन में तैयार करें), ११. सड़ी–गली वस्तुयें नहीं, १२. स्वास्थ्यकर, १३. संतुलित, १४. चारित्रवृद्धिकर, १५. भेदविज्ञानयुक्त, १६. संयम को बढ़ाने वाला[४]। इन १६ में प्रासुकता और जलगालन का जलशुद्धि से पूर्णतः सम्बन्ध है। इन १६ को अन्य प्रकार से भी गिनाया है। १. द्रव्यशुद्धि – १. अन्नशुद्धि, २. जलशुद्धि, ३. अग्निशुद्धि, ४. कर्त्ताशुद्धि। २. क्षेत्रशुद्धि – १. प्रकाशशुद्धि, २. वायुशुद्धि, ३. स्थानशुद्धि, ४. परिवेशशुद्धि। ३. कालशुद्धि – १. ग्रहणकाल, २. शोककाल, ३. रात्रिकाल, प्रभावनाकाल। ४. भावशुद्धि – १. वात्सल्यभाव, २. करूणाभाव, ३. विनयभाव, ४. दानभाव[५]। दूसरे प्रकार की उक्त १६–सोला में भी दूसरी शुद्धि जलशुद्धि है। क्योंकि आहार का मूलभूत आधार जल है। जल एवं अन्य पदार्थों को प्रासुक करने के लिये जैनश्रावकाचारों में अनेक विधियाँ हैं –

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविललवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं सव्वं पासुयं भणियं।।[६]

अर्थात् पदार्थ को सुखाकर, पकाकर, गरम करने पर और नमक आदि से मिलाने पर, छिन्न–भिन्न करने प्रासुक होता है–जीव रहित हो जाता है।

अतः प्रासुक जल की मर्यादा १२ से लेकर २४ घंटे तक होती है। जब कि छने पानी की ४८ मिनिट मर्यादा होती है। जल में इश्चिकिशिया को लाई एवं क्लोस्ट्रीडियम नामक जीवाणु अधिसंख्य मात्रा में पाये जाते हैं। प्रासुक करने के पश्चात् ही यह निष्क्रिय हो पाते हैं। प्रासुकीकरण को वर्तमान विज्ञान के संदर्भ में पाश्चुरीकरण या पाश्चेराइजेशन प्रक्रिया के समकक्ष माना जा सकता है। पाश्चर नामक वैज्ञानिक ने अपने प्रयोग में पाया कि अगर दूध को कुछ समयावधि के लिये अधिक ताप पर रख दिया जावें तो वह फटता नहीं है एवं अधिक अवधि तक के लिये

उपयोग किया जा सकता है, उक्त प्रक्रिया वास्तव में जैन श्रावकों द्वारा प्राचीन काल से ही अपनाई जाती रही। जैन श्रावक दूध के अलावा पानी, फल, सब्जियों इत्यादि का भी प्रासुकीकरण करते हैं, जिससे इन वस्तुओं को एक निश्चित तापक्रम पर गर्म कर लिया जाता है। प्रासुकीकरण की क्रिया में पदार्थों में अवस्थित जीव निष्क्रिय हो जाते हैं एवं अन्य सूक्ष्म जीवों का प्रभाव भी नहीं हो पाता है। एक निश्चित अवधि तक ही इन प्रासुक वस्तुओं का सेवन किया जा सकता है। इसके पश्चात् इनमें पुनः जीवराशि पैदा हो जाती है।

जल की काया (शरीर) का वैज्ञानिक ढाँचा–इसकी वैज्ञानिकता को समझने के लिये पिछले वर्षों में पानी के अणुओं की बनावट का गहन अध्ययन किया गया है। पानी के आवेश धारी अणु पंचभुजी और षट्भुजी द्विआयामी ढाँचा नाने में सक्षम है। इसके अलावा पानी में धुली हुई हवा भी ऑक्सीजन मूलक (आयन) के रूप में पाई जाती है। इन मूलकों की मौजूदगी में पानी का पंचभुजी और षट्भुजी रवा जुड़कर एक त्रिआयामी ढाँचा बनाता है, जो कमरे के तापक्रम पर भी स्थायी रहता है। यह इकाई रूप आकार अपनी केन्द्रित ऊर्जा से सहजातिक अणुओं को आकर्षित करके १८–६० ईकाईओं का एक जालीनुमा, बेलनाकार (बलीबाल जैसा) कोषाणु बनाता है। इनकी अपनी जुड़ाव की शक्ति काफी मजबूत होती है। यह पाइपनुमा आकार करीब ०.१ क्यू (काफी सूक्ष्म) लम्बा होता है। यह पाईपनुमा नेनोट्यूब उबालने पर टूट जाती है। इस आकार में इसकी सभी ऊर्जा अल्पतम होती है।

यह ढाँचा कोषाणु अपनी विद्युत–ऊर्जा से लगातार समाविष्ट रहता है। फिर सोखी हुई हवा ऑक्सीजन के आयन/मूलक जो इस ट्यूब में प्रवेश कर दूसरी तरफ से बाहर निकल लाते हैं। इनका संचलन/परिवहन इतना आसानी से होता है, जैसे कि वे भारहीन फोटोन की तरह के कण हो। अपनी गति के द्वारा वे एक अलग प्रकार का विद्युत् ऊर्जा का क्षेत्र (होल्स क्षेत्र) पैदा करते रहते हैं। कोषाणु की ऊर्जा इन मूलकों को एक सक्रिय संतुलन में रखती है। अपने में संचित ऊर्जा की मांग

होने पर यह कोषाणु उसे उपलब्ध कराने में समर्थ होता है। हाल ही में कोरिया में एक शोध से ज्ञात हुआ है कि इन कोषाणुओं में स्मृति भी होती है। कुछ अन्य प्रयोगों से यह भी पाया है कि इन कोशिकाओं को प्रशिक्षित किया जा सकता है। तथा बाद में ये अपनी स्मृति को आवश्यकता होने पर काम में ले लेते हैं।

साधारण पीने के पानी या तो उबालने से या उसमें राख जैसे विजतीय तत्त्व घोलने से वो अचित्त बन जाता है। उबालने से पानी का शरीर टूट कर बिखर जाता है तथा उसमें घुली हुई हवा भी बाहर निकल जाती है। राख आदि के घोलने से पानी के शरीर के छिद्र बंद हो जाते हैं जिससे वह श्वास न ले पाने के कारण निर्जीव/अचित्त बन जाता है। पानी जब ठंडा हो जाता है तो उसमें हवा फिर से घुल जाती है तथा उसका शरीर भी वापिस जुड़कर उपयुक्त योनि बन जाता है। मौसम के अनुसार उबाला हुआ पानी कुछ घंटों बाद फिर से सचित्त बन सकता है। यानि निर्जीव अवस्था में बने रहने की एक न्यूनतम समय सीमा होती है। यह परिकल्पना बाद में विज्ञान के प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुकी है।

मुम्बई और अहमदाबाद में किये गये शोधों से यह भी ज्ञात हुआ है कि पानी को उबालने से या उसमें राख पाउडर घोलने से (घोनन पानी) पानी का आभामंडल बदल जाता है। आभामंडल के फोटो खींचने से (किर्लियन फोटोग्राफी) जीवित और निर्जीव पानी में स्पष्ट अंतर नजर आता है। आश्चर्य तब होता है जब ७–१० घंटों के बाद निर्जीव (उबाला पानी) पानी का अभामंडल फिर से सजीव पानी की तरह का आभामंडल बन जाता है। इस तथ्य से जैन शास्त्रों में दी गई मर्यादा (पानी की) सही सिद्ध होती है।

श्वेताम्बर परम्परा में साधुजन राख से प्रासुक पानी पीते हैं। वहाँ पर राख से मिश्रित जल प्रासुक माना जाता है। इस संबंध में जामनगर में गुजरात के वाटर सप्लाई और विरवरेज बोर्ड द्वारा जारी टेस्ट रिपोर्ट २४ अप्रैल २०१० के अनुसार १० लीटी पानी में ५० ग्राम गोबकर की राख घोलने से अच्छा अचित्त धोवन बन जाता है। २४ मिनिट बाद निधार

और छानकर उसे पीने लायक पाया गया। बैंगलोर के स्कूल में किये गये परीक्षणों में भी राख घुला पानी (कोलोइड) पूर्व के पानी से ज्यादा साफ और वेक्टीरिया विहीन पाया गया। ऐसा पानी पीने से शरीर में मूलकों की मात्रा कम हो जाती है। यानि यह डी आक्सीडेंट की तरह काम करता है। चूंकि यह क्षारीय जल होता है, इसलिये एसिडिटी की शिकायत (अम्लता) कम हो जाती है। अत: निथार और छानकर ऐसा पानी (राख वाला) पी सकते हैं।

मूलाचार और धवला टीका जैसे प्राचीन जैनग्रन्थों में जीव रहित किसी भी पदार्थ को प्रासुक कहा गया है। यथा –

पगदा असओ जम्हा तम्हादो दव्वदाचित्तं दव्वं पासुगमिदि।[७]

जीवरहित प्रासुक द्रव्य है।

पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा तं पासुअं अहवा जं णिखज्जं तं पासुअं।[८]

अर्थात् प्राणरहित प्रासकु है या जो निरवदा है वह प्रासुक है। अत: जल को गरम करके या अन्य कोई पदार्थ डालने पर वह प्रासुक हो जाता है। जिस पदार्थ के डालने से रंग, स्वाद तथा सुगंध ही जल की बदल जाये तब वह प्रासुक कहलाता है। फिटकरी या कूलकफल से भी जल शुद्ध किया जा सकता है। अत: कह सकते हैं कि छना हुआ पानी पीना जैनधर्म की आचार संहिता के अनुसार सर्वथा ठीक है एवं विज्ञान भी इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार करता है। जैसे – विज्ञान भी सुरक्षा हेतु किसी रसायन का उपयोग करता है।

वर्षा का जल भी परम्परानुसार उचित एवं श्रेष्ठ माना गया है। जैनाचार्यों ने वर्षाजल को प्रासुक कहा है।[९] नवीं शताब्दी में रचित कल्याणकारकम् ग्रन्थ में उग्रदित्याचार्य ने वर्षा जल को अमृत जल कहा है। यह जल कई रोगों का उपशमन करने वाला है। जैसे – वर्षा जल को हल्का गरम करके उपयोग किया जाये तो वह श्वासकाँस मेद (मोटापा), कफ, वात, आँव (पेचिस आदि), ज्वर रोगों को दूर करता है। मलशोधक एवं अग्निदीपन भी करता है।[१०] वर्षा जल का टीडीएस बहुत होता है।

इलेक्ट्रोलाईजर से यह पानी चेक करने पर स्वच्छ तड़ित शीतल सिद्ध हुआ है। केमिकल से चेक करने पर इसकी हाईनेस अत्यल्प निकलती है अतः आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में यह जल अत्यन्त पवित्र और शीतल सिद्ध हुआ है।

वैदिक वाङ्मय में भी जल को देवता माना गया है। वहाँ पर जल से शरीर के मल की शुद्धि होती है ऐसा कहा गया है।

इदमापः प्रवहत् यत् किंच दुरिसं मयि।[११]

जल माता के समान है। शुद्ध जल प्रवाहित हो ऐसी कामना भी है।

आपो हि हिष्ठा मयो भुवः/शुद्धा न आपस्तनवे क्षरन्तु।[१२]

इस प्रकार जल की शुद्धि जैनदर्शन की दृष्टि से, पर्यावरण की दृष्टि से वैदिक दृष्टि से, चिकित्सा की दृष्टि से मानव समाज के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक विज्ञान भी प्रयोग की कसौटी पर इसे स्वीकारता है।

सन्दर्भ सूची -

१. प्रस्तावना, संस्कृतसाहित्ये जलविज्ञानम्, पृष्ठ-१, लेखक- प्रो. श्रीधरमिश्र, प्रकाशक- जगदीशसंस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, संस्करण २०१०

२. श्रावकाचार संग्रह अनुशीलन-पृष्ठ-२८५, संपादक - डॉ. शेखरचन्द्र जैन, प्रकाशक-भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी, सांगानेर, जयपुर संस्करण-२००६

३. सागार धर्मामृत-३५-२

४. श्रावकाचार संग्रह अनुशीलन-पृष्ठ-२९२

५. श्रावकाचार संग्रह अनुशीलन-पृष्ठ-२९३

६. लाटीसंहिता ७/१७

७. मूलाचार-४८५ गाथा

८. धवलाटीका - ८/३,४१,८७/५

९. भावपाहुड गाथा १११ टीका

१०. कल्याणकारकम् - पृष्ठ ७२, अन्नपानविधिः, संपादक-श्रीवर्धमान

पार्श्वनाथ शास्त्री, नेमीचंद्र ग्रन्थमाला, कल्याण पावर प्रिटिंग प्रेस, सोलापुर, संस्करण–१९४०

११. ऋग्वेद/१.२३.२२

१२. ऋग्वेद

–डॉ. धर्मेन्द्र जैन
प्राकृत भाषा विकास अधिकारी
प्राकृत–अध्ययन–शोध–केन्द्र
राष्ट्रिय–संस्कृत–संस्थान
जयपुर–३०२०१८
email - dkprakrit@gmail.com
9461016260

जैन ग्रन्थों में वर्णित पूजा प्रक्रिया का वैज्ञानिक महत्त्व

-डॉ. सुमत कुमार जैन, जयपुर

मानव जीवन में अशान्ति, असत्य, हिंसा, तृष्णा, क्रोध आदि अंतरंग शत्रुओं का शमन करने के लिये अथवा सुसंस्कृत जीवन के विकास एवं मानसिक शुद्धि हेतु परमात्मा की पूजा, उपासना, स्तुति, प्रणतति आदि करना अति आवश्यक है। क्योंकि मानव गुणों को प्राप्त करने के लिये कभी भी परमात्मा की भक्ति, शिक्षित गुणी संतों की संगति और अच्छे कर्त्तव्य के बिना कोई भी मानव गुणों का विकास नहीं कर सकता है। एक सुभाषित में कहा हैं -

गुणा गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः, समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः।।[१]

अर्थात् गुणी संतों की संगति से मानव गुणी हो जाता है और स्वकीय गुणों की सुरक्षा करता है तथा व्यसनों, अज्ञानी, हिंसक पुरुषों की संगति या उपासना करने से मानव दोषी, दुराचारी बन जाता है, जैसे कि नदी का जल स्वभाव से मधुर हितकारी होता है, परन्तु क्षारजलपूर्ण सागर की संगति से वह मधुर जल भी अपेय हो जाता है। अतएव मानव को गुणवान् बनने के लिये पूज्य परमात्मा की पूजा-भक्ति आचार्य, उपाध्याय, गुरुजनों की संगति अत्यावश्यक है।

पूजा शब्द के अनेक पर्यायवाची मिलते हैं। अमरकोश में पूजा, नमस्या, अपचिति, सपर्या, अर्चा, अर्हणा हैं। इनके अतिरिक्त स्तवन, कीर्तन, भक्ति, श्रद्धा, आदर, उपासना, वन्दना, स्तुति, स्तोत्र, नुति, ध्यान, चिंतन, अर्चना, प्रणाम, नमोऽस्तु भी जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। 'पूजा' शब्द को परिभाषित करते हुये कहा है कि 'पूज्येषु गुणानुरागो भक्तिः' अथवा 'गुणेषु अनुरागो भक्तिः'[२] अर्थात् पूज्य पुरुषों के गुणों में

रुचि रूप परिणाम तथा उनके समान गुणों को प्राप्त करने की इच्छा करना पूजा या शक्ति कही जाती है।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु – इन पूज्य महापुरुषों के गुणों में श्रद्धापूर्वक आदरसत्कार की प्रवृत्ति को पूजा कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा पूज्य पुरुषों के गुणों का पूजन, गुणों का अर्चन–पूजन कहा जाता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी के अनुसार अहिरंत परमात्मा, आचार्य, उपाध्याय, साधु और उनके प्रवचनों में विशुद्ध भावपूर्वक अनुराग होना भक्ति या पूजा है।[३]

पूजा प्रक्रिया – पूजा प्रक्रिया से आशय पूजाविधि या पद्धति से है। शुद्ध मन, वचन तथा वस्त्र शोभित शरीर से, पंचपरमेष्ठी के गुणों का कीर्तन करते हुये, तन्मयता से प्रसन्न होकर जल, चन्दन आदि द्रव्यों के अर्पण करने का पुरुषार्थ होना पूजा का क्रियात्मक रूप है।[४]

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि सभी चरणानुयोग जैन ग्रन्थों में भक्ति–पूजन करने का कथन मिलता है। श्रावक को पूजन विधि में सर्वप्रथम स्नान करके शुद्ध धुले वस्त्रों को धारण करके अभिषेक पूर्वक अष्ट मंगल द्रव्य से पूजन करने की बात कही गई है।

सर्वप्रथम आचार्य यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ[५] में अष्टाह्निका पर्व के समय नन्दीश्वर द्वीप में देवगणों द्वारा जिन–प्रतिमाओं की पूजा विधि का वर्णन करते हुये वर्णित है कि इन्द्रादि देवगण अपने साथ पूजन सामग्री लेकर स्तुति गान करते हुये जिनालयों की तीन प्रदक्षिणा लगाकर मंदिरजी में प्रवेश करते हैं, वहाँ सर्वप्रथम सुगंधित जल से अभिषेक करते हैं, और फिर नैवेद्य, रत्नदीप, धूप, द्राक्षादि फलों को चढ़ाकर नृत्य, संगीत एवं जिनेन्द्र देव सम्बन्धी नाटक करते हैं।

वरांगचरित में वर्णित है कि राजा वरांग स्नानकर, शुद्ध सफेद वस्त्र धारण करके घर से ही द्रव्य सामग्री ले जाकर अभिषेक पूजा करते हैं। राजा परिवार जन के साथ जिनालय पहुँचकर जिनालय की तीन प्रदक्षिणा लगाते हैं। पश्चात् अभिषेक कर जिनबिम्ब के समक्ष छत्र, चमर

आदि अष्ट मंगल द्रव्य प्रदर्शित करते हुय पूज्य करते हैं। मंत्र वाचन करके जिनबिम्ब को अभिषेक पीठ से ले जाकर मूल वेदिका पर विराजमान करते हैं। उपस्थित सभी लोग जिनेन्द्र देव की स्तुति करते हैं और शेष का ग्रहण करते हैं।[६]

पूजन विधि के सम्बन्ध में प्राकृत भावसंग्रह में उल्लेख है कि प्रासुक जल से स्नान करके, शुद्ध वस्त्र धारण करें, फिर ईर्यापथ से जिनालय जायें। वहाँ पहुँचकर मन्त्र स्नान करें, सकलीकरण (शुद्धि करें), सरसों को सर्वदिशागत विघ्नो के निवारणार्थ क्षेपण करें। पश्चात् इन्द्र के रूप में कल्पना कर अंगन्यास (चन्दन तिलक) करें। अभिषेक पीठ पर प्रतिमा लाकर स्थापित करें, चारों कोनों में जल से कलश स्थापित करें, दशों दिशाओं में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों को आवाह्न करें। तत्पश्चात् सिद्धचक्र लिखें अर्थात् १६ कमल पत्रों को बनाकर मध्यकणिका पर बिन्दु और कला सहित 'अर्हं' लिखकर 'ओम्' से वेष्टित करें। इस प्रकार सिद्धचक्र यंत्र बनाकर, फिर उस यन्त्र की अष्ट द्रव्य से पूजन करके की बात लिखी है। प्रतिमा को मूल पीठ पर ले जाकर स्थापित करना यही विसर्जन है।[७]

पूजन प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन यशस्तिलक में उपलब्ध होता है। श्रावक प्रतिमा स्थापित कर अभिषेक पूजन, स्तवन आदि ६ विधि करें। वे छह विधि हैं – प्रस्तावना, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजा का फल।

१. प्रस्तावना – हे भगवन्! आप त्रिलोक पूज्य हैं, आप मोक्ष रूपी अमृत के पान में निमग्न है, काम-विकार से दूर हैं, अतः आपका स्नान (अभिषेक) क्या कोई कर सकता है? अर्थात् आपको इससे कोई प्रयोजन नहीं, फिर भी मैं पुण्य संचय हेतु अभिषेक करता हूँ अर्थात् अभिषेक के पूर्व मन, वचन, काय की शुद्धि एवं द्रव्य आदि की तैयारी करना प्रस्तावना है। पूज्य मुनि उपाध्यायश्री निर्भयसागरजी ने इसे वर्तमान पूजा पद्धति में प्रचलित विनयपाठ कहा है।[८] इसमें पूज्य के स्वरूप का गुणानुवाद एवं पूजक की लघुता मुख्य रूप से वर्णित होती है।

२. पुराकर्म – जिस स्थान पर जिनबिम्ब स्थापित करके अभिषेक करना हो उस स्थान की अग्नि, जल आदि से शुद्धि करना और अभिषेक पीठ (वेदी) के चारों कोनों पर क्षीरसमुद्र का जल है, ऐसा मानकर शुद्ध प्रासुक जल से भरके स्वस्तिक बने कलशों को स्थापित करना पुराकर्म है।

३. स्थापना – हे भगवन्! आप स्वभाव से अपने में स्थित हैं और ऊर्ध्वलोक के ऊपरी भाग में विराजमान हैं, फिर भी मैं यहाँ श्री ह्रीं बीज अक्षर लिखे अभिषेक पीठ पर जिन प्रतिमा को स्थापित करता हूँ, यही स्थापना है।

४. सन्निधापन – जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्र देव है, मैं साक्षात् इन्द्र हूँ, इस कलश में क्षीर-समुद्र का जल है, यह सिंहासन सुमेरु पर्वत या गन्धकुटी है, ऐसा मानकर जल की धारा एवं पूजन करने के लिये समीप्यपना प्राप्त करना सन्निधापन या सन्निधिकरण है।

५. पूजा – चारों कलशों से अभिषेक करके गन्धोदक लेकर और बिम्ब का प्रक्षालन करके, वहीं सम्मुख स्थापित करने के उपरान्त जल, चन्दन आदि अष्ट मंगल द्रव्यों को अर्पित करते हुये पूजना। छत्र, चमर अर्पित करना। आरती उतारना, नृत्यगान और गुणानुवाद सहित विशुद्ध परिणामों से भक्ति आदि करना पूजा है।

६. पूजा-फल – जिस बिम्ब के पास खड़े होकर प्रार्थना करना कि हे देव! मेरा मन आपके चरणों की भक्ति में सदा लगा रहे, सब प्राणियों में मैत्रीभाव हो, शास्त्रों का अभ्यास हो, गुणीजनों में प्रमोदभाव बना रहे, समाधिमरण हो और अन्त में मोक्षप्राप्ति हो, इत्यादि रूप से पूजन के उपरान्त भावना करना ही पूजन का फल है। पूजन के पूर्व जिन दिक्पाल आदि देवों की पूजा की निर्विघ्नता एवं शान्ति के लिये आहूत किया था, उनसे जाने की कहना और प्रतिमा को मूल वेदी पर स्थापित करके क्षमा याचना करना, यही पूजन का विर्सजन है। इसके पश्चात् स्वाध्याय, जप आदि करके घर जाना चाहिये।

७. पूजा की वैज्ञानिकता – पूजन प्रक्रिया में सर्वप्रथम श्रावक को स्नान

कर शुद्ध धुले वस्त्रों के बारे में कहा है। इसके पीछे वैज्ञानिकता यह है कि मंदिर पवित्रता के प्रतीक हैं। अपवित्र वस्तुओं के सम्पर्क से उनमें अपवित्रता संभव है। अतः सम्पूर्ण शरीर शुद्धि के साथ मंदिर में प्रवेश करना चाहिये। श्रावक के लिये यह भी कहा है कि नंगे पैर चलकर जाये। नंगे पैर चलने से एक्यूप्रेशर चिकित्सा हो जाती है। नंगे पाँव चलने वाला सहज ही इस प्रक्रिया का प्रयास कर लेता है। ऊबड़-खाबड़, कंकर-पत्थर और सामान्य जमीन पर चलने से तलुवों की पर्याप्त मसाज हो जायेगी। पूरा शरीर क्रियान्वित हो जाता है।

प्रत्येक गृहस्थ अपने घर से नहा-धोकर आने के बाद भी मंदिर के बाहर हाथ-पैर धोये। अगर कुछ खाया-पिया हो तो मुखशुद्धि करें। ताकि शरीर के माध्यम से अपवित्र कण मंदिर में न पहुँच जाए। रास्ते में बहुत-सी शारीरिक अपवित्रता संभव है। जैसे - किसी अपवित्र व्यक्ति से छू गये, किसी दुराचार आदि से स्पर्श हो गया, तो पुनः शरीर शुद्धि करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि छूने मात्र से वस्तु या व्यक्ति प्रभावित हो सकता है।

रेकी चिकित्सा में कुछ नहीं होता, केवल स्पर्श होता है। शरीर के कुछ अंगों का और व्यक्ति स्वस्थ्य हो जाता है। अशुद्ध अशुभ आभामण्डल वाले व्यक्ति की अशुभ अणुवर्गणायें प्रभावित करती है। अतः शुद्धि करना मन और मंदिर की पवित्रता बनाये रखने के लिये आवश्यक है।

दूसरी बात पूजन में शुद्ध वस्त्रों को पहनना चाहिये। वस्त्रों की शुद्धता के साथ रंग कौन-सा हो? वस्त्र सफेद, केशरिया या पीला होना चाहिये। क्योंकि रंगों से व्यक्तित्व परिवर्तन संभव है।

सफेद रंग के बारे में कहा है कि - सफेद रंग विकार रहितता, वीतरागता, निर्मलता, शांति, क्षमा, संतोष, त्याग और परिष्कृत बोध का प्रतीक है। जैनदर्शन में इसे शुक्ल लेश्या कहते हैं। श्वेत वस्त्र पहनने से इस प्रकार के गुण आत्मा में प्रगट होते हैं। इसलिये जैन श्रावक पूजा के लिये सफेद वस्त्रों का उपयोग करते हैं। जिनसे उनके गुण विकसित हो।

सदाचरण भी ऐसे लोगों में पाया जाता है। कुछ अपवाद भ्रष्ट नेताओं को छोड़कर अधिकांश श्वेत वस्त्रधारी सदाचारी, ज्ञानी और मृदु स्वभावी होते हैं।

पीला रंग प्रीति, सहिष्णुता, वात्सल्य, समर्पण और सरलता का प्रतीक है। पीलारंग कृमिराग के रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थात् जैसे हल्दी का रंग धूप में कुछ समय बाद उड़ जाता है, वैसे ही संसार से विषय कषायों के प्रति राग जल्दी छूट जाये, इसलिये पीला रंग रखा गया है। दूसरी बात यह है कि शुक्ल, पीत, पद्म – ये तीन शुभ लेश्यायें हैं। कृष्ण, नील और कापोत – ये तीन अशुभ लेश्यायें है। पीत लेश्या शुभ लेश्या है – जो संसार से मुक्त कराने वाले विचारों को देती है।

नाड़ी तंत्र की दुर्बलता को हटाने के लिये पीले रंग की अवधारणा बहुत लाभदायक है। जुकाम और जीव की स्वस्थता के लिये पीतवर्ण का ध्यान करना चाहिये। पीतवर्ण में आचार्य परमेष्ठी का ध्यान करने से वात्सल्य, सरलता और सहजता की वृद्धि हाती है।[९]

पीले वस्त्रों की तरह पपीता जैसे फल भी लीवर एवं अन्य बीमारियों में लाभप्रद है। सहज–भक्ति के प्रतीक पीत वस्त्र पहनकर श्रावकों को पूजन भक्ति करना चाहिये।

इस तरह मूर्तिदर्शन, तिलक लगाना, पूजन के अष्टद्रव्य, आरती करना और घंटा की नाद ध्वनि आदि में भी उत्कृष्ट वैज्ञानिकता उपलब्ध हेाती है, जिन्हें यथायोग्य जानना चाहिये।

पूजन प्रक्रिया में आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण से लेकर शांतिपाठ विसर्जन तक अधिकांश क्रियायें **प्राणिक हीलिंग चिकित्सा पद्धति** का ही एक रूप है। पूजन में बनाई जाने वाली मुद्रायें योग के अन्तर्गत शरीर को लाभकारी एवं ऊर्जावर्धन होती है।

पूजन के आह्वानन आदि को इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे हमने किसी मेहमान को आमंत्रित किया है, फिर उसे कुर्सी आदि पर बैठाया, फिर स्वयं उसके बैठे और चर्चायें हुई, उसी प्रकार अरहंत देव, सिद्ध प्रभु या देव–शास्त्र–गुरु के सन्दर्भ में आह्वानन आदि को

जानना चाहिये। चूँकि भगवान मोक्ष चले गये, वे आपके ठोना पर बैठने के लिये आने वाले नहीं हैं और जो वेदी पर विराजमान हैं, वे भी आपके ठोने पर नहीं बैठेंगे। यह तो संकल्प शक्ति के विस्तार, पूज्यों के प्रति सम्मान और सशक्त शुभ भावों की जागृति के लिये की जाने वाली क्रियायें हैं।

पूजन के आठ द्रव्यों का भी महत्त्व है। **जल**– पवित्रता, निर्मलता, और प्राण शक्ति का प्रतीक है। **चंदन**– शीतलता, निर्विषता और सुगंधि जैसे गुणों का द्योतक है। **अक्षत** – जो क्षत अर्थात् टूटे–कूटे न हो, वे अक्षत। अक्षत श्वेत, सुंदर और मन–मोहक होते हैं। **पुष्प** – अत्यंत कोमल, मृदुता के प्रतीक होते हैं। **नैवेद्य** – तृप्ति का प्रतीक होते हैं। दीप– अज्ञानरूपी अंधकार के नाश का प्रतीक है और ज्योति विधायकता का कारण है। **धूप** – वातावरण को शुद्ध, सुगंधित और जीवाणु रहित बना देती है। **फल** – परिणाम प्रदायक, शुभकृति, तृप्तिकारक और मुक्ति के प्रतीक होते हैं।

प्रमुखत: इन द्रव्यों को चढ़ाने से तात्पर्य अपने भावों को स्वच्छ एवं प्रज्जवलित करना है। विना द्रव्य के पूर्ण भाव देव की ओर न जा सकेंगे, अत: द्रव्य के साथ–साथ संगीत, गीत भी पूजा में जोड़ देते हैं। ताकि पूर्ण संकल्प जाग सके, अंदर की विद्युत् उछलने लगे।

हमारी शक्तियों के और ऊर्जाओं के विकास के लिये जितना सशक्त और सहज साधन मन का संकल्प है, उतना अन्य नहीं है। शांतिपाठ में विश्वशांति की कामना की जाती है। शांति के लिये संकल्प किये जाते हैं। क्षमाचायना की जाती है, जो अदृश्य शक्तियाँ, देवी–देवता आदि पधारें हैं, उन्हें आराध्य की आराधनापूर्वक आराधक या साधक बहुत–सी तैजस वर्गणाओं को विद्युत् को अथवा बिजली को प्राप्त कर लेता है।

निष्कर्ष रूप में कहा सकता है कि तिल, पूजन, जिनबिम्ब दर्शन, आरती आदि अठारह दोष रहित सच्चे देव की करने से एक अद्वितीय ऊर्जा का संचार होता है, वह विज्ञान ही कर सकता है। इस

ऊर्जा से श्रावक का मन प्रमुदित हो जाता है। ये सभी इन्वर्टर की तरह जैसा कार्य करते हैं। जिससे चार्ज होकर वह निरनतर चलता रहता है।

सन्दर्भ-सूची -

१. हितोपदेश, मित्रलाभ, सम्पादक - विश्वनाथ झा, मोतीलाल वनारसी दास दिल्ली, १९६४, पृष्ठ २२

२. दि. जैन पूजा संग्रह, सम्पादक- राजकुमार शास्त्री, इन्दौर १९५८, प्राक्कथन, पृ. २४

३. अर्हदाचार्य- बहुश्रुतेषु प्रवचनेषु च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, अध्याय-६ सूत्र-२४ वृत्ति।

४. जैन पूजा काव्य , एक चिन्तन, लेखक - डॉ. दयाचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००३, पृ. २६

५. तिलोयपण्णत्ति, यतिवृषभाचार्य, जीवराजग्रन्थमाला, सोलापुर, १९४३

६. वरांगचरित, आ. जटासिंहनन्दि, माणिकचन्द्र, दि. जैन ग्रन्थालय बम्बई, १९३८, सर्ग-२३/६३-७२

७. प्राभृत भावसंग्रह, श्रीदेवसेन सूरि,/७७-११९

८. पूजन का वैज्ञानिक अनुशीलन, मुनि उपाध्याय निर्भयसागर, निर्भय निर्ग्रन्थ वाणी प्रकाशन, नागबोई दिल्ली, २०१२ पृ.१४१

९. जैनाचार विज्ञान, आ. सुनीलसागर, सम्पादक- डॉ. अनुपम जैन, जैन संस्कृति शोध संस्थान इन्दौर,२००८ पृ.२१

आधारभूत पुस्तक -

१. पूजन का वैज्ञानिक अनुशीलन, मुनि उपाध्याय निर्भयसागर, निर्ग्रन्थ वाणी प्रकाशन, नागलोई, दिल्ली-२०१२

२. जैनाचार विज्ञान, आ. सुनीलसागर, सम्पादक- डॉ. अनुपम जैन, जैन संस्कृति शोध संस्थान इन्दौर,२००८

३. जैन पूजा काव्य , एक चिन्तन, लेखक - डॉ. दयाचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००३

जैन कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान

-डॉ. उज्ज्वला जैन, औरंगाबाद

यह विशाल जगत् विविधताओं का केन्द्र है तथा अपना सम्पूर्ण जीवन विषमताओं से भरा हुआ है। इस जगत् में कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई निर्धन, कोई धनवान्, कोई ऊँच, कोई नीच, कोई पण्डित, कोई मूर्ख, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई दुर्बल, कोई बलवान्, कोई उन्मत्त, कोई विद्वान्, कहीं जीवन, कहीं मरण, कोई बड़ा, कोई छोटा आदि अनेक विविधतायें पायी जाती है। हमारा जीवन भी आशा-निराशा, सुख-दु:ख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता, हर्ष-विषाद, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि अनेक परिस्थितियों से गुजर रहा है। जीवन में कही समरूपता नहीं है। जगत् की इस विविधता और जीवन की विषमता का कोई न कोई तो हेतु होना ही चाहिये। वह हेतु है 'कर्म'। कर्म ही जगत् की विविधता और जीवन की विषमता का जनक है।

कर्म का स्वरूप - 'जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है।' सामान्यत: कर्म सिद्धान्त का यही अभिप्राय है। कर्म को सभी भारतीय दर्शन स्वीकारते हैं सिर्फ चार्वाक को छोड़कर, क्योंकि वह तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारता है। इस सिद्धान्त में एक मत होते हुये भी कर्म के स्वरूप और उसके फल देने के सम्बन्ध में सबकी अपनी-अपनी मान्यतायें हैं।

'कर्म' का शाब्दिक अर्थ 'कार्य', प्रवृत्ति अथवा क्रिया होता है, अर्थात् जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे - हँसना, रोना, चलना, दौड़ना, खाना, पीना इत्यादि।[१] व्यवहार में कामधन्धे या व्यवसाय को 'कर्म' कहा जाता है। कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं। स्मृतियों में चार वर्णों और चार आश्रमों के योग्य कर्त्तव्यों

को कर्म कहा गया है। पौराणिक लोग व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म मानते हैं।[२] वैय्याकरण, जो कर्त्ता के लिये इष्ट हो उसे कर्म मानते हैं। जैसे कि –

कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म।[३]

न्यायशास्त्र में भी कहा गया है –

उत्क्षेपणमवक्षेपण-माकुंचन-प्रसारणं गमनमिति कर्मणि।[४]

अर्थात् उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिये 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। योग-दर्शन में संस्कार को 'अपूर्व वासना' अथवा 'कर्म' कहा जाता है। बौद्धदर्शन में 'कर्म' 'वासना रूप' है। जैन-दर्शन में कर्म विषयक मान्यता इन सबसे पृथक् है। जैन सिद्धान्त में जो कर्म सिद्धान्त का विवेचन मिलता है वह अत्यन्त विशद तथा अर्थपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म का अर्थ कायिक क्रियाकाण्डों एवं अन्य प्रवृत्तियों से नही है। न ही बौद्धों और वैशेषिकों की तरह संस्कार मात्र है, अपितु एक पृथक् सत्ताभूत पदार्थ के रूप में है।

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप – जैनदर्शन में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड माना गया है। तदनुसार, यह लोक तेईस प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से व्याप्त हैं। उनमें से कुछ पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणत होते हैं, उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं। कुछ शरीर रूप में परिणत होते हैं वे नोकर्म वर्गणा कहते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से इन्हें ग्रहण करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है, जब जीव के साथ कर्म सम्बद्ध हो तथा जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होते हैं, जब मन, वचन या काय की प्रवृत्ति हो। इस प्रकार कर्म से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से कर्म की परम्परा अनादि से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्य कारण सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुये पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को 'द्रव्यकर्म' तथा रागद्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को 'भावकर्म' कहा गया है।[५] द्रव्यकर्म और भाव कर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध वृक्ष और

बीज के समान अनादि है।

जगत् की विविधता का कारण उक्त द्रव्यकर्म ही है, तथा राग-द्वेषादि मनोविकार रूप भावकर्म ही जीवन में विषमता उत्पन्न करते हैं। अमूर्त का मूर्त के साथ बन्ध – जैनदर्शन में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नहीं माना गया है। उसे अनादि बन्धनबद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बन्ध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता है, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इसी कारण अनादि बन्धनबद्धता होने से उसका मूर्त कर्मों के साथ बन्ध हो जाता है।[६]

जिस प्रकार घी मूलतः दूध में उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के बाद उसे पुनः दूध रूप में परिणत करना असम्भव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण मूलतः पाषाण में पाया जाता है, परन्तु एक बार पाषाण से पृथक् होकर स्वर्ण बन जाने पर उसे उस प्रकार की किट्टिमा के साथ मिला पाना असम्भव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलतः कर्मबद्ध (सशरीरी) पाया जाता रहा है, परन्तु एक बार कर्मों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुनः इसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो पाना असम्भव है। जीव मूलतः अमूर्तिक या कर्मरहित नहीं है, बल्कि कर्मों से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण वह मूलतः अमूर्तिक न होकर, कथञ्चित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मों के साथ बन्ध हो जाना, विरोध को प्राप्त नहीं होता है। हाँ, एक बार मुक्त हो जाने पर अवश्य वह सर्वथा अमूर्ति हो जाता है और तब कर्म के साथ उसके बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

संसारी जीव का कर्म के साथ अनादि सम्बन्ध – जैसे स्वर्ण-पाषाण को खदान से निकालने पर वह कालिमा और किट्टिमा से संयुक्त विकृति-रूप होता है। उसे रासायनिक प्रयोगों से पृथक् कर शुद्ध किया जाता है, उसी तरह संसारी जीवों का कर्मों से अनादिसम्बन्ध है। जैन दर्शन के अनुसार संसार में रहने वाला प्रत्येक जीव कर्मों से बँधा हुआ है। साधना

और तपश्चर्या के बल पर कर्मों को अलग कर आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। जीव कभी शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि वह शुद्ध या तो फिर उसके अशुद्ध होने का कोई कारण ही नहीं बनता है।

यदि एक बार शुद्ध होकर भी वह अशुद्ध होता है, तब तो मुक्ति के उपाय की बात ही निरर्थक हो जाती है।

इसी बात का समाधान करते हुये जैनाचार्यों ने कहा है कि 'जीव और कर्म का अनादि से सम्बन्ध है। इन कर्मों के कारण ही संसार की नाना योनियों में भटकता हुआ यह जीव सदा से दु:खों का भार उठाता आ रहा है।' कर्मबन्ध और संसार परिभ्रमण को स्पष्ट करते हुये आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने अपने 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में कहा है –

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सु गदि।।
गदिमधिगदस्य देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो दु रागो व दोसो वा।।
जायदि जीवस्सेवं भावं संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अणदि णिहणो सणिहणो वा।।[७]

संसार में जितने भी जीव है, उनमें राग–द्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से कर्म बँधते हैं। कर्मों से चार गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने शरीर मिलता है तथा शरीर में इन्द्रियाँ होती है, इनमें विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग–द्वेष होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्र में भ्रमण करते हुये जीव के भावों से कर्मों का बन्ध तथा कर्म–बन्ध से जीव के भाव, सन्तति की अपेक्षा अनादि से चला आ रहा है। यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनन्त है तथा भव्य जीवों की अपेक्षा अनादिशांत।

अनादि का अन्त किस प्रकार? – यह कर्मचक्र राग–द्वेष के निमित्त से घड़ी यन्त्र की भाँति सतत् चलता रहता है तथा जब तक राग–द्वेष और मोह के वेग में कमी नहीं आती है तब तक यह कर्मचक्र निर्बाध रूप से

चलता रहता है। राग-द्वेष के अभाव में क्रियायें कर्मबन्ध नहीं कराती। इस बात को स्पष्ट करते हुये आचार्यश्री कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' में कहा है कि कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्त कर धूलपूर्ण स्थान में जाकर शस्त्र संचालन करता है, और ताड़, केला, बाँस आदि के वृक्षों का छेदन करता है, उस समय वह धूल उड़कर उसके शरीर से चिपक जाती है। वस्तुतः देखा जाये तो उस व्यक्ति का शस्त्र संचालन शरीर में धूल चिपकाने का सही कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप है, जिससे धूल का सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि जब व्यक्ति बिना तेल लगाये पूर्वोक्त क्रियायें करता है तो धूल नहीं लगती। इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तेल से लिप्त आत्मा में कर्मरज आकर चिपकती है और आत्मा को मलिन बनाकर इतना पराधीन कर देती है कि अनंत-शक्ति सम्पन्न जीवात्मा, कठपुतली की तरह, कर्मों के इशारे पर नाचा करता है।[८] कहा भी है -

जीवरू पुद्गल नाचें यामें कर्म उपाधि है।[९]

जीव और कर्म के सम्बन्ध को सन्तति की अपेक्षा अनादि मानते हुये भी पर्याय की दृष्टि से सादि-सम्बन्ध माना गया है। बीज और वृक्ष के सम्बन्ध पर दृष्टि डालें, तो संतति की अपेक्षा उनका कारण-कार्य भाव अनादि होगा। जैसे- अपने सामने लगे आम के वृक्ष का कारण हम उस बीज को कहेंगे, यदि हमारी दृष्टि प्रतिनियत आम के पेड़ तक ही जाती है तो हम उसे उस बीज से उत्पन्न कहकर सादि-सम्बन्ध सूचित करेंगे। किन्तु इस बीज के उत्पादक अन्य वृक्ष तथा अन्य वृक्ष के जनक अन्य बीज की परम्परा पर दृष्टि डालें तो इस दृष्टि से यह सम्बन्ध अनादि मानना होगा। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जो अनादि है उसका अन्त नहीं हो सकता, किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है, यह कोई अनिवार्य नहीं है कि अनादि वस्तु अंत ही है। वह अनंत भी हो सकती है तथा विरोधी कारण के आ जाने पर अनंत होने वाले सम्बन्ध का मूलोच्छेद भी किया जा सकता है, कहा भी है -

दग्धे बीजे यथात्यन्ते प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।

कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।[१०]

अर्थात् बीज के जल जाने पर पुनः नवीन वृक्ष के निमित्त बनने वाला अंकुर उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म हो जाने पर भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार बीज और वृक्ष की सन्तति की तरह जीव और कर्मों का परस्पर निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव के अशुद्ध परिणामों के निमित्त से पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप परिणत हो जाती हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव के अशुद्ध परिणाम होते हैं। फिर भी जीव कर्मरूप नहीं होता है तथा कर्म जीवरूप नहीं होता है। दोनों के निमित्त से संसारचक्र चलता रहता है।[११]

कैसे बँधते हैं कर्म? – जैनदर्शन के अनुसार लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ कर्म योग्य पुद्गल परमाणु न हो। जीव के मन, वचन और काय के निमित्त से अर्थात् जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण कर्मयोग्य परमाणु चारों ओर से आकृष्ट हो जाते हैं तथा कषायों के कारण जीवात्मा से चिपक जाते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध के दो ही कारण माने गये हैं – योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृति को योग कहते हैं तथा क्रोधादिक–विकार कषाय के अन्तर्गत हैं। वैसे कषायों के अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु स्थूल रूप से दो भेद किये गये हैं – राग और द्वेष। राग–द्वेष युक्त शारीरिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण है। वैसे तो सभी क्रियायें कर्मोपार्जन का हेतु बनती हैं, किन्तु जो क्रियायें कषाययुक्त होती हैं उनसे होने वाला बन्ध बलवान् होता है, जबकि कषायरहित क्रियाओं से होने वाला बन्ध निर्बल और अल्पायु होता है। इसे नष्ट करने में अल्प शक्ति एवं अल्प समय लगता है। इस प्रकार योग एवं कषाय कर्मबन्ध के प्रमुख कारण है।

कर्म के भेद – जैन कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से कर्म की आठ प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणियों को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। वे हैं – १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६.

नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।[१२]

इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय ये चार कर्म घातिया है, क्योंकि इनसे आत्मा के गुणों का घात होता है। शेष चार कर्म अघातिया हैं, क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करते हैं, बल्कि आत्मा को एक ऐसा रूप प्रदान करते हैं जो उसका निजी नहीं हैं, अपितु वैभाविक है।

ज्ञानावरण कर्म से आत्मा के ज्ञान गुण का घात होता है। दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन गुण का घात करता है। मोहनीय कर्म जीव के सम्यक् श्रद्धा और चरित्र गुण को नष्ट करता है। अन्तराय कर्म से जीव का वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है। वेदनीय कर्म जीव को सुख-दु:ख का वेदन/अनुभव कराता है। आयुकर्म से आत्मा को नरक आदि गतियों की प्राप्ति होती है। नाम कर्म के कारण जीव को चित्र-विचित्र शरीर और गतियाँ मिलती हैं तथा गोत्र कर्म प्राणियों में उच्चत्व और नीचत्व का कारण है। इन आठ कर्मों के कार्यों को दर्शाने के लिये आठ उदाहरण दिये गये है।[१३]

'ज्ञानावरणी' कर्म का कार्य कपड़े की पट्टी की तरह है। जिस प्रकार आँख पर बँधी पट्टी दृष्टि की प्रतिबन्धक है, वैसे ही **ज्ञानावरण-कर्म** ज्ञानगुण को प्रकट नहीं होने देता। **दर्शनावरणी कर्म** प्रतिहारी की तरह है। जिस प्रकार द्वारपालों की सहमति के बिना किसी महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म जीव को अनंत दर्शन करने से रोकता है। **'वेदनीय' कर्म** तलवार की धार पर लगे शहद के स्वाद की तरह होता है, जो एक क्षण को सुख देता है, पर उसका परिणाम दु:ख होता है। **'मोहनीय' कर्म** मद्य की तरह है। जिस प्रकार मद्य के नशे में व्यक्ति को अपने हित-अहित का विचार नहीं रहता है तथा वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार किये बिना कुछ भी आचरण करता है, उसी प्रकार **मोहनीय कर्म** भी जीव को विवेक-शून्य कर उसकी आचार और विचार शक्ति को विकारी बना देता है। **'आयु'** कर्म खूँटे की तरह है। जिस तरह खूँटे से बँधा पशु उसके चारों ओर ही

घूमता है, वैसे ही आयु कर्म से बँधा जीव उसका उल्लंघन नहीं कर सकता है। **'नाम' कर्म** चित्रकार की तरह है। जिस प्रकार चित्रकार छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे अनेक प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है, उसी प्रकार नाम कर्म जीव के चित्र-विचित्र शरीर का निर्माण करता है। **'गोत्र' कर्म** कुम्हार की तरह है। जिस प्रकार कुम्हार छोटे-बड़े बर्तनों का निर्माण करता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म जीव को उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराता है। **'अन्तराय' कर्म** भण्डारी की तरह है। जिस प्रकार भण्डारी की सहमति के बिना राजकोष से धन नहीं निकाला जा सकता है उसी प्रकार अन्तराय कर्म जीव की अनंत शक्ति का प्रच्छादक है।

इस प्रकार ये आठ कर्म के मूल भेद हैं, किन्तु उनके प्रभेद (उत्तर प्रकृतियाँ)१४८ हो जाती है।

कर्मों की विविध अवस्थायें - जैनकर्म सिद्धान्त नियतिवादी नहीं है और स्वच्छन्दतावादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म के द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती। साथ ही साथ जीव का स्वातन्त्र्य कर्मों की दशाओं में किसी भी प्रकार का सुधार करने में सर्वथा असमर्थ हो जाये। कर्मबन्ध के पश्चात् उसके फलभोग तक कर्मों की दशाओं में बहुत कुछ परिवर्तन सम्भव है। यह सब जीव की आन्तरिक पवित्रता और पुरुषार्थ पर निर्भर है।

जीव के शुभ-अशुभ भावों के आश्रय से उत्पन्न होने वाली कर्मों की इन अवस्थाओं को जैन आगम में 'करण' शब्द से जाना जाता है। करण दस होते हैं, जो कर्मों के विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन चित्र-सा करते हैं। करण दस हैं।[१४]

१. बंध - अ) 'बंधो णाम दुभाव परिहारेण एयत्तावत्तो' द्वित्व का त्याग करके एकत्व की प्राप्ति का नाम बंध है।

ब) पुद्गल द्रव्य का कर्म रूप होकर आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेष सम्बन्ध होना बंध है। कर्मों की दस अवस्थाओं में यह प्रथमअवस्था है। बंध के

बाद ही अन्य अवस्थायें प्रारम्भ होती है। गुणस्थान १ से १३ तक।

२. सत्त्व – कर्म बंध के बाद और फल देने से पूर्व बीच की स्थिति को सत्त्व कहते हैं।[१५] सत्त्व काल में कर्म का अस्तित्त्व रहता है पर सक्रिय नहीं होता है। जैसे – औषध खाने के बाद वह तुरंत असर नहीं देती है किन्तु कुछ समय बाद प्रभाव दिखाती है, वैसे ही कर्म भी बंधन के बाद कुछ काल तक सत्ता में बना रहता है। बाद में फल देता है। गुणस्थान १ से १४ तक।

३. उदय – **अ)** द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार कर्मों का फल देना उदय कहलाता है।[१६]

ब) आबाधा पूर्ण होने पर निषेक रचना के अनुसार कर्मों का फल प्राप्त होना उदय कहलाता है। गुणस्थान १ से १४ तक।

४. उदीरणा – **अ)** उदयावली के बाहर स्थित द्रव्य का अपकर्षण पूर्वक उदयावली में लाना उदीरणा है।

ब) आबाधा काल के पूर्व कर्मों का उदय में आ जाना उदीरणा है।[१७] जैसे – कोर्ट में गए आपकी फाइल नीचे रखी थी उसका नम्बर शाम तक आता है। आपने ५० रुपये दिये (पुरुषार्थ किया) आपकी फाइल १२ बजे ही आ गई। गुणस्थान १ से १३ तक।

५. उत्कर्षण – पूर्व बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि हो जाना उत्कर्षण है।[१८] जिस प्रकृति का जब बंध होता है तभी उत्कर्षण होता है। जैसे – खदिरसार का उदाहरण प्रथमानुयोग में आता है। गुणस्थान १ से १३ तक।

६. अपकर्षण – पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति व अनुभाग में हानि का होना अपकर्षण है।[१९] यह अपकर्षण कभी भी हो सकता है। जैसे – राजा श्रेणिक ने ३३ सागर की आयु का बंध किया था। बाद में क्षायिक सम्यग्दर्शन के परिणाम से ८४००० वर्ष की आयु कर ली अर्थात् शेष आयु का अपकर्षण कर लिया। गुणस्थान १ से १३ तक।

७. संक्रमण – जिस प्रकृति का पूर्व में बंध किया था इसका अन्य प्रकृतिरूप परिणमन हो जाना संक्रमण है।[२०] गुणथान १ से १० तक।

किन्तु ११वें गुणस्थान में मिथ्यात्व और सम्यगमिथ्यात्व का संक्रमण होता है।

विशेष – १. मूल प्रकृतियों का परस्पर में संक्रमण नहीं होता है।[२१] जैसे मोहनीय कर्म का संक्रमण वेदनीय में नहीं होता है इसी प्रकार और भी।
२. दर्शन मोहनीय का चारित्र मोहनीय में संक्रमण नहीं होता है।
३. आयु कर्म में संक्रमण नहीं होता है।

८. उपशम – जो कर्म उदयावली में प्राप्त न किया जाए अथवा उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके वह उपशम करण है।[२२] गुणस्थान १ से ८ तक।

९. निधत्ति – जो कर्म उदयावली में लाने या अन्य प्रकृति रूप संक्रमण करने में, उत्कर्षण एवं अपकर्षण करने में असमर्थ होना निकाचित है।[२३] गुणस्थान १ से ८ तक।

१०. निकाचित – कर्म का उदयावली में लाने, अन्य प्रकृति रूप संक्रमण करने में, उत्कर्षण और अपकर्षण करने में असमर्थ होना निकाचित है।[२४] गुणस्थान १ से ८ तक।

दस करणों का उदाहरण –

१. बन्ध – १७ अगस्त २००५ को किसी फैक्ट्री में १० वर्ष के लिये नौकरी पक्की हो जाना और २ अक्टूबर २००५ से नौकरी प्रारंभ हो जाना।

२. सत्त्व – १७ अगस्त २००५ से १ अक्टूबर २००५ तक का समय।

३. उदय – २ अक्टूबर २००५ से नौकरी पर जाना प्रारंभ हो जाना।

४. उपशम – फैक्ट्री तो पहुँच गये किन्तु फैक्ट्री के ताले की चाबी न मिलने से कुछ समय रूकना पड़ा।

५. उदीरणा – १ अक्टूबर २००५ को ही फैक्ट्री पहुँच जाना।

६. अपकर्षण – १० वर्ष के लिये नौकरी मिली थी, किन्तु बाद में ११ वर्ष के लिये हो गई।

७. उत्कर्षण – १० वर्ष के लिये नौकरी मिली थी, किन्तु बाद में ९ वर्ष के लिये कर दी।

८. संक्रमण – फैक्ट्री मालिक ने दूसरी फैक्ट्री में भेज दिया।

९.निधत्ति – न १ अक्टूबर २००५ से नौकरी पर गए न मालिक ने दूसरी फैक्ट्री भेजा। यथासमय गए यथास्थान पर रहे।

१०. निकाचित – न १ अक्टूबर २००५ से नौकरी पर गए न मालिक ने दूसरी फैक्ट्री भेजा, न ही नौकरी ९ वर्ष की और न ही ११ वर्ष की। अर्थात् कार्य सही समय पर सही स्थान में सही समय तक चलता रहा।

इस प्रकार जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म के फल विपाक की नियतता और अनियतता को सम्यक् प्रकार से समन्वित किया गया है तथा यह बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा कषायों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ता है वह कर्म फल-विषयक नियतता को समाप्त करने में सक्षम होता जाता है। कर्म कितना बलवान् होगा, यह बात केवल कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर भी निर्भर है। इन अवस्थाओं का चित्रण यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय होना एक अलग स्थिति है तथा उससे नवीन कर्मों का बन्ध होना न होना अलग स्थिति है। कषाय युक्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन कर्मों का बंध करता है। इसके विपरीत कषायमुक्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन बन्ध नहीं करता, मात्र पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

कर्मों की स्थिति – बँधें हुये कर्म जब तक अपना फल देने की स्थिति में रहते हैं, तब तक की काल मर्यादा ही कर्मों की स्थिति है। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर्म जीवात्मा के साथ एक निश्चित अवधि तक बँधा रहता है तदुपरान्त वह पेड़ में पके फल की तरह अपना फल देकर जीव से अलग हो जाता है। जब तक कर्म अपना फल देने की सामर्थ्य रखते हैं, तब तक की काल मर्यादा की उनकी 'स्थिति' कहलाती है। जैन कर्म ग्रन्थों में विभिन्न कर्मों की पृथक्-पृथक् स्थितियाँ (उदय में आने योग्य काल) बताई गयी है।

कर्मों का अनुभाग – कर्मों की फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं।[२५] प्रत्येक कर्म का फलदान एक-सा नहीं रहता। जीव के शुभाशुभ भावों के अनुसार बँधने वाले प्रत्येक कर्म का अनुभाग, अपने-अपने

नाम के अनुरूप तारतम्यता लिये रहता है। कुछ कर्मों का अनुभाग अत्यन्त तीव्र होता है। कुछ का मन्द तो कुछ का मध्यम। कर्मों का अनुभाग कषायों की तीव्रता व मन्दता पर निर्भर रहता है। कषायों की तीव्रता होने पर अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है, शुभ कर्मों का मन्द तथा कषायों की मन्दता होने पर शुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है तथा अशुभ कर्मों का मन्द। तात्पर्य यह है कि जो प्राणी जितना अधिक कषायों की तीव्रता से युक्त होगा उसके अशुभ कर्म उतने ही सबल होंगे तथ अशुभ कर्म उतने ही निर्बल होंगे। जो प्राणी जितना अधिक कषायमुक्त होगा उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे एवं पाप कर्म उतने ही दुर्बल होंगे।

कर्मों के प्रवेश – आत्मा से बद्ध कर्म परमाणुओं की मात्रा ही कर्मों के प्रदेश हैं। जीव के भावों का आश्रय पाकर बँधने वाले सभी कर्मों के परमाणुओं की मात्रा समान नहीं होती। इसका भी एक निश्चित नियम है, एक साथ आत्मा के साथ बन्धन को प्राप्त होने वाले समस्त कर्म परमाणु एक निश्चित अनुपात से आठ कर्मों में विभक्त हो जाते हैं। उक्त क्रमानुसार आयु कर्म में सबसे थोड़े परमाणु होते हैं। नाम कर्म के परमाणु उससे कुछ अधिक होते हैं। गोत्र कर्म के परमाणुओं की मात्रा नाम कर्म के बराबर ही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों के परमाणु विशेष अधिक होते हैं। तीनों की मात्रा परस्पर समान होती है। मोहनीय कर्म के परमाणु इससे भी अधिक होते हैं तथा सबसे अधिक परमाणु वेदनीय के होते हैं।[२६]

यह मूल कर्मों का विभाजन है। प्रत्येक कर्म के प्रदेशों में न्यूनता व अधिकता का यही आधार है। कर्म परमाणुओं का विभाजन बन्धकाल में ही हो जाता है।

विविध कर्मों के बंध के कारण –

१. ज्ञानावरणकर्म-बन्ध के कारण – निम्न कारणों से ज्ञानावरण कर्म का विशेष बन्ध होता है।[२७]

१. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेष रखने से।

२. ज्ञान-दाता गुरुओं के नाम छिपाने से।
३. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों का नाश करने से।
४. ज्ञान के साधनों की विराधना करने से।
५. किसी के ज्ञान में बाधा डालने से।

२. दर्शनावरण कर्म-बन्ध के कारण - जिन कारणों से ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है, दर्शनावरण कर्म भी उन्हीं साधनों से बँधता है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ ज्ञान और ज्ञान के साधन न होकर, दर्शन और दर्शन के साधनों के प्रति वैसा व्यवहार होने पर, दर्शनावरणी बन्धता है।[२८]

३. वेदनीय कर्म बन्ध के कारण - सभी प्राणियों पर अनुकम्पा रखने, व्रतियों की सेवा करने, दान देने से, हृदय में शान्ति और पवित्रता रखने, साधुओं या श्रावकों के व्रत पालन करने से, कषायों को वश में रखने से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[२९]

इसके विपरीत, स्व-पर को दु:ख देने से, शोकमग्न रहने से, किसी को पीड़ा पहुँचाने आदि आचरण करने से दु:ख के कारणभूत असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[३०]

४. मोहनीय कर्म बन्ध के कारण - सत्यमार्ग की अवेहलना करने से और असत्य मार्ग का पोषण करने से तथा आचार्य, उपाध्याय, गुरु, साधु-संघ आदि सत्य पोषक आदर्शों का तिरस्कार करने से दर्शन-मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

स्वयं पाप करने से तथा दूसरों को कराने से, तपस्वियों की निंदा करने से धार्मिक कार्यों में विघ्न उपस्थित करने से, मद्य-मांस आदि का सेवन करने से और कराने से, निर्दोष व्यक्तियों में दूषण लगाने से चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।[३१]

५. आयुबन्ध के कारण - हिंसा आदि कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का हरण, इन्द्रिय विषयों में अत्यन्त आसक्ति, तीव्र परिग्रह-लुब्धता तथा मरण के समय क्रूर परिणामों से '**नरक आयु**' का बन्ध होता है।[३२]

धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलकार उसका प्रचार करना, शील रहित जीवन बिताना, अतिसन्धान प्रियता अर्थात् विश्वासघात, वंचना और छल-कपट करना आदि **'तिर्यञ्च आयु'** के बन्ध के कारण है।[३३]

स्वभाव से विनम्र होना, भद्र प्रकृति का होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषाय का होना तथा मरण के समय संक्लेश रूप परिणति का नहीं होना आदि **'मनुष्य आयु'** के बन्ध के कारण है।[३४]

संयम पालने से, तप करने से, व्रतों के आचरण से, कषाय की मन्दता से, धर्म कथा के श्रवण से, दान देने से, धर्मायतनों की सेवा तथा रक्षा करने से तथा सम्यग्दृष्टि होने से **'देव आयु'** का बन्ध होता है।[३५]

६. नाम-कर्म बन्ध के कारण - मन, वचन और काय की कुटिलता अर्थात् सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ, इसी प्रकार अन्धों से कुटिल प्रवृत्ति कराना, मिथ्या दर्शन, चुगलखोरी, चित्त की अस्थिरता, परवंचना की प्रवृत्ति, झूठे माप-तौल आदि रखने से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।[३६]

इसके विपरीत मन-वचन काय की सरलता, चुगलखोरी का त्याग, सम्यग्दर्शन, चित्त की स्थिरता आदि शुभ नामकर्म के बन्ध का कारण होता है।[३७]

तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म की शुभतम प्रकृति है, इसका बन्ध भी शुभतम परिणामों से होता है। तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के सोलह कारण बताये गये हैं।

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील और व्रतों का निर्दोष पालन, निरन्तर ज्ञान साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति, संसार से सतत् भीति, शक्ति के अनुसार तप और त्याग, भले प्रकार की समाधि, साधु जनों की सेवा/सत्कार, पूज्य आचार्य, बहुश्रुत व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्म कार्यों का निरंतर पालन, धार्मिक प्रोत्साहन व धर्मी जनों के प्रति वात्सल्य यह सब तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है।[३८]

७. गोत्र कर्म-बन्ध के कारण - परनिंदा, आत्मप्रशंसा, दूसरे के सद्भूत-

विद्यमान गुणों का आच्छादन तथा अपने असद्भूत–अविद्यमान गुणों को प्रकट करना – यह सब नीच गोत्र के बन्ध के कारण है।

इसके विपरीत अपनी निन्दा, दूसरों की प्रशंसा अपने गुणों का आच्छादन, पर के गुणों का उद्भावन, गुणाधिकों के प्रति विनम्रता तथा ज्ञानादि गुणों में श्रेष्ठ रहते हुये भी, उसका अभिमान न करना ये सब उच्च गोत्र के बन्ध का कारण है।[३९]

८. अन्तराय कर्म के बन्ध के कारण – दान आदि में बाधा उपस्थित करने से, जिन पूजा का निषेध करने से, पापों में रत रहने से, मोक्षमार्ग में दोष बताकर विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।[४०]

कर्म की फलदान प्रक्रिया – जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार कर्म अपना फल देने में स्वतंत्र है, परतंत्र नहीं है। इस मान्यता के अनुसार बँधे हुये कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर स्वयं उदयावस्था में आकर अपना फल प्रदान करते हैं। कर्मों के फलदान का अर्थ 'विपाक' है। 'विपाक' यानि 'विशिष्ट पाक' जो कि बाह्य परिस्थितियों एवं आन्तरिक शक्तियों की अपेक्षा रखकर अपना फल देते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें कि द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा रखकर ही कर्म अपना फल देते हैं।[४१]

कर्मों का फल कषायों की तीव्रता एवं मन्दता पर निर्भर करता है। जिस प्रकार भोजन शीघ्र न पचकर, जठराग्नि की तीव्रता मन्दता के अनुसार पचता है, उसी प्रकार कषायों की तीव्रता व मन्दता के अनुरूप ही शुभाशुभ कर्मों का फल मिलता है।[४२]

तीव्र कषायों के साथ बँधे हुये अशुभ कर्मों का फल तीव्र तथा अधिक मिलता है। मन्द कषायों के साथ बँधने वाले कर्मों का फल मन्द और अल्प मिलता है।[४३]

शुभाशुभ परिणामों के प्रकर्षापकर्ष के अनुरूप ही कर्मों का शुभाशुभ फल मिलता है। यह कोई अनिवार्य नहीं कि कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर ही फल दे। जिस प्रकार आम आदि फलों को विशेष प्रकार के साधनों द्वारा पकाकर संयम पूर्व ही रसदार बना लेते हैं, उसी प्रकार स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही विशेष तपश्चरण आदि के द्वारा,

कर्मों को पका देने पर, वे अपना फल असमय में भी देते हैं। इस प्रकार कर्म-फल 'यथाकाल' और 'अयथाकाल' दो प्रकार का होना है।[४४]

एक समय में बँधे हुये कर्म एक साथ फल नहीं देते बल्कि अपने-अपने उदय क्रमानुसार ही अपना फल प्रदान करते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि कर्म अपना फल देकर ही उदय में आयें, क्योंकि आन्तरिक शक्तियों और बाह्य परिस्थितियों अनुकूल न रहने पर कर्म अपना फल दिये बिना भी (अन्य कर्म रूप परिणत होकर) आत्म-प्रदेशों से अलग हो सकते हैं।[४५]

सभी मूल कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही अपना फल देते हैं। उनमें परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता है।[४६] जैसे ज्ञानावरणी कर्म का फल ज्ञान को कुण्ठित व अवरुद्ध करने का मिलेगा। दर्शनादि अन्य शक्तियों में बाधा पहुँचाने में, उसका कोई हस्तक्षेप नहीं रहता।

कर्म अपने अवान्तर-भेदों में परिवर्तित हो सकते हैं। जैसे - साता वेदनीय कर्म असाता वेदनीय रूप फल दे सकता है अथवा शुभ नाम कर्म अशुभ नाम कर्म रूप फल दे सकता है। किन्तु चारों आयु कर्म, दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय इसके अपवाद है।[४७] वे अपना फल स्वमुख से ही देते हैं, अर्थात् एक आयु दूसरी आयु रूप नहीं हो सकते। इसी प्रकार दर्शन मोहनीय और चरित्र-मोहनीय परस्पर बदलकर अपना फल प्रदान नहीं कर सकते हैं।

कर्म, फल देने के तत्काल बाद आत्मप्रदेशों से अलग हो जाते हैं, वे पेड़ से गिरे फल की तरह पुनः फल नहीं दे सकते है।[४८] कर्म फल देने के बाद उनकी 'निर्जरा' या 'क्षय' हो जाती है। क्षय होने का तात्पर्य उनका सर्वथा विनष्ट होने से नहीं है, वरन् उनके कर्मरूप पर्याय को छोड़कर अन्य अकर्मरूप पर्यायों में परिवर्तित हो जाने से है।

ये है संक्षेप में, जैन कर्म सिद्धान्त।

आधुनिक विज्ञान इस कर्म सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है।

जीव द्रव्य -

जीव का अस्तित्व - प्रायः समस्त आत्मवादी दर्शन आत्मा के अस्तित्व

को स्वीकार करते हैं, किन्तु चार्वाक जैसे भौतिकवादी दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि जीव नामक कोई पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होने से नहीं है, जैसे गधे के सींग। यदि जीव होता है तो उसे दिखना चाहिये था। जीव में जो चेतना दिखाई देती है, वह पंचभूतों के संयोग से उत्पन्न हुई शक्ति मात्र है, जो जीव की मृत्यु होते ही समाप्त हो जाती है।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि 'मैं दु:खी हूँ, सुखी हूँ' आदि की जो प्रतीति होती है, वह रस चेतना का ही परिणाम है। यदि चेतना नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है तो मृतक का शरीर पंचभूतों से युक्त रहते हुये भी चेतना शून्य क्यों रहता है? इसी चेतनारूप लक्षण के दृष्टिगोचर होने पर कई बार मृत घोषित जीव को चिता से भी लौटते देखा गया है। इसी प्रकार आये दिन समाचार पत्रों में छपने वाली पूर्वजन्म विषयक घटनायें भी जीव के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक सब वस्तुओं की उत्पत्ति मात्र जड़ पदार्थों से मानते हैं। वे अपने विरोधी समागम अथवा गुणात्मक परिर्वतन के सिद्धान्त के आधार पर कहते हैं कि सब पदार्थों की तरह चैतन्य भी पदार्थों के संयोग से ही बना है, परन्तु वे भी इसका अभी तक कोई समीकरण नहीं खोज सके हैं। यदि वैसा कोई समीकरण वैज्ञानिकों की दृष्टि में हो तो भी वे आज तक चैतन्य की उत्पत्ति करके नहीं बता सके हैं। चैतन्य का निर्माण तो दूर, जीवित आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि शारीरिक अवयवों के निर्माण में भी अभी तक वे सफल नहीं हो सके हैं। उनके द्वारा बनाई हुई सब वस्तुयें जड़ ही दिखाई पड़ती है और वे जीवित वस्तुओं से स्पष्ट रूप से भिन्न प्रतीति होती है। इसी तरह मृत्यु के उपरान्त शरीर निश्चेष्ट एवं विशीर्ण क्यों हो जाता है? तथा जन्म के साथ जीव में चेतना कहाँ से आती है? यह बात भी अभी तक वैज्ञानिकों के लिये एक पहेली बनी हुई है। प्रकृति और चेतना के रहस्य को न समझ पाने कारण वैज्ञानिकों का गर्व भी चूर-चूर हो गया है। उन्हें अपनी अल्पज्ञता सामने दिखने लगी है। उन्हें भी किसी विराट् ज्ञाता का ख्याल

आने लगा है। 'अल्बर्ट आइन्स्टाइन के शब्दों में – हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं, पूर्ण सत्य को कोई सर्वज्ञ ही जान सकता है।'[४९]

We can only know the relative truth but absolute truth is known only to the universal observer.[४९]

यही कारण है कि भले ही आधुनिक विज्ञान आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करें, किन्तु अभी वे एकदम से उसे अस्वीकार करने की स्थिति में भी नहीं है। अब तो वैज्ञानिकों को भी ऐसा प्रतीत होने लगा है कि यह विश्व एक जड़ यन्त्र मात्र नहीं है। उसमें चेतना स्फुरित होती है। "The Great design" नामक पुस्तक में अनेक वैज्ञानिकों ने महत्त्व को स्पष्ट करते हुये 'अल्बर्ट आइन्स्टाइन' कहते हैं – 'मैं जानता हूँ कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।'

सर ए.एस.एडिग्टन कहते हैं – 'कुछ अज्ञात शक्ति काम कर रही है, हम नहीं जानते वह क्या है? मैं चैतन्य को मुख्य मानता हूँ, भौतिक पदार्थ को गौण? पुराना नास्तिकवाद अब चला गया। धर्म, आत्मा और मन का विषय है। वह किसी भी प्रकार से हिलाया नहीं जा सकता है।'

सर जे.वी.एस. हेलडन कहते हैं – सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्त्व जड़ (Matter), बल (Force), पदार्थ (Physical things) नहीं है, किन्तु मन और चेतना ही है।[४९]

सर ऑलीवर लॉज कहते हैं – 'जैसे मनुष्य दो दिन के बीच की रात्रि में स्वप्न देखता है वैसे ही मनुष्य की आत्मा मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच विहार करती है।'

स्थावर जीवों में जीवत्व की सिद्धि – जैनदर्शन में संसारी जीवों के त्रस और स्थावर दो भेद किये हैं – स्थावर जीवों के पाँच प्रकार है – पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। यद्यपि इन जीवों में जीवत्व का प्रतिभास नहीं हो पाता है, फिर भी इनमें जीवन है। अन्यथा खान में पड़े पदार्थों में वृद्धि दिखनी

असम्भव थी। आधुनिक विज्ञान भी इसे स्वीकारता है। प्रमाण इस प्रकार है –

"We find that soil is life and that a living soil mass of micro organic existence, the earth-warm, the fungi and the micro-organism.

We learn that these is a minimum of 5, millions these derizens to the cubic inch of living soil." - I Skyes (the sower, Winter 1952-53)

(गिरनार गौरव से उद्धृत)

जैनदर्शन की यह विशिष्टता है कि वह पृथ्वी, जल, वायु और वनस्पति के साथ-साथ अग्नि में भी जीवत्व स्वीकार करना है, जो कि भीषण अग्नि काण्ड एवं विस्फोट के समय देखी जा सकती है। जीव की इस शक्ति के समझ मनुष्य की सारी शक्तियों को हार माननी पड़ती है। जैसे मनुष्यों और पशुओं के जीवन के लिये प्राण वायु अनिवार्य है, वैसे ही अग्नि भी ऑक्सीजन के सहारे ही जीवित रहती है, जलती है। ऑक्सीजन रूप प्राणवायु के अभाव में अग्नि बुझ जाती है। यह उसमें जीवत्व होने का सबल प्रमाण है। आज का विज्ञान भले ही इनमें जीवत्व न मानता हो, परन्तु जिस तरह डॉ. जगदीशचन्द्र वसु के अनुसंधान के आधार पर वनस्पति में जीवत्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार से आगे चलकर इन जीवों में भी जीवत्व स्वीकार करना पड़ेगा। ये पाँचों ही स्थावर है। इन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य – यह एक अचेतन मूर्त द्रव्य है। आधुनिक विज्ञान में इसे मैटर अथवा एनर्जी के नाम से जाना जाता है। 'पुद्गल' शब्द बहुत अर्थपूर्ण है, यह जैनदर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह 'पुद्' और 'गल' के योग से बना है। 'पुद्' का अर्थ है – पूर्ण होना, मिलना/जुड़ना। और 'गल' का अर्थ है – गलना/हटना/टूटना। पुद्गल परमाणु स्कन्ध अवस्था में परस्पर मिलकर अलग-अलग होते रहते हैं तथा अलग-अलग होकर मिलते-जुड़ते रहते हैं। इनमें टूट-फूट होती रहती

है। इस टूटने और जुड़ने को आधुनिक विज्ञान की भाषा में fusion & fission कह सकते हैं। पूरण–गलन स्वभावी होने से इसकी 'पुद्गल' यह सार्थक संज्ञा है।[५०]

जगत में जो कुछ भी हमारे छूने, चखने, देखने या सूँघने में आता है वह सब यह पौद्गलिक पिण्ड ही है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इसके विशेष गुण है।[५१] इसलिये इसे रूपी या मूर्तिक कहा जाता है, रूपित्व इसका लक्षण है। यह मूलतः परमाणुरूप है। अन्य परमाणुओं से संयुक्त हो जाने के कारण यह स्कन्ध बन जाता है।

परमाणु – पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है। यह पुद्गल की स्वाभाविक अवस्था है तथा यह पुद्गल का अविभाज्य और अन्तिम अंग है। इसके बाद इसका कोई और टुकड़ा नहीं किया जा सकता है। जैसे किसी बिन्दु का काई ओर–छोर नहीं होता है, वैसे ही परमाणु को कोई आदि और अन्त बिन्दु नहीं है। इसका आदि, मध्य और अन्त यह स्वयं है। यह परमाणु एकप्रदेशी होता है।[५२] प्रत्येक पुद्गल परमाणु में स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण रूप चार में कोई दो स्पर्श, खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और तिक्त रूप पाँच रस में कोई एक रस, काला, पीला, लाला, सफेद और जीना इन पाँच रंगों में से कोई एक रंग तथा सुगंध या दुर्गन्ध में से कोई गन्ध अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं।[५३]

आधुनिक वैज्ञानिक जिस परमाणु के अनुसंधान में रत है जैन दर्शन के अनुसार वह अनेक परमाणुओं से संघटित कोई स्कन्ध (molecule) है, क्योंकि उसमें इलेक्ट्रान, प्रोटॉन, न्यूट्रान, अल्फा, गामा, बीटा, न्यूट्रिनों, पॉजिट्रॉन, मेट्रॉन, क्वार्क आदि अनेक कण पाये जाते हैं। अब तो उनकी संख्या बढ़कर सौ से अधिक हो गई है।

जैन दर्शन के अनुसार इसमें से कोई भी कण परमाणु या मौलिक कण नहीं है, उन्हें व्यवहार परमाणु कहा जा सकता है, वास्तविक नहीं है। जैन दृष्टि से परमाणु वह मूल कण है, जिसमें कोई भेद या विभाग सम्भव नहीं है। परमाणु पुद्गल की अंतिम इकाई है। इसे अविभागी कहा गया है, अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु इन्द्रियों

एवं प्रयोग के विषय से अतीत है। अतः वह मनुष्यकृत नाना प्रक्रियाओं से प्रभावित नहीं होता।

इस प्रकार जैन दर्शन में परमाणु की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या, विवेचन और विश्लेषण किया गया है। परमाणु की यह व्याख्या विश्व में प्राचीनतम तो है ही साथ ही परमाणु विज्ञान की नव-नवीनी खोजों के लिये वैज्ञानिकों को प्रामाणिक प्रेरणा देती है। वैज्ञानिकों के मन में नई जिज्ञासायें उत्पन्न करने में जैनदर्शन का यह भाग सर्वथा सक्षम है और इस प्रकार वैज्ञानिक प्रगति में समर्थ एवं सहायक बना हुआ है।

स्कन्ध - दो या दो से अधिक परमाणुओं के योग से बनी पुद्गल परमाणु की संयुक्त पर्याय स्कन्ध कहलाती है। हमारे दृष्टिपथ में आने वाले समस्त पदार्थ पौद्गलिक स्कन्ध ही है। स्कन्ध दो, तीन आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी होता है।[५४]

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इन परमाणुओं में एक ऐसी परस्पर आकर्षण शक्ति होती है जिससे वे परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, किन्तु यह शक्ति स्थायी नहीं होती है। इसी कारण से किसी बहिरंग या अंतरंग शक्ति से प्रेरित होकर वे परमाणु पृथक् हो जाते हैं। इस शक्ति का नाम vander walls force के attraction है। बंध का टूटना clevage breaking है। जैन कर्म सिद्धान्त में इस आकर्षण को आस्रव कहते हैं और पृथक् होने का निर्जरा कहते है। आत्म प्रदेश तथा कर्म प्रदेश इनके परस्पर संश्लेष संबंध को कर्म बंध कहते हैं।[५५]

पुद्गल में विशेष प्रकार की परिणमन क्षमता रहती है, जिसके बल पर यह अपना सूक्ष्म परिणमन भी कर लेता है। आकाश के एक प्रदेश में ही एक को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त पुद्गल परमाणु स्वतन्त्र रूप से या स्कन्ध रूप में भी रह सकते हैं।[५६] हम देखते भी है कि दूध से लबालब भरे गिलास में शक्कर आदि ठोस पदार्थ डालने पर वह भी उसमें समा जाता है अथवा बिजली के ठोस तार में भी विद्युत् प्रवाहित हो जाती है। ये सब पुद्गल के सूक्ष्म परिणमन क्षमता के उदाहरण हैं। अपनी इसी सूक्ष्म परिणमन क्षमता के कारण एक प्रदेश में

ही अनेक परमाणु अवगाहित हो जाते हैं। यह बात निम्न तथ्य से प्रमाणित होती है।

परमाणुओं का समासीकरण – (जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान से उद्धृत) पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की पहुँच इस पराकाष्ठा तक तो नहीं हुई हैं, किन्तु आये दिन ऐसे निविड/सघन पदार्थों का पता चल रहा है, जो परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति के विषय में जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि करते हैं। साधारणतः इस पृथ्वी पर सोना, पारा, शीशा व प्लैटिनम भारी पदार्थ माने जाते हैं। एक स्कावय इंच काठ के टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े में भार का कितना अंतर है, यह स्पष्ट है। इसका एक मात्र कारण परमाणुओं की निविडता/सघनता है। जितने आकाशखण्ड को काष्ठ के थोड़े से परमाणुओं ने घेर लिया उतने ही आकाश खण्ड में अधिकाधिक परमाणु एकत्र होकर खनिज पदार्थ के रूप में रह जाते हैं। इस आकाश में ऐसे भी ग्रह पिण्ड देखे गये हैं जो प्लेटिनम से दो हजार गुना सघन है। ऐसे ग्रह पिण्डों की सघनता का वर्णन एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक इन शब्दों में करते हैं – 'इन आकाशीय पिण्डों में से कुछ एक में पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक क्यूबिक इंच टुकड़े में २७ मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो अभी हाल में खोजा गया है उसके एक क्यूबिक इंच में १६७४० मन वजन होता है। क्या कभी कोई कल्पना भी कर सकता है कि एक क्यूबिक इंच टुकड़े को उठाने में बड़े-बड़े क्रेन भी असफल रह जायेंगे? क्या कोई कल्पना कर सकता है कि एक छोटा-सा ढेला ऊपर से गिरकर बड़े से बड़े भवन को भी तोड़ सकता है? कहा जाता है (ज्येष्ठा नक्षत्र इतना भारी है कि अँगूठी के एक नग के जितने टुकड़े में आठ मन वजन होता है)।

स्कन्धोत्पत्ति का कारण – पुद्गल परमाणुओं में स्वभाव से स्निग्धता या रूक्षता होती है जिनके कारण इनका परस्पर बन्ध होता है।[५७] परिणमनशील पुद्गलों के इस स्निग्ध और रूक्षत्व गुण के कारण ऐसा रासयनिक परिणमन होता है कि वे परस्पर मिलकर एक रूप हो जाते

हैं। इसी तरह स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। इन्हें गुण कहते हैं। इसी स्निग्ध और रूक्ष शक्ति के कारण पुद्गल परमाणु परस्पर में बँधते रहते हैं। उसमें भी शर्त है कि जघन्य अर्थात् एक गुण वाले परमाणु का किसी से बन्ध नहीं होता है।[५८] स्निग्ध–स्निग्ध, स्निग्ध–रूक्ष तथा रूक्ष–रूक्ष एवं रूक्ष–स्निग्ध परमाणुओं का बन्ध तभी सम्भव है जब इनमें से किसी एक में दो गुण की अधिकता हो इससे हीन या अधिक नहीं।[५९] परस्पर समान गुण के होने पर भी इनका बन्ध नहीं होता है।[६०] समझने के लिये दो गुण वाले परमाणुओं का सदृश या विसदृश चार गुण वाले परमाणु बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। दो की अधिकता होना अनिवार्य है। बन्ध काल में अधिक गुणवाले परमाणु, अल्प गुणवाले परमाणुओं को अपने रस, रंग, गन्ध और स्पर्श रूप परिणमा लेते हैं।[६१] इसी रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा दो को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंत अणु वाले स्कन्ध बनते हैं।

जैन दर्शनकारों ने स्निग्धत्व और रूक्षत्व को बन्धन का कारण माना है, आधुनिक वैज्ञानिकों ने पदार्थ के धन–विद्युत् एवं ऋण–विद्युत् अर्थात् पॉजीटिव और निगेटिव इन दो स्वभावों को बन्धन का कारण माना है। जैन दर्शन के अनुसार जहाँ स्निग्ध और रूक्षत्व पदार्थ मात्र में मिलता हैं, वहीं आधुनिक विज्ञान के अनुसार, धन विद्युत् और ऋण विद्युत् पदार्थ मात्र में मिलती है। वस्तुतः जैन दर्शनकारों एवं आधुनिक वैज्ञानिकों की बात में कोई फर्क नहीं है मात्र शब्द भेद है। जैन दर्शन में स्निग्ध और रूक्षत्व के नाम से आधुनिक वैज्ञानिक उसे धन विद्युत् और ऋण विद्युत् के नाम से कहते हैं।

प्रोफेसर जी.आर. जैन के अनुसार भी स्निग्ध और रूक्षत्व वैज्ञानिक परिभाषा में निगेटिव और पॉजीटिव है। वे लिखते हैं – 'सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है – **स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत्**' अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध और रूक्ष का अर्थ चिकना और खुरदरा नहीं है। यह दोनों वास्तव में बहुत टेक्निकल अर्थ में प्रयुक्त हैं।

जिस तरह एक अनपढ़ ड्राइवर बैटरी के एक तार को ठंडा तथा दूसरे को गर्म कहलाता है(यद्यपि उनमें न कोई तार ठंडा होता है न कोई गरम) और आधुनिक विज्ञान की भाषा में जिन्हें पॉजीटिव और निगेटिव कहा जाता है, ठीक उसी तरह जैन धर्म में स्निग्ध और रूक्ष शब्दों का प्रयोग किया जाता है। डॉ. वी. एन. शील ने किंगिल से प्रकाशित अपनी पुस्तक **पॉजीटिव साइंस ऑफ एनसियन्ट हिन्दू** में स्पष्ट लिखा है - जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को आपस में रगड़ने से पॉजीटिव और निगेटिव विद्युत् उत्पन्न की जा सकती है। इन बातों के समक्ष इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि स्निग्ध का अर्थ पॉजीटिव और रूख का अर्थ निगेटिव विद्युत् है।

(देखें - तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ, ग्वालियर, पृ. २७५-७६)

तत्त्व मूलतः एक ही है - कुछ दार्शनिक पृथ्वी में स्पर्श आदि चारों, जल में गन्ध रहित तीन, अग्नि में मात्र रूप और स्पर्श तथा वायु में एक मात्र स्पर्श गुण मानते हैं। इन चारों में पृथक्-पृथक् जाति के गुण होने चार प्रकार के पृथक्-पृथक् द्रव्य भी मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ये चारों पृथक्-पृथक् जाति के द्रव्य नहीं है। प्रत्येक परमाणु में चारों प्रकार के गुण अनिवार्य रूप से हैं। यह तो सम्भव है कि किसी में कोई गुण पूर्णताभिव्यक्त हो तथा किसी में कोई गुण पूर्ण रूप से प्रकट न हो, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि उनमें वे गुण पाये ही नहीं जाते, अन्यथा सीप में पेट में पड़ने वाला जल, पार्थिव मोती न बन पाता। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप वायु के मिलने से जल की उत्पत्ति न हो पाती। साथ पार्थिव ईंधन से अग्नि की उत्पत्ति भी असम्भव थी। क्योंकि प्रत्येक परमाणु भिन्न जाति वाले हैं। वे परस्पर विरोधी कार्य नहीं कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान की इस मान्यता ने जैन दर्शन मान्य परमाणु की जातीय विषयक धारणा की और पुष्टि कर दी है। पूर्व में विज्ञान ने ९२ मूल तत्त्व माने थे (मूल तत्त्व का लक्षण व्यक्त करते हुये बताया गया है कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व रूप परिणत नहीं होते), किन्तु धीरे-धीरे विज्ञान की यह मान्यता बदल गयी और वह ९२ से घटकर

मात्र एक तत्त्व तक पहुंच गया है। आज ऐसे अनेक प्रयोग हो चुके हैं, जिससे पारा के परमाणुओं को प्रयोग द्वारा विखण्डित कर सोना बनाया गया है। उसी तरह यूरेनियम से प्लेटिनम और शीशा आदि बनाये गये हैं। यह सब मूल तत्वों के एक होने पर ही सम्भव हो पाया है। अन्यथा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव थी। अत: आज के वैज्ञानिक युग में भिन्न जातीय परमाणुओं की चर्चा गलत साबित हो चुकी है और समस्त पुद्गल द्रव्य की वैकल्पिक गुणों की हीनाधिकता पूर्वक एकरूपता सिद्ध हो चुकी है।

पञ्च वर्णों की मान्यता - जैन सिद्धान्तकारों ने वर्ण को पाँच ही प्रकार का क्यों माना? जबकि सौर वर्ण पट (solar spectrum) में सात वर्ण होते हैं और प्राकृतिक-अप्राकृतिक वर्ण (Natural & pigmentory colours) बहुत से होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्ण से उसका तात्पर्य सौर वर्ण पट के वर्णों अथवा अन्य वर्णों से नहीं है। प्रत्युत् पुद्गल के उस मूलगुण(Fundamental property) से है, जिसका प्रभाव हमारी आँख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में रक्त, पीत, कृष्ण आदि आभास कराता है। optical society of America ने वर्ण की परिभाष इस प्रकार दी है, 'वर्ण एक व्यापक शब्द है, जो आँख के कृष्ण पटल(Retina) और उससे सम्बद्ध शिराओं की क्रियाओं से उद्भूत आभास को सूचित करता है। रक्त, पीत, नील, श्वेत, कृष्ण इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।'

पञ्चवर्णों का सिद्धान्त - पंचवर्णों का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया जा सकता है - यदि किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जाये तो सर्वप्रथम उसमें से अदृश्य(Dark) ताप किरणें(Heat rays) निस्सरित होती है। उसके अनंतर वह रक्त वर्ण किरणें छोड़ती है और अधिक ताप बढ़ाने से वह पीत वर्ण किरणें छोड़ती है और अधिक ताप बढ़ाने से वह पीत वर्ण किरणें छोड़ती है और फिर उसमें श्वेत-वर्ण किरणें नि:सरित होती है। यदि उसका ताप और अधिक बढ़ाया जाये तो नील वर्ण किरणें भी उद्भूत हो सकती है।

श्री मेघनाद साहा और श्री वी. एल. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कुछ तारे नील–श्वेत रश्मियाँ छोड़ते हैं। इससे स्पष्ट हैं कि उनका तापमान बहुत अधिक है। तात्पर्य यह है कि ये पाँच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों(Temperature) पर उद्भूत हो सकते हैं और इसलिये पुद्गल के मूलगुण (Fundamental Properties) हैं। वैसे जैन विचारकों ने वर्ण के अनंत भेद माने हैं। हम सौरवर्ण पट के वर्णों में (spectrum colours) देखते हैं कि यदि रक्त से लेकर कासनी (violet) तक तरंग–प्रमाणों (wave lenths) की विभिन्न अवस्थितियों (stages) की दृष्टि से विचार किया जाये तो इनके अनंत होने के कारण वर्ण भी अनंत प्रकार के सिद्ध होगे। क्योंकि यदि एक प्रकाश तरंग (light wave) प्रमाण (lenth) में दूसरी प्रकाश तरंग से अनंतवें भाग भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरंगे दो विसदृश वर्णों को सूचित करती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों की पुद्गल की परिभाषा तर्क व विज्ञानसम्मत सिद्ध होती है।

(संदर्भ – पं. चंदाबाई अभिनंदन ग्रन्थ पू. २६६–२६७)

शब्द–पुद्गल की पर्याय – एक स्कन्ध के साथ किसी दूसरे स्कन्ध के टकराने या किसी स्कन्ध के टूटने से उत्पन्न ध्वनि रूप परिणाम को शब्द कहते हैं। जैन–दर्शन में शब्द को पुद्गल की पर्याय कहा है। आधुनिक विज्ञान ने तो टेप, रेडियो, टेलिफोन आदि संचार माध्यमों से शब्दों का संग्रह कर यन्त्रों द्वारा उसकी गति को घटा–बढ़ाकर तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाकर शब्द को भौतिक या पौद्गलिक मानने का मार्ग और सरल कर दिया है। अतः यह अमूर्तिक नहीं हो सकता है।

उल्का क्या है? – इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने एक बहुत बड़ा घटनात्मक इतिहास गढ़ डाला है। जैन दर्शन के अनुसार उल्का, ताराओं का टूटना नहीं है और न ही उनकी पारस्पारिक टक्कर का परिणाम है। वह तो आकाश स्थित पुद्गल स्कन्धों का संघर्षजन्य परिणाम है।

एनर्जी और मेटर – पुद्गल के ही नामान्तर – पूर्व में आधुनिक विज्ञान शब्द, प्रकाश, छाया और ताप आदि को शक्ति रूप स्वीकार करता था,

किन्तु अब एनर्जी नाम का, मेटर से कोई पृथक् पदार्थ है, उसकी यह मान्यता बदल गयी है जो कि जैन दर्शन से पूर्णतया सम्मत है। **आइन्स्टाइन** ने स्पष्ट कहा है कि शक्ति और द्रव्य कोई पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं है। इन्हें एक-दूसरे में बदला जा सकता है। उसी तरह **प्रोफेसर मेक्स बोर्न** कहते हैं - शक्ति और पदार्थ एक वस्तु विशेष के दो पृथक् नाम है। अब तो एनर्जी के भार भी आँके जा रहे हैं। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि एनर्जी और मेटर दोनों पुद्गल के ही नामान्तर हैं। आधुनिक विज्ञान जिसे एनर्जी कहता है वह इन शब्दादि का ही सूक्ष्म परिणमन है।

इस प्रकार अनेक प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन के बाद यह बात सामने आ जाती है कि भले ही आज आधुनिक विज्ञान जैन कर्म सिद्धान्त को स्वीकारते न हो, परंतु आने वाले समय में एक न एक दिन उसे स्वीकार करना ही पडेगा। क्योंकि यही सत्य है, यही यथार्थ है।

सन्दर्भ-सूची -

१. तत्त्वार्थवार्तिक ६/३
२. जैन धर्म दर्शन पृ. ४४२
३. अष्टाध्यायी १/४/४९
४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष २/२८
५. गोम्मटसार कर्मकांड/६
६. द्रव्यसंग्रह गाथा/७
७. पंचास्तिकाय/१२८-१३०
८. समयसार/२५२-२५५
९. मंगतराय की बारह भावना
१०. तत्त्वार्थवार्तिक १०/९ पर उद्धृत पृ. ७२५
११. समयसार, /८६-८७
१२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड/१
१३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड/२१
१४.गोम्मटसार कर्मकाण्ड/४४७
१५. पंचसंग्रह/३/३

१६. सर्वार्थसिद्धि/६/१४
१७. पंचसंग्रह प्रा./३/३
१८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड/४४८
१९. वही
२०. जयधवला/१९/३
२१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड/४१०
२२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष/१/४६४
२३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड/४५०
२४. वही
२५. जयधवला/५/११
२६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड/९२
२७. तत्त्वार्थसूत्र/६/१०
२८. वही
२९. वही/६/१२
३०. वही/६/११
३१. तत्त्वार्थराजवार्तिक/६/१४/३
३२. सर्वार्थसिद्धि/६/१५/३३३
३३. वही/६/१६/३३०
३४. वही/६/१७/३३४
३५. तत्त्वार्थसार/४२-४३
३६. तत्त्वार्थसूत्र६/२२
३७. वही/६/२३
३८. वही/६/२९
३९. सर्वार्थसिद्धि/६/२६/३४०
४०. तत्त्वार्थसूत्र/६/२७
४१. सर्वार्थसिद्धि८/२१
४२. वही८/२
४३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा/३१९

४४. तत्त्वार्थवार्तिक/२/८३/२
४५. भगवती आराधना/११७८
४६. तत्त्वार्थसूत्र/८/२२
४७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड/४१०
४८. समयसार/१७५
४९. जैन दर्शन और विज्ञान उद्धृत पृ. ९९-१००
५०. तत्त्वार्थवार्तिक/५/१/२४
५१. तत्त्वार्थसूत्र/५२३
५२. वही/५/३३
५३. पंचास्तिकाय/८२
५४. तत्त्वार्थसूत्र/५/१०
५५. भाग्य आणि पुरुषार्थ पृ.८५
५६. सर्वार्थसिद्धि पृ.२१२
५७. तत्त्वार्थसूत्र/५/३३
५८. वही/५/३४
५९. वही/५/३६
६०. वही/५/३५
६१. वही/५/३७
६२. जैन धर्म और दर्शन - मुनिश्री प्रमाणसागरजी महाराज
६३. जैन कर्म अनुचिंतन - बा.ब्र. पं. रतनलाल शास्त्री

-डॉ. उज्जवला जैन,
डॉ. सुरेश गोसावी
म.न.पा. कवार्टर्स, समतानगर,
अदालत रोड़, क्रान्ति-चौक,
औरंगाबाद-४३१००१ महा.
९४०४४८५४७१

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में जैनदार्शनिक अवधारणा

-प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई, जयपुर

विश्लेषण निकष पर प्रखर सिद्ध होने योग्य व्यवस्थित ज्ञान एवं यथार्थ उपपत्ति प्रमाणित जानकारी को विज्ञान माना जा सकता है। वह जानकारी विज्ञान है, जो वस्तुनिष्ठ हो और प्रयोग के परिवेश में काल्पनिक सिद्ध नहीं हो तथा बुद्धिगम्य होकर यथार्थ को परिपुष्ट करती हो। इस दृष्टि से विज्ञान आज भी अति विस्तृत एवं अनंत संभावनाओं से परिपूर्ण समीचीन अध्ययन विधा है। इस अध्ययन विधा में काल्पनिक एवं अन्धविश्वास प्रसूत प्रतिपत्तियों का कोई महत्त्व नहीं होता है और सभी के लिये बिना किसी जाति-वर्ग एवं सम्प्रदाय भेद के केवल अपनी बौद्धिक क्षमता से वस्तुनिष्ठ योग्यताओं का विश्लेषण करना संभव हो जाता है। यथार्थ प्रतिपत्तियों एवं निष्पत्तियों से परिज्ञात वैज्ञानिक तत्त्व को प्रयोगशाला में परखकर सही होने पर सामाजिक जीवन के लिये सरल सुखद बनाने हेतु उपयुक्त मान लिया जाता है। विज्ञान के अवदान को कोई कैसे नकार सकता है? हम सभी तो यथार्थ के धरातल पर विज्ञान की उपलब्धियों के उपभोक्ता हैं।

वैज्ञानिक प्रतिपत्तियों से हमें यह प्रतीति भी होती है कि हमारा जीवन और सर्वत्र व्याप्त भौतिक-अभौतिक परिवेश काल्पनिक नहीं होना चाहिये। वैज्ञानिक परिदृश्य में इसे हम किसी एक सर्वशक्तिमान ईश्वर का सृजन भी नहीं मान सकते हैं। विज्ञान की कसौटी पर ऐसा कोई ईश्वर सिद्ध नहीं होता है, जो सब कुछ अपनी सामर्थ्य की सत्ता या इच्छा से कर सकता हो। विज्ञान की परिधि में सभी चेतन-अचेतन पदार्थों का कर्त्ता(सृष्टा), भर्ता (पालनकर्त्ता या रक्षक) एवं हर्ता(विनाशक या प्रलयकर्त्ता) परमसत्ता स्वरूप कोई ईश्वर है, यह सिद्ध नहीं होता है।

तथापि विज्ञान प्रत्येक पदार्थ को ईश्वर मानने को उद्यत दिखायी देता है क्योंकि उसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपनी सामर्थ्य से रहता है और परिणमित होता है। योग्यता के बिना कोई भी कार्य कहीं पर भी नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु में निष्ठ उनकी योग्यताओं को उनका उपादान कारण मानना उसकी श्रेष्ठता को प्रमाणित करना विज्ञान की परिधि में संभव है। अत: प्रत्येक वस्तु को अपनी सामर्थ्य के कारण ईश्वर माना जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक सत् या वस्तु या पदार्थ चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, चेतन हो या अचेतन अपनी अनंत उपादान योग्यताओं की श्रेष्ठता के कारण ईश्वर माना जा सकता है। कण-कण में यानि सर्वत्र ईश्वर है, इस लोकोक्ति को इसी दृष्टि से वैज्ञानिक माना जा सकता है। कोई भी दार्शनिक मन्तव्य तत्त्वज्ञान मूलक होना चाहिये। यहाँ वस्तु की स्वभाव मूलक प्रतिपत्ति को ही तत्त्वज्ञान माना जा सकता है। काल्पनिक अयथार्थ किम्वा अन्धविश्वास गम्य धारणाओं को तथा स्वमत मण्डन या परमत खण्डन की कल्पनाओं को नहीं। लोक में काल्पनिक प्रतिपत्तियों को तत्त्वज्ञान मान लेना या सिद्ध करना बौद्धिक प्रवाद या दिवालियेपन के अतिरिक्त कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। सत्य का निर्णय करने हेतु स्वमतमण्डन एवं परमत खण्डन को बौद्धिक निरूपणा यहाँ वीतरागकथा के रूप में शिष्यावबोधन के लिये ग्राह्य हो सकती है किन्तु विजिगीषु कथा के रूप में वह जगत् का कर्त्ता है, यह ग्राह्य नहीं है क्योंकि काल्पनिक या अन्धविश्वासगम्य प्रतिपत्तियों को सही सिद्ध करने का उद्यम विजिगीषु वाद में संभव हो जाता है, जो तत्त्वज्ञानमूलक दार्शनिक अवधारणा के विपरीत है। दार्शनिकों के वाद चाहे संवाद हो या विवाद-प्रतिवाद। उन्हें तत्त्वज्ञान का समर्थक होना ही चाहिये अन्यथा वैज्ञानिक परिधि में तात्त्विक सत्य का मूल्यांकन असंभव हो जायेगा।

मेरी दृष्टि में जैनदार्शनिक अवधारणायें यथार्थ किम्वा वास्तविक होने से वैज्ञानिक मानदण्डों का अनुसरण करती है। जगत् एवं उसमें विद्यमान चेतन-अचेतन पदार्थों का अधिगम यहाँ कल्पना एवं अंधविश्वास के धरातल को छोड़कर भी संभव है। हमारे जीवन का यथार्थ भी यहाँ

उस दृष्टि से उजागर हो जाता है जिससे हमारे प्रयोजन की पूर्ति संभव है। प्रयोजन है सुख हो, दुःख न हो। जैन दार्शनिकों की जो भी प्ररूपणायें आज हमें उपलब्ध हैं उनका मूल्यांकन हम प्रमाणपरिधि में अपनी बुद्धि एवं संसाधनों के बल से कर सकते हैं। जहाँ हमारी बुद्धि का प्रवेश नहीं है उन्हें अप्रमाण मानना भी संभव नहीं है क्योंकि जब तक उनकी अप्रमाणता का आधार हमें न मिल जाये या उनके प्रमाण न होने की पुष्टि नहीं हो जाये तब तक उन्हें अप्रमाण घोषित करना भी अवैज्ञानिक होगा इससे तो अनुसंधान की सारी संभावनायें ही समाप्त हो जायेगी।

आज भी जैनधर्म–दर्शन एवं सांस्कृतिक मूल्यों की जो विरासत हमारे पास है उससे यह विशद विश्वास अर्जित किया जा सकता है कि वैज्ञानिक निकष पर जैन दार्शनिक अवधारणायें सही सिद्ध होती है। जैनधर्म का पारमार्थिक एवं व्यावहारिक मूल्य भी मानव कल्याण के लिये अत्यंत उपादेय है। तथा जैन संस्कृति सम्पूर्ण स्थावर जंगम जीवों की रक्षा करने एवं प्राकृतिक पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने के अभियान में हमें जागरूक बनाने के लिये संप्रेरक है। यदि हम इस प्रतिपत्ति को विज्ञान का लक्ष्य मानें तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के परिज्ञान हेतु जैन दार्शनिक अवधारणायें हमारी मदद कर सकती है। यहाँ कुछ जैन दार्शनिक अवधारणाओं को उल्लिखित करने का प्रयास है जिससे इन्हें आगे कर वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा जैन परम्परा में भी गतिशील हो सके और जैन ऋषियों के वाङ्मय को मूल्यांकन की दृष्टि से ही सही बुद्धिजीवी वर्ग पढ़े तथा उसे शोधानुसन्धान का विषय बना सके। प्रमुख जैन दार्शनिक अवधारणायें इस प्रकार हैं –

१. वस्तु विषयक पदार्थ विज्ञान की अवधारणा – यह जगत् नानाविध पदार्थों से समाकीर्ण अवगत होता है। वे पदार्थ मूल स्वरूप में क्या हैं? तथा उनका सांयोगिक स्वरूप क्यों है, इत्यादि की वैज्ञानिक पुरस्कृति यदि अद्यतन समुपलब्ध साहित्य में कहीं होती है तो हमें कहना होगा कि वह साहित्य जैन ऋषियों द्वारा प्रणीत है। आचार्य कुंदकुंद के पंचास्तिकायसंग्रह और प्रवचनसार को हम इस निरूपणा के लिये

प्राचीनतम वाङ्मय मान सकते हैं। सर्वसम्मति से आज वैदिक संस्कृत में रचित ऋग्वेद को भारतीय शास्त्र परम्परा में तथा पाश्चात्य परम्परा में अवेस्ता में लिखे गये जेन्दोदवेस्ता को सर्वाधिक प्राचीनतम साहित्य माना जाता है। ऋग्वेद में वस्तुविषयक अवधारणायें अवगत नहीं होती है तथा जो कुछ भी एतद्विषयक बीजारोपण वहाँ है भी तो वह वैज्ञानिक मनीषा को तुष्ट करने में सक्षम नहीं लगता है। यही हाल यजुर्वेद, अर्थर्ववेद और सामवेद का है। ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमेय यज्ञानुष्ठान परक है तो आरण्यक वस्तुविषयक प्ररूपणा में मौन हैं उनका प्रमेय आध्यात्मिक उन्नति साधक माना जा सकता है। उपनिषद् अवश्य वस्तुविषयक प्ररूपणाओं के आकर हैं, किन्तु वहाँ इतनी विशदता नहीं है जितनी जैनवाङ्मय में है। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-वेदान्त जो भारतीय दर्शनशास्त्र के मूल प्रस्थान माने जाते हैं उनकी प्ररूपणा भी उतनी स्पष्ट नहीं है जिसके बल पर कहा जा सके कि वे परिदृश्य जो पदार्थ विज्ञान को द्योतित कर रहे हैं, उन्हें वैज्ञानिक कैसे मान लिया जायें क्योंकि वहाँ परस्पर विरोध है। यदि सांख्यों के पदार्थ सही हैं तो उन्हें सभी ने स्वीकार क्यों नहीं किया? यह प्रक्रिया सभी के साथ स्वीकार करने पर परस्पर विरोध तो द्योतित होता ही है, भ्रम की स्थिति भी बन जाती है किसे सत्य माना जाये या इनमें कोई सत्य है भी या नहीं। मेरी दृष्टि में वस्तु स्वरूप की निरूपणा कर उन्हें परिभाषित करते हुये जगत् में विद्यमान वस्तुओं का परिज्ञान कराने का जो कार्य आचार्य कुंदकुंद के वाङ्मय में साकार हुआ है, वह वैज्ञानिक माना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने जो कहा उसका फलितार्थ वैज्ञानिक लगता है -

१. प्रत्येक वस्तु अपनी योग्यताओं के कारण से है। प्रत्येक सत् वस्तु ही है, जो द्रवणशीतलता अर्थात् परिणमन धर्म के कारण द्रव्य कही जाती है। प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनंत सामान्य-विशेष गुण तादात्म्यपने वसते हैं जिनमें प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। प्रत्येक द्रव्य सदैव गुण पर्यायों वाला ही होता है। गुण वस्तु की शाश्वत योग्यतायें हैं तो पर्यायें क्षणिक योग्यता का दिग्दर्श कराती है।

२. जगत् में षड्विध द्रव्यों की सत्ता जैनदार्शनिकों ने मानी है। जो इस प्रकार है – १. जीवद्रव्य (अनन्त), २. पुद्गलद्रव्य (अनन्तानंत), ३. धर्मद्रव्य(एक), ४. अधर्मद्रव्य(एक), ५. आकाशद्रव्य(एक) और ६. कालद्रव्य (लोकप्रमित असंख्यात)।

इनमें आकाश द्रव्य असीम माना गया है। इसके जितने भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और कालद्रव्यों का समवाय है उतने भाग को लोक कहते हैं अवशिष्ट भाग अलोक कहलाता है। इस प्रकार एक ही आकश द्रव्य लोकाकाश और अनन्त अलोकाकाश के रूप में परिज्ञापित होता है। यह आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों के लिये अवगाह देता है अर्थात् सभी द्रव्यों का आधार इसे माना जा सकता है इसकी अवगाहन शक्ति विलक्षण है। जिससे सभी द्रव्यों को अपने स्वत्व की रक्षा करते हुये प्रश्रय मिल जाता है। जीव और पुद्गल ऐसे द्रव्य हैं जो अपनी योग्यता से आकाश प्रदेश में क्षेत्र से क्षेत्राान्तर होते रहते हैं या स्थित रहते हैं उनके संचरण एवं स्थिति में धर्म एवं अधर्म द्रव्य निमित्त कारण माने गये हैं। इनकी निमित्तता के बिना जीव पुद्गल द्रव्यों में गति या स्थिति संभव नहीं है अतः ये आकाश में वहीं तक गति या स्थिति करते हैं जितने आकाश में धर्म–अधर्म द्रव्य की व्याप्ति है। कालद्रव्य भी जहाँ तक जीव और पुद्गल की गति–स्थिति रूप संचरण करते हैं उतने आकाश में एक–एक प्रदेश पर कालाणु के रूप में पाये जाते हैं।

३. प्रत्येक द्रव्य अनादि और अनन्त है।

४. जीव द्रव्य चेतन है और शेष अचेतन। इनमें चेतन और अचेतन पदार्थों की परिणतियाँ नानाविध पदार्थों के रूप में परिलक्षित होती हैं।

५. जीव और पुद्गल द्रव्यों की परस्पर सहचरता निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों के परस्पर अविनाभावित्व को द्योतित करती है।

६. जीवों में सुख–दुःख की परिणतियों की प्ररूपणा जीवन मूल्यों पर आधारित है।

७. संसारी जीवों को जानने के लिये गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणायें, पर्याप्ति, प्राण और उपयोग प्ररूपणाओं का उपदेश व्यवस्थित बौद्धिक

विधि का अनुसरण करता है तथा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों की यथार्थता को प्रमाणित कर सत्य का अधिगम करा देता है।

२. कार्य–कारण सिद्धान्त की अवधारणा – कार्य–कारण सिद्धान्त की सुस्पष्ट प्रतिपत्ति कराने में जैन दार्शनिकों का श्रम हमें जैन परम्परा को गौरवान्वित करने की प्रतीति कराता है क्योंकि जैन ऋषियों ने सर्वत्र कार्य एवं कारण का मूल्यांकन योग्यता के बल से किया है। प्रत्येक वस्तु कारण और कार्य के रूप में जगत् में संस्थित है। दोनों की व्याख्या यहाँ द्विविध रूप से उपलब्ध होती है –

१. उपादान कारण और उपादेय कार्य।

२. निमित्त कारण और नैमित्तिक कार्य।

प्रत्येक द्रव्य अपने मूल रूप में अपने प्रत्येक कार्य के लिये उपादान कारण है। यह उपादान कारण त्रैकालिक एवं क्षणिक के भेद से आकलित होता है। कोई भी कार्य अपनी त्रैकालिक और क्षणिक योग्यता का उल्लंघन नहीं कर सकता है। कारण के अनुसार ही कार्य होता है, इस शाश्वत नियम का अनुसरण करने में जैन दार्शनिकों की कारण मीमांसा और कार्य मीमांसा सर्वथा सटीक होने से प्रशंसनीय है, विज्ञान निकष पर खरी उतरती है अतः मेरी अवधारणा है कि जैन दार्शनिकों द्वारा निर्देशित कार्य–कारण मीमांसा सर्वदृष्टि से वैज्ञानिक है।

३. स्याद्वाद्व सिद्धान्त की अवधारणा – यह कहा जाता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त जैनों को ही मान्य है किन्तु विज्ञान निकष पर इसे सही नहीं माना जा सकता है क्योंकि कोई भी वाद या कथन अकेले जैनों का नहीं हो सकता है। जैन दार्शनिकों ने अवश्य स्याद्वाद जैसी अपरिहार्य योग्यता को स्वीकार करके उसकी प्ररूपणा की है और उसे हर वाद में अपरिहार्य बताया है। जैनेतर दार्शनिक भले ही यह प्ररूपणा नहीं करते हो किन्तु उन्होंने भी स्याद्वाद सिद्धान्त की मूल अवधारणा को अपनाया ही है। उनके सारे वचन व्यवहार चाहे वे व्याकरण शास्त्र के हो या साहित्य शास्त्र के या दर्शन आदि शास्त्रों के स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुसरण करके ही हैं। सारा लोक–व्यवहार जो जैन–जैनेतर, देशी–विदेशी परिवेश में

देखा जाता है, अवश्य ही आपेक्षिक सत्य को आगे करके सही माना जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्त यही तो इंगित करता है कि कोई भी वाद पूर्ण सत्य का दावा नहीं कर सकता है आपेक्षिक रूप से ही सत्य है एवं विश्वसनीय है। यह प्रतिपत्ति यदि सही है और विज्ञान निकष की सर्व सम्मत कसौटी है तो यह कहना होगा कि 'स्याद्वाद' वाद का सिद्धान्त है और कोई भी वाद भाषिक परिवेश में होता है, अतः हर भाषा के वाद को स्याद्वाद का अनुसरण करना ही होता है भले ही कोई उसे माने या न माने। इसलिये वैज्ञानिक सिद्धान्त है न कि दार्शनिकसिद्धान्त किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण स्याद्वाद के विना असंभव है।

४. पुद्गल विज्ञान की अवधारणा – आज का सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् एवं उसमें विद्यमान भोग्योपभोग्य पदार्थों का सम्यक् परिज्ञान पुद्गल द्रव्य की सम्यक् अवधारणा के विना संभव नहीं है। जो कुछ भी आज हमारे इन्द्रिय ज्ञान का विषय बन रहा है वह सूक्ष्म हो या स्थूल पुद्गल विषयक ही है। जैन दार्शनिकों ने इसकी व्याख्या वैज्ञानिक निकष के अनुरूप ही की है किन्तु वह निकष आज शास्त्रीय सिद्धान्तों के अध्ययन-अध्यापन के अभाव में प्रयोग में नहीं लायी जा रही है। जैन वाङ्मय में पुद्गल का जितना भी औपचारिक-अनौपचारिक या व्यावहारिक-पारमार्थिक विवेचन है वह आज भी आज के वैज्ञानिक परिदृश्य को प्रगतिशील बनाने में सक्षम दिखायी देता है। भौतिक विज्ञान, भूगर्भविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान, ज्योतिषविज्ञान, गणितीय वैज्ञानिक संधारणाओं एवं पर्यावरणीय वैज्ञानिक अध्ययन विधाओं आदि का अध्ययन यदि जैनशास्त्रों में निरूपित पौद्गलिक प्रतिपत्तियों के साथ किया जाये तो मेरा अनुमान है कि वैज्ञानिक अधिगम के मूल तक पहुँचने में हमें सहायता मिलेगी और पौद्गलिक परमाणु परीक्षण के नाम पर की जाने वाली प्रक्रिया से ईश्वरीय कण की धारणा से इस अंधविश्वास की पुष्टि संभव नहीं सकेगी कि सृष्टि प्रक्रिया के मूल में कोई ईश्वरीय कण विशेष है और इस सृष्टि का सृजनकर्त्ता कोई एक ईश्वर ही है। प्रत्येक परमाणु स्वयं में ईश्वर है यह बात अवश्य ही जैन परमाणु विज्ञान से संभव हो

जायेगी। कोई काल्पनिक ईश्वर मानना सर्वथा अवैज्ञानिक तथ्य तो है ही, प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण से भी उसका प्रमाणीकरण असंभव है।

जैनदार्शनिकों ने सृष्टि के मूलतत्त्व को समझाने में जीव और पुद्गल द्रव्यों की भूमिका को अपरिहार्य माना है तथा भौतिक–अभौतिक परिणामों की समीक्षा पुद्गल द्रव्य की परिधि में की है। जीव द्रव्य अमूर्त है तथापि मूर्त पुद्गल के साथ उसका जैसा सम्बन्ध सृष्टि में परिलक्षित होता है वह सब जैन दार्शनिक मनीषियों ने निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों के बल पर प्रतिपादित किया है। जीवन की सार्थक और यथार्थ अधिगति हमें पुद्गल के विना संभव ही नहीं है।

परमाणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल की विवेचना जैन शास्त्रों में बहु आयामी है और आज प्रचलित सभी अध्ययन–अध्यापन विधाओं के लिये महत्त्वपूर्ण है। सूक्ष्म एवं स्थूल पुद्गल स्कन्धों की जानकारी जैन वाङ्मय हमें देता है। तेईस प्रकार की वर्गणाओं को स्कन्ध के रूप में इंगित करने वाला जैन आगम जगत् के सम्पूर्ण जीवों की परिणतियों–परिस्थितियों को एवं उनके क्रिया–कलापों को वैज्ञानिक परिवेश में समझाने की सामर्थ्य रखता है। कर्म वर्गणाओं से कर्म स्कन्ध की निर्मिति जीवों के लिये होती है जिनके परिणामस्वरूप जीव नानाविध स्थूल वर्गणाओं से अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। मानव जीवन में मनोविज्ञान का महत्त्व अपरिहार्य है जिसकी सच्ची एवं मूल्यपरक समझ हमें मनोवर्गणाओं के परिज्ञान से संभव है। भाषावर्गणाओं का परिणाम शब्द है जिनके सदुपयोग से हम टीवी, रेडियो, आदि के माध्यम से शब्द का चमत्कार देख रहे हैं जैन मनीषा ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि शब्द पौद्गलिक हैं आकाशीय गुण नहीं है आकाश तो मात्र माध्यम है क्योंकि आकाश में सर्वत्र पुद्गल भाषा वर्गणाओं का अवगाहन है जिनके परिणमन से शब्द साकार होता है इसे विज्ञान ने समझने में सफलता पायी है उसके सारे उपकरण पौद्गलिक स्कन्ध हैं, ईश्वरीय सृष्टि या शब्द ब्रह्म नहीं। पौद्गलिक कर्म स्कन्धों का, कर्मबन्ध सम्पन्न जीवों एवं उनके नाना परिणामों का परिज्ञान जैन दार्शनिकों ने गणितीय अर्थसंदृष्टियों से

करने में सफलता पायी है, यह अलग बात है कि आज उन गणितीय अर्थसंदृष्टियों को समझने वाले लाग अत्यंत अल्प है, नगण्य ही हैं तथापि उनका मूल्य है। संख्यात, असंख्यात और अनन्त को परिभाषित करने वाली जैन गणित का वैशिष्ट्य आज भी है जिसे वैज्ञानिकों को अपनी मेधा से समझने का श्रम अवश्य करना चाहिये। श्रीसम्पन्न धनकुबेरों, बुद्धिजीवियों एवं सरकारों को सचेत होना चाहिये कि वे इस लौकिक-अलौकिक गणित के सिद्धान्त को समझने-समझाने के लिये संसाधन उपलब्ध करायें। मेरा स्पष्ट अभिमत है कि आज का विज्ञान यदि जैनशास्त्रीय पुद्गल परमाणुओं एवं स्कन्धों की निरूपणाओं का अध्ययन करे और उसके साह्यचर्य में अनुसन्धान कर सके तो अवश्य ही जगत् एवं उसमें विद्यमान जीवधारियों का जीवन एवं जीवनोपयोगी पदार्थों की सत्यान्वित अवधारणा से हम सुपरिचित हो सकेंगे।

मोक्ष एवं मोक्षमार्ग की अवधारणा का यथार्थ अधिगम भी हमें जीव और पुद्गल की सम्यक् प्ररूपणा से संभव है यदि हम विज्ञान निकष पर अपनी बुद्धि को पैनी बनायें। सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य एतदर्थ पर्याप्त नहीं हैं तत्त्वज्ञान मूलक वैज्ञानिक दृष्टि ही हमें सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक सत्य का वस्तुनिष्ठ परिज्ञान कराने में सक्षम हो सकती है, काल्पनिक बौद्धिक दृष्टि या सृष्टि नहीं।

-प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई
आचार्य एवं अध्यक्ष
जैनदर्शन विभाग,
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान
त्रिवेणीनगर, जयपुर
9509846633
Email - singhairsks@gmail.com

द्रव्य कर्म और भावकर्म - वैज्ञानिक चिंतन

- डॉ. अनेकांत कुमार जैन

भूमिका - जीवन की परिभाषा 'धर्म और कर्म' पर आधारित है। इसमें धर्म मनुष्य की मुक्ति का प्रतीक है और कर्म बंधन का। मनुष्य प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दु:ख का अनुभव करता है, और फिर कर्म से मुक्त होने के लिए धर्म का आचरण करता है, मुक्ति का मार्ग अपनाता है। सांसारिक जीवों का पुद्गलों के कर्म परमाणुओं से अनादिकाल से संबंध रहा है। पुद्गल के परमाणु शुभ-अशुभ रूप में उदय में आकर जीव को सुख-दु:ख का अनुभव कराने में सहायक होते हैं। जिन राग द्वेषादि भावों से पुद्गल के परमाणु कर्म रूप बन आत्मा से संबद्ध होते हैं उन्हें भावकर्म और बंधने वाले परमाणुओं को द्रव्य कर्म कहा जाता है।

कर्म शब्द के अनेक अर्थ - अंग्रेजी में प्रारब्ध अथवा भाग्य के लिए लक (luck) और फैट शब्द प्रचलित है। शुभ अथवा सुखकारी भाग्य को गुडलक (Goodluck) अथवा गुडफैट Goodfate कहा जाता है, तथा ऐसे व्यक्ति को fateful या लकी (luckey) और अशुभ अथवा दुखी व्यक्ति को अनलकी (Uunluckey) कहा जाता है। शुभ कर्म को पुण्य और अशुभ कर्म को पाप कहा जाता है। पश्चिमी जगत् में कर्म शब्द को एक्टिविटी, वर्क, डीड, (activity, work, deed) आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में प्राणी की सभी क्रियाओं को कर्म कहा जाता है। विभिन्न दर्शनों और धर्मग्रंथों में कर्म का उल्लेख है। व्याकरणाचार्यों ने कहा है - 'जिस पर कर्ता की क्रिया का फल पड़ता है, अथवा जो कर्ता को प्राप्त होता है वह कर्म है।' 'ऋग्वेद में बताया गया है कि 'मृत मनुष्य की आँख सूर्य के पास और आत्मा वायु

के पास जाती है तथा यह आत्मा अपने कर्म के अनुसार पृथ्वी में, स्वर्ग में, जल में और वनस्पति में जाती है।' उपनिषद् में कहा गया है कि 'जो आत्मा जैसा कर्म करता है, जैसा आचरण करता है, वैसा ही बनता है। सत्कर्म करता है तो अच्छा बनता है, पाप कर्म करने से पापी बनता है। मनुष्य इच्छा के अनुसार प्राप्त संकल्प करता है, संकल्प के अनुसार कर्म होता है तथा जैसा कर्म करता है वैसा फल प्राप्त करता है।'धम्मपद में लिखा है– 'ऊंचे आकाश में, गहरे समुद्र में या पर्वतो की गुफाओं में, इस संसार में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ छिपकर जीव अपने किये हुए पाप कर्मों से छुटकारा पा सके।' भगवान बुद्ध ने कहा है– 'जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही फल पाता है।' रामायण मे लिखा है– 'शरीरधारी जीव स्वयं शुभ या अशुभ कर्म करता है और स्वयं ही उनके फलस्वरूप सुख और दु:ख को भोगता है।' महाभारत मे लिखा है– 'यह जगत् कर्मभूमि है, इसमें मनुष्य शुभ कर्मों का शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ फल पाता है।'[१]

जैन दर्शन में कर्म के स्वरूप, प्रक्रिया, प्रभाव आदि का विस्तृत और वैज्ञानिक उल्लेख है। वहाँ भी कर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं–'घटं करोति' में कर्मकारक कर्मशब्द का अर्थ है।'[२] कुशल अकुशल कर्म में पुण्य पाप अर्थ है।[३] वैशेषिकों के यहाँ उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि में कर्म का क्रिया अर्थ विवक्षित है।[४] यहाँ आश्रव के प्रकरण में भी क्रिया अर्थ ही विवक्षित है अन्य नहीं क्योंकि वही जड़ कर्मों के प्रवेश का द्वार है।

कर्म का स्वरुप – राजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव कहते हैं 'वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाले आत्मा के द्वारा निश्चयनय से आत्मपरिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गलपरिणाम; तथा व्यवहारनय से आत्मा के द्वारा पुद्गलपरिणाम और पुद्गल के द्वारा , आत्मपरिणाम भी जो किये जायें वह कर्म हैं। कारणभूत परिणामों की प्रशंसा की विवक्षा में कर्तृधर्म आरोप करने पर वही परिणाम स्वयं द्रव्य और भावरूप कुशल–अकुशल कर्मों को करता है अत: वही कर्म है।[५] आप्तपरीक्षा में आचार्य विद्यानंदजी कहते हैं कि जो जीव को जीव के

द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं–उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं।[६]

कर्म के भेद – सामान्य से कर्म एक ही है, उसमें कोई भेद नहीं है तथा द्रव्य कर्म और भाव कर्म की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते हैं।[७] उसमें ज्ञानावरण आदि रूप जो पुद्गल द्रव्य का पिंड है वह द्रव्य कर्म है और उस द्रव्य पिड में जो फल देने की शक्ति है वह भाव कर्म है अथवा कार्य में कारण का व्यवहार होने से उस शक्ति से उत्पन्न हुये जो अज्ञान आदि अथवा क्रोधादि रूप परिणाम हैं वे भी भावकर्म कहलाते हैं । इस कर्म के आठ भेद हैं अथवा इन्हीं आठों के एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भेद भी होते हैं ।

1.द्रव्य कर्म – सब शरीरों की उत्पत्ति के मूलकारण कार्मण शरीर को कर्म (द्रव्यकर्म) कहते हैं।[८] जीव के जो द्रव्यकर्म हैं वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं।[९]

2.भाव कर्म – भावकर्म दो प्रकार का होता है–जीवगत व पुद्गलगत भाव क्रोधादि की व्यक्तिरूप जीवगत भावकर्म है और पुद्गलपिंड की शक्तिरूप पुद्गल द्रव्यगत भावकर्म है। यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं–जैसे कि मीठे या खट्टे द्रव्य को खाने के समय जीव को जो मीठे खट्टे की व्यक्ति का विकल्प उत्पन्न होता है वह जीवगत भाव है; और उस व्यक्ति के कारणभूत मीठे–खट्टे द्रव्य की जो शक्ति है, वह पुद्गलद्रव्यगत भाव है। इस प्रकार जीवगत व पुद्गलगत के भेद से दो प्रकार भावकर्म का स्वरूप भावकर्म का कथन करते समय सर्वत्र जानना चाहिए।[१०]

कर्म और विज्ञान – हमारे जगत् के तीन आयाम है–लंबाई, चौडाई और ऊँचाई। वैज्ञानिक जगत में चौथा आयाम है–अदृश्य। हमारे शरीर में जो ग्रंथियों का स्राव है उनका संबंध स्थूल शरीर से होता है। इनसे शरीर और मन प्रभावित होता है। पाँचवां आयाम है अमूर्त। इस अमूर्त के साथ कर्म का संबंध है। कर्म के पुद्गल सूक्ष्म हैं। कर्म का संबंध अतीत से है। जैनदर्शन ने ही यह सिद्धांत स्थापित किया कि कर्म पौद्गलिक भी है। आत्मा के राग और द्वेष आदि भाव ही आत्मा के साथ कर्म का संबंध

कराते हैं । जैन आचार्यों ने क्रोध और मान को द्वेषात्मक अनुभूति और माया तथा लोभ को रागात्मक अनुभूति माना है।[११]

वर्तमान में विज्ञान जड़ भौतिक शरीर की सूक्ष्मतम गुत्थियों को सुलझाने के अन्तिम चरण में है, अतः यही सबसे बड़ा अवसर है कि अब वह इसके आगे शरीर को प्रभावित करने वाले कारकों पर अपने अनुसंधान को केन्द्रित करे और इस कार्य में जैन कर्म सिद्धान्त उसे प्रेरणा, मार्गदर्शन तथा समुचित दिशा दे सकता है । धर्म और विज्ञान के सम्मिलन का यही सर्वोत्तम समय है जब विज्ञान अपनी सीमाओं को समझ कर आध्यात्मिक अनुसंधान की ओर उन्मुख हो जिससे आधुनिकता से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं का निराकरण कर अप्राकृतिक उत्तेजना तथा सुखाभास के स्थान पर सहज सुख तथा अनंत आनन्द की संभावना साकार हो सके। इसी भाव से जीवन विज्ञान के आवश्यक अंगों शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, पर्यावरण विज्ञान आदि के सन्दर्भ में कार्माण वर्गणाओं के महत्त्व की विवेचना करके जैन कर्म सिद्धान्त को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य होना चाहिए । जैन कर्म विज्ञान ना केवल आध्यात्मिक उन्नति हेतु सर्वोतम सत्य है अपितु भौतिक, शारीरिक एवं मानसिक स्तरों पर भी इसकी तार्किकता एवं उपयोगिता असंदिग्ध है। प्राकृतिक पर्यावरण के लिये मंगलमय है जिस पर समस्त विद्वानों एवं वैज्ञानिकों को ध्यान देने की बहुत आवश्यकता है।[१२]

द्रव्य कर्म और परमाणु विज्ञान – जिस प्रकार से प्राचीन चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन जड़ वस्तुओं के उपभोग को सर्वोच्च समझकर शरीर को भौतिक वस्तु मानते थे उसी प्रकार आधुनिक भौतिकवादी यंत्रों की उपलब्धि के लिये न केवल दूसरे जीवों तथा मनुष्यों को अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु कलपुर्जे मान रहा है वरन् इस अंधी दौड़ में वह स्वयं भी एक यंत्र मात्र बनकर रह गया है। ऐसे में जब विज्ञान हमें बताता है कि हमारे शरीर को नियंत्रित करने वाले तत्वों का पता लगा लिया गया है तो लोगों को यह बहुत बड़ी उपलब्धि नजर आती है। आज जेनेटिक मेपिंग के

द्वारा मनुष्य के विभिन्न गुणों को निर्धारित करने वाले विभिन्न जीनों के क्रमों को खोज लिया गया है तथा नित नूतन शोध हमें हमारे विभिन्न गुणों को निर्धारित करने वाले जीनों के बारे में जानकारी दे रहे हैं। फिर भी अभी तक मनुष्यों के पूरे गुणों की गुत्थी सुलझ नहीं पाई है जबकि जैन कर्म सिद्धांत सभी जीवों के गुणों को निर्धारित करने वाले कर्म परमाणुओं के संबंध में विस्तार से विवेचना करता है जिसके अनुसार जीव के न केवल शरीर के गुण वरन् उसके सुख,दुःख, दर्शन, आयु, नाम,गोत्र आदि का निर्धारण भी कर्म करते हैं।[१३]

वस्तुतः जिस जीन एवं जेनेटिक कोड को वैज्ञानिक सर्वेसर्वा मान रहे हैं वह कार्माण वर्गणाओं के समकक्ष अथवा उसके अधीनस्थ कार्य करने वाले अणुमात्र हैं। जिस पर गहन शोध-बोध की आवश्यकता है। क्योंकि जहाँ विज्ञान मात्र शारीरिक गुणों पर ही आकर रूक गया है वहीं कर्म सिद्धांत इसके बहुत आगे है। वंशाणु विज्ञान मात्र ये बताता है कि हमारे गुणों को निर्धारित करने वाले अणुओं को उस ने जान लिया है जबकि कर्म सिद्धांत न केवल शरीरेतर गुणों की विवेचना करता है वरन् यह भी बताता है कि यह गुण किस प्रकार से हमारे साथ संलग्न होते हैं (आस्त्रव) किस प्रकार से इन विभिन्न गुणों/कर्मों को रोका जा सकता है (संवर) तथा कैसे इन कर्मों को हटाकर अनंत आनंद पाया जा सकता है (निर्जरा)। इस प्रकार भौतिक स्तर पर भी भौतिक सुख-सुविधाओं को निर्धारित करने वाले यांत्रिक वंशानुवाद (जीव थ्योरी) से जैन कर्म सिद्धान्त अधिक तार्किक तथा उपयोगी हैं।[१४]

शरीर विज्ञान और कर्म - आधुनिक शरीर विज्ञान यह स्पष्ट रूप से मानता है कि हमारे शरीर, हमारे विभिन्न तंत्रों तथा विभिन्न अंगों की क्षमतायें अद्भुत तथा असीम हैं, जिसकी तुलना मानव निर्मित किसी भी, कितनी भी महंगी मशीन से नहीं की जा सकती है। हमारा रोग प्रतिरक्षा तंत्र इतना मजबूत है कि हम तमाम रोगों से बखूबी बचे रह सकते हैं। आधुनिक शोध भी यह लगातार बता रहे हैं कि संतुलित खानपान से विशेषकर साग-सब्जियों, फलों के द्वारा रोगों को दूर भी किया जा

सकता है तथा रोगों को दूर भी रखा जा सकता है। जैन कर्म सिद्धांत कर्मों को बाधक, घातक, आवरण के रूप में मानता है जो कि जीव के विभिन्न गुणों के ऊपर पर्दा डाले रखता है तथा इन कर्मावरणों को काटने के लिये अहिंसा मूलक आचार विचार तथा आहार पर बल देता है। यही कारण है कि आज अधिकांश जैन धर्मावलम्बी शाकाहारी, स्वस्थ तथा सम्पन्न हैं। आधुनिक विज्ञान के पूर्ण जानकार, अत्यन्त अनुभवी प्राकृतिक चिकित्सकों की तो यह मूल धारणा ही रहती है कि हमारे शरीर में रोग निवारण की असीम शक्ति है तथा इसके विकारों/दोषों को हटाकर इसकी शक्ति को पुनः प्राप्त किया जा सकता है अतः वे अपने उपचार में प्राकृतिक परिवेश, प्राकृतिक साधनों जैसे फल, सब्जी तथा उपवास आदि के द्वारा सफलतापूर्वक लोगों को पूर्णतः सक्षम एवं स्वस्थ बना देते हैं।[१५]

होम्योपैथी, नेचुरोपैथी, आयुर्वेद आदि सभी चिकित्सा पद्धतियाँ विकारों को हटाने पर जोर देते हैं। ऐलोपैथी भी शल्य क्रिया के द्वारा विकारों को हटाकर रोग मुक्त करती हैं। उपरोक्त सन्दर्भ में जैन कर्म सिद्धांत को आत्मा की असीम शक्ति के ऊपर कर्मावरण की अवधारणा को देखा एवं लागू किया जा सकता है। कर्म बंध रोकने एवं हटाने के उपायों में मद्य-मांसादि का त्याग, सात्त्विक शाकाहार का उपयोग तथा एकासन उपवास आदि के महत्व को भी भलीभाँति रेखांकित किया जा सकता है। अधिकांश औषधियाँ वनस्पतिजन्य होती है तथा अधिकांश वनस्पतियाँ रोग निवारक होती है। इनके विभिन्न तत्व भिन्न-भिन्न रोगों को हटाते हैं तथा उपवास से स्वास्थ्य सुधरता है, इन सबके बारे में विभिन्न वैज्ञानिक निष्कर्ष हमारे सामने हैं। जैन श्रमणचर्या तो प्राकृतिक चिकित्सकों तथा शरीर वैज्ञानिकों के लिये प्रेरणा तथा शोध का विषय है ही।[१६]

भावकर्म और मनोविज्ञान – कर्मवाद मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है। अतः कर्मशास्त्र को कर्म मनोविज्ञान ही कहना चाहिये। आज के मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं,

जिन समस्याओं पर कर्मशास्त्रियों ने अध्ययन और विचार किया, उन्हीं समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विचार कर रहे हैं। यदि मनोविज्ञान के सन्दर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो उसकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं, अस्पष्टताएं स्पष्ट हो सकती हैं। यदि कर्मशास्त्र के संदर्भ में मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है और अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं। मनोवैज्ञानिक का मत है कि मूल प्रवृतियों में परिवर्तन से व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। चार पद्धतियों द्वारा यह परिवर्तन संभव है –

१. अवदमन – (REPRESSION) २. विलयन (INHIBITION) 3. मार्गान्तरीकरण(REDIRECTION) 4. शोधन (SUBLIMATION) विलयन पद्धति के अन्तर्गत दो साधन हैं– 1. निरोध और 2. विरोध।

दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों को साथ ही उतेजित कर देने से मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। काम–प्रवृत्ति के उत्तेजित होने के समय यदि भय अथवा क्रोध उत्पन्न कर दिया जाए तो कामभावना ठंडी पड़ जाएगी। संग्रह–प्रवृत्ति त्याग भावना से शान्त की जा सकती है। अतः पातंजल योग दर्शन को प्रतिपक्ष की भावना, जैनागम के क्रोधादि भावों को उपशम(क्षमा) आदि से शांत करना तथा मनोवैज्ञानिक का विलयन (विरोधन) के सिद्धान्त में आश्चर्य कारी साम्य–समानता है। अतः यह समन्वयात्मक ज्ञान आत्म–विकास के लिए परम हितकर है। जिसका अध्ययन अपेक्षित है।[१७]

उपसंहार– इस प्रकार अनेक प्रकार से जैन दर्शन के कर्म विज्ञान की संयुति आधुनिक विज्ञान के साथ बैठाकर अनेक नये तथ्यों की खोज की जा सकती है । विगत वर्षों में इस विषय पर काफी चर्चाएँ हुई हैं तथा अनेक विज्ञान प्रेमी विद्वानों ने पुस्तकें तथा शोध लेख भी लिखे हैं जो कि अच्छे संकेत हैं किन्तु अभी तक भी गहरे में जा कर बहुत प्रमाणिक अनुसंधान नहीं हो पाए हैं उसका मूल कारण यह है कि कर्म सिद्धांत के

मर्मज्ञ विद्वान् अब बहुत कम हैं जो हैं उन्हें आधुनिक विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार अनेक लोग ऐसे हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान का अच्छा अभ्यास है , किन्तु कर्म सिद्धांत का अच्छा अभ्यास नहीं है बस रूचिवशात् वे जैन धर्म के कर्म सिद्धांत को थोडा बहुत जानते हैं और मेरे जैसे अनेक हैं जो न तो विज्ञान के अच्छे ज्ञाता हैं और न ही कर्म विज्ञान में अच्छी पकड़ है। यही कारण है कि इस आलेख के माध्यम से मैंने इस विषय पर कुछ चर्चा मात्र की है पूर्णत: जो आचार्यों के वचन और आधुनिक अनुसन्धाताओं के लेखों पर आधारित है।

सन्दर्भ-सूची -

१. अष्टकर्मों का मानव व्यवहार पर प्रभाव- मनोवैज्ञानिक व्याख्या - सरोज कोठारी, अर्हत्वचन(त्रैमासिक) अक्टूबर-दिसम्बर- 2005

२. कर्मशब्दोऽनेकार्थ:--क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते-यथा घटं करोतीति -राजवार्तिक द्य6/1/3/504/11

३. क्वचित्पुण्यापुण्यवचनम् -यथा 'कुशलाकुशलं कर्म'- आप्तमीमांसा / 8

४. क्वचिच्च क्रियावचन:--यथा उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुन्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि - वैशेसिक सूत्र ./1/1/7

५. वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणाम: पुद्गलेन च स्वपुरिणाम: व्यत्ययेन च निश्चयव्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म। करणप्रशंसा विवक्षायां कर्तृधर्माध्यारोपे सति स परिणाम: कुशलमकुशलं वा द्रव्यभावरूपं करोतीति कर्म- रा.वा./6/1/7/504/26

६. जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामै: क्रियन्ते इति कर्माणि- आप्तप.टी./113/296 तथा भ.आ./वि./20/71/8 लक्षण नं. 2

७. कर्माणि दृविविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पत: आप्तपरीक्षा मू/113 तथा कम्मतणेण एक्कं दव्वं भावोति होदि दुविहं तु - गोम्मटसार कर्मकांड मू/ 6/6

८. सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मण शरीरं कर्मेत्युच्यते। - सर्वार्थसिद्ध:

/2/25/1828
९. द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा। – आप्त.प./मू/113
१०. भावकर्म द्रविविधा भवति। जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च। तथाहि– भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते। पुद्गलपिण्डशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं! ..... अत्र दृष्टान्तो यथाङ्कमधुरकटुकादिद्रव्यस्य अक्षणकाले
पुद्गलद्रव्यगतं एवं आवकर्मस्वरूपं जीवगतं पुद्–गलगतं च द्विविधेति आवकर्म व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम् । – समयसार.ता.वृ./190–192
११. अष्टकर्मों का मानव व्यवहार पर प्रआव– मनोवैज्ञानिक व्याख्या – सरोज कोठारी, अर्हत्वचन(त्रैमासिक) अक्टूबर–दिसम्बर २००५
१२. आधुनिक विज्ञान के सापेक्ष: मार्गदर्शक आनंददायी, वीतरागी कर्म विज्ञान–अजित जैन 'जलज' – अर्हत्वचन(त्रैमासिक) जनवरी–मार्च 2005 पेज न 58–67
१३. वही
१४. वही
१५. वही
१६. आधुनिक विज्ञान के सापेक्ष: मार्गदर्शक आनंददायी, वीतरागी कर्म विज्ञान–अजित जैन 'जलज' – अर्हत्वचन(त्रैमासिक) जनवरी–मार्च 2005 पेज न 58–67
१७. कर्मवाद का मनोवैज्ञानिक पहलू – रतनलाल जैन,अर्हत् वचन, 4 अक्टू–91. पृ 11 से 60

जल शुद्धि - एक विवेचन

-विद्यारत्न डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन

जैन साहब को सब चलता है। यह देखकर कभी-कभी मन में प्रश्न उपस्थित होता था कि वे अच्छे थे या हम अच्छे हैं ? वे प्रगतिशील थे या हम प्रगतिशील हैं ? जब हममें से कोई बीमार हो जाता है और डॉक्टर को दिखाता है तो डॉक्टर परामर्श देता है कि इन्हें पानी उबालकर पिलाना तब हमें हमारे प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है कि हमारे पूर्वज अच्छे थे जो पानी छानकर और पानी गर्म कर पीते थे। तब हमें अपने जैनत्व पर गर्व होता है। आज हमें जल संरक्षण की आवश्यकता है और जल शुद्धि की भी। कभी 'रहीम' ने लिखा था -

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून।।[१]

आज धरती के पानी को भी बचाने की आवश्यकता है और आँखों के पानी को भी। प्रकृति ने हमें जल दिया और हमने उसे प्रदूषित कर दिया। ऐसे में जलशुद्धि आवश्यक है। हम धार्मिक अनुष्ठानों में तो मन्त्र से जल शुद्धि करते हैं किन्तु अपने उपयोग के समय उसे भूल जाते हैं; क्यों? इस पर विचार अपेक्षित है।

जल प्राणियों की अनिवार्य आवश्यकता है चाहे वे मनुष्य हों या पशु-पक्षी। जल के प्रमुख स्त्रोत इस प्रकार है। वर्षा, कूप (कुआं) बावड़ी, तालाब, नदी, झरना (झील) और समुद्र। वर्तमान में नलकूप भी जल के प्रमुख स्त्रोत बन गये हैं। चूंकि जल में हर चीज घुल जाती है अत: इसमें अशुद्धि की संभावना बनी रहती है। इस अशुद्धि में धूल, मिट्टी, लवण, खनिज एवं अनेक सूक्ष्म जीव मिले होते हैं। जलचर जीवों की बहुलता भी जल को निरन्तर अशुद्ध बनाये रखती है। वायुमण्डल में ऑक्सीजन,

कार्बन-डाइ-आक्साइड, नाइट्रोजन, घुलकर उसे दूषित कर देती हैं। विभिन्न औद्योगिक इकाइयों के दूषित पदार्थों के नदियों में छोड़े जाने से भी जल प्रदूषित हो जाता है।

सतही पानी की अपेक्षा भूमिगत पानी के लिए प्रदूषण का खतरा कम है। लेकिन उसके प्रदूषण को पहचानना और सुधारना ज्यादा कठिन है। ताजा अध्ययनों से लगता है कि भूमिगत पानी के प्रदूषण की समस्या भी बढ़ रही है। कुछ इलाकों में तो यह काफी गम्भीर है। पानी में बैक्टीरिया, वायरस, फंगी, कृमि, वॉर्म, प्रोटोजोआ, लार्वा आदि अनेक सूक्ष्म जीव भी पाये जाते हैं। नदी, कुओं, तालाबों के किनारे जमी काई में अनेक जीव जन्म लेते हैं जो जल को प्रदूषित करते हैं।

विकास के तमाम दावों के बावजूद विश्व की लगभग 1 अरब आबादी को पीने का साफ पानी भी सुलभ नहीं होता। एक अनुमान के अनुसार लगभग 2 हजार लोग प्रतिदिन दुनियाँ में गंदे जल के सेवन की वजह से अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।[२]

जल प्रकृति का अक्षय और सर्वश्रेष्ठ वरदान है। विज्ञान की दृष्टि में जल को **Universal Solvent** माना गया है क्योंकि इसमें अन्य पदार्थों को स्वयं में विलय करने की शक्ति होती है। जल में शीतलता का स्वाभाविक गुण पाया जाता है जिसको स्वच्छ बनाये रखना हम सबका परम कर्तव्य है।

पेयजल निरन्तर कम होता जा रहा है। एक ओर उद्योगों के विषैले रासायनिक पदार्थ हैं तो दूसरी ओर शहरों की सीवर लाइन्स सीधे नदियों से जोड़ दी गयी हैं। आज कच्चे तेल आयात-निर्यात का कार्य समुद्री मार्ग से ही बहुतायत में होता है। तेल के जहाजों से करोड़ों टन तेल समुद्री जल में रिस जाता है फलतः एक ओर समुद्री जीव-जन्तुओं को मौत के मुँह में जाना पड़ता है तथा जल में तैलीय तत्व की अधिकता हो जाती है। इस तरह मानवीय जरूरतों की कीमत मनुष्यों को ही नहीं बल्कि अन्य जीव-जन्तुओं को भी देनी पड़ती है।

आज खाद्यान्न उत्पादन में बढ़ोत्तरी के लिए खेतों में रसायनिक

उर्वरक डाले जाते हैं। तथा फसलों को कीड़ों से बचाने के लिए कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है। ये सभी रासायनिक तत्व एवं कीटनाशक पदार्थ खेतों से रिस-रिसकर और बहते हुए जल में मिल जाते हैं और जल को विषैला बनाते हैं। जल स्त्रोतों के निकट चलने वाले खनन क्षेत्रों से निकले नि:स्त्राव जल क्षेत्रों तक पहुँच जाते हैं इनसे निकलने वाले अम्ल और क्षार मिलकर जल को हानिकारक बना देते हैं। नि:स्त्राव में विद्यमान विषाक्त सीसा, जिंक, तांबा, कैल्शियम आदि के लवण भी जल को प्रदूषित करते हैं। अधिक मात्रा में जल से इनका मिलना जल को जहरीला बनाते हैं।

प्रकृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन जल है। पृथ्वी का तीन चौथाई भाग पानी से ढँका है इसमें कुल उपलब्ध जल का 97.5 प्रतिशत भाग खारा है, मात्र 2.5 प्रतिशत भाग मृदु जल है इसमें से भी मात्र 1 प्रतिशत मृदुजल ही मनुष्य के उपयोग में आता है। इस जल को भी प्रदूषण से बचाये रखना मनुष्य के लिए बड़ी चुनौती है।

सम्पूर्ण जल का मात्र 0.0002 प्रतिशत सरिताओं में और 0.62 प्रतिशत भूमिगत जल है। एक अनुमान के अनुसार विश्व के सरिता, सरोवरों में 1 लाख 20 हजार घन मिलोमीटर मीठा पानी है। इससे कई गुना अधिक जल सतह के नीचे है। अनुमानत: इस भूमिगत जल की मात्रा 80 लाख घन किलोमीटर है। आज के कृषि वैज्ञानिकों व जल सर्वेक्षकों की नजर इसी जल पर है जिसे वे नलकूपों के माध्यम से प्राप्त करना चाहते हैं। जल की परत कम होते जाने से अब पृथ्वी का भी संतुलन डगमगाने लगा है अत: जल के विषय में हमें अत्यधिक संवेदनशील होने की आवश्यकता है ताकि एक और उसे प्रदूषण से बचायें और दूसरी ओर जल के उपयोग के विषय में संयमित हों।

पुराने समय में जितनी भी मानव सभ्यताओं का विकास हुआ वे सब नदियों के किनारे बसी थीं। पुराने किलों का निर्माण, राजधानियों का विकास भी नदियों के किनारे ही हुआ था। इससे जल की महत्ता का पता चलता है। नदियों को देवी तथा जल को देवता मानकर उसे अर्घ्य

समर्पण करने की प्रथा अनेक संस्कृतियों में है जो जल की उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही बनाई गयी प्रतीत होती है।

जल की अशुद्धियों एवं जल स्थित जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए जलगालन (पानी छानना) आवश्यक है। जलगालन का कारण बिना छने हुए जल में त्रसकायिक सूक्ष्म जीवों का बाहुल्य होता है। दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय वाले जीव त्रसकायिक कहलाते हैं। जैनाचार्यों का मत है कि

एकम्मि उदय विदुम्मि जे जीवा जिणवरेहिं पण्णता।
ते परोवइमता जंबूदीवे ण भावंति।[३]

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् ने एक बूंद मात्र जल में जो जीव बतलाये हैं, वे यदि कबूतर के बराबर होकर उड़े तो जम्बूद्वीप में न समावें। इसी भाव को इस रूप में भी कहा गया है –

एक बिन्दूद्भवा जीवाः परावत्समा यदि।
भूत्वोच्चरति चेज्जम्बूद्वीपोऽपि पूर्यते च तत्र।।[४]

अर्थात् जल की एक बूंद में जितने जीव हैं वे कबूतर के बराबर होकर यदि उड़े तो उनके द्वारा यह जम्बूद्वीप लबालब भर जाये।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. जगदीशचन्द्र बोस ने एक बूंद जल में आधुनिक विज्ञान के आधार पर 39,450 बैक्टेरिया जीवों की सिद्धि की है। इनके अतिरिक्त जिन जलकायिक जीवों के शरीर रूप वह बिन्दु है वे उनकी दृष्टि का विषय ही नहीं हैं।

'रयणसार टीका में आचार्य ज्ञानभूषण जी महाराज ने लिखा है कि- '..बिना छने पानी में असंख्यात त्रसकायिक जीव होते हैं वे पानी पीने से मरण को प्राप्त होते हैं। बहुत से ऐसे भी प्राणी हैं जो पेट में जाकर भी मरते नहीं और शरीर की अंतड़ियों को पकड़ लेते हैं जैसे नारू का कीड़ा, डोरू का कीड़ा इत्यादि; जिनके कारण शरीर में भयंकर वेदना का सामना शरीर को करना पड़ता है।'[६]

'सागारधर्मामृत' में पण्डित प्रवर आशाधर जी ने बिना छने जल के सेवन को रात्रिभोजन के सेवन के समकक्ष दोषपूर्ण माना है –

रागजीव-वधापायं भूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत् ।
रात्रि भक्तं तथा युज्यान्न पानीयमगालितम् ।।[७]

अर्थात् धर्मात्मा पुरुषों को मद्य, मांस, मधु आदि की भाँति राग और जीवहिंसा से बचने के लिए रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए। जो दोष रात्रिभोजन में लगते हैं, वही दोष अगलित पेय पदार्थों में लगते हैं- यह जानकर बिना छने हुए जल, दूध, घी, तेल आदि द्रव्यों के सेवन का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार जलगालन **(पानी छानने) का प्रयोजन बाह्य अशुद्धियों से छुटकारा, जल में विद्यमान जीवों की रक्षा तथा स्वयं को स्वस्थ बनाये रखना होता है। तन-मन की शुद्धता तभी संभव है जब हम जल छान कर उपयोग करें ताकि शरीर बीमारियों से बचा रहे। जल में विद्यमान त्रसकायिक जीवों के प्रति करुणा-दया और रक्षा का भाव होने से मन की शुद्धि अवश्यंभावी है।**

1. वस्त्र से जल छानकर जिवाणी यथास्थान विसर्जित करना।
2. प्लास्टिक की छत्री, थैली आदि से जल छानना।
३. सौर ऊर्जा द्वारा जल को जीवरहित करना।

इनमें से प्रथम उपाय ही श्रेयस्कर एवं उपादेय है क्योंकि इसमें एक ओर जल शुद्ध होगा, साथ ही जीवों की रक्षा भी होगी।

दूसरे एवं तीसरे उपाय में जल भले ही छन जाये किन्तु जीव रक्षा संभव नहीं है बल्कि मृत जीवों को मिला रहना भी संभव है। अतः जल वस्त्र से ही छानें।

जल छानने वाला वस्त्र - 'लाटी संहिता के अनुसार जल छानने वाला वस्त्र दृढ़ (मजबूत) होना चाहिए **गालियं दृढ़वस्त्रेण**।'[८] छने का कपड़ा स्वच्छ, सफेद, साफ और गाढ़ा (मोटा) हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना मैला, फटा और ओढ़ा-पहिना हुआ कपड़ा छने के योग्य नहीं। पानी छानते समय छने में गुड़ी (सलवटें) न रहें।[९]

'सागारधर्मामृत' के अनुसार छोटे फटे-पुराने वस्त्र से जल नहीं छानना चाहिए '**दुर्वाससा गालनमम्बुनो।**'[१०]

पंडित प्रवर दौलतराम जी ने 'क्रिया-कोष' में जलगालन की विस्तृत विधि इस प्रकार बतलायी है -

इह तो जल की क्रिया बताई, अब सुनि जलगालन विधि भाई।
रंग वस्त्र नहिं छानी नीरा, पहरे वस्त्र न गालो रीरा।
नाहिं पातरे कपडे गालो, गाढे वस्त्र छाणि आघटालो।
रेजा दृढ़ आंगुल छत्तीसा, लंबा आर चौड़ा चौबीसा।
ताको दो पुड़ता करि छानो, यही नातणा की विधि जानी।
जल छाणत इक बूंद हु धरती, मति डारहु भाषे महावरती।
एक बूंद में अगणित प्राणी, इह आज्ञा गावै जिनवाणी।
गलना चिउंटी धरि मति दाबो, जीवदया को जतन धराबो।
छाणे पाणी बहुते भाई, जल गलणा धाबे चित लाई।
जीवाणी को जतने करो तुम, सावधान है विनवै क्या हम।
राखहु जल की किरिया शुद्धा, तब श्रावक व्रत लहौ प्रबुद्धा।।[११]

अर्थात् रंगे वस्त्र से जल नहीं छनना चाहिए। पहिने हुए वस्त्र से भी जल नहीं छानना चाहिए। पतले कपड़े से भी जल नहीं छानना चाहिए। मोटे वस्त्र से छानकर ही पाप टालना चाहिए। मोटा कपड़ा छत्तीस अंगुल लम्बा और चौबीस अंगुल चौड़ा लेकर उसे दुहराकर जल छानना चाहिए। जलगालन की यही विधि बतलाई गयी है। महाव्रती मुनिराज कहते हैं कि जल छानते समय अनछने पानी की एक बूँद भी नहीं गिरना चाहिये क्योंकि एक बूँद में अनगिनत जीव होते हैं, ऐसी जिनवाणी की आज्ञा है। छन्ने से चींटी आदि न दबें, इस प्रकार रखते हुए जीवदया का प्रयत्न करना चाहिए। यद्यपि पानी बहुत लोग छानते हैं किन्तु जिनके चित्त में दया है वे जलगालन को करते हैं। सावधानी एवं विनयपूर्वक जिवाणी (जल छानने के बाद अवशिष्ट जीवादि) प्रयत्नपूर्वक जिस स्थान का जल है वहाँ पहुँचाना चाहिए। इस प्रकार जलगालन शुद्ध क्रिया करते हुए जीवरक्षा करता है तभी श्रावकव्रत को प्राप्त होता है।

जलगालन हेतु छन्ने (वस्त्र) का आकार - जिस वस्त्र से जल छानते हैं उसे छन्ना कहते हैं। पीयूष वर्ष श्रावकाचार में छन्ने का आकार बतलाते

हुए कहा है –

षट् त्रिंशदङ्गुलं वस्त्रं चतुर्विंशति विस्तृतम्।
तद्वस्त्र द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत्।।[१२]

अर्थात् 36 अंगुल लम्बे और 24 अंगुल चौड़े आकार वाले वस्त्र को दोहरा करके उसमें से जल छानना चाहिए।

यह छन्ना (26*24) दोहरा करने से 24 अंगुल लम्बा और 18 अंगुल चौड़ा होता है। यदि बर्तन का मुँह अधिक चौड़ा हो तो बर्तन के मुँह से तिगुना दोहरा छन्ना होना चाहिए। छन्ना, लट्टा या खादी का होना चाहिए। जल छानने के बाद छन्ना जिवाणी निकालकर तत्काल सुखा देनी चाहिए अन्यथा कुछ देर बाद ही उसमें बैक्टीरिया उत्पन्न होने लगेंगे।

जलगालन वस्त्र से ही करें, प्लास्टिक छन्नी या फिल्टर से नहीं – पानी छानने के लिए मोटे वस्त्र का ही उपयोग उचित है। कलफ, नील या माण्डयुक्त वस्त्र से भी पानी नहीं छानना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से कलफ, नील या माण्ड के जीव छने हुए पानी में पहुँच जायेंगे। अन्य रंग में रंगे वस्त्रों से जल नहीं छानना चाहिए। छन्ना चिकना नहीं होना चाहिए क्योंकि उसमें बैक्टीरिया उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है। आजकल कुछ आधुनिक गृहणियाँ प्रमादवश प्लास्टिक से बनी हुई छन्नी, टोंटी या फिल्टर से शुद्ध या छाने गये जल को जीवहित मान लेती हैं, किन्तु यह उचित नहीं हैं क्योंकि इन यन्त्रों (साधनों) से कचरा (मैला) तो साफ हो सकता है किन्तु जीवों का रोका जाना असंभव है अत: विचारपूर्वक वस्त्र से ही विधिपूर्वक छानना चाहिए। ध्यान रखें कि पानी छानने का उद्देश्य मात्र जीवों से स्वयं का बचाव नहीं बल्कि जल में सम्मिलित जीवों की रक्षा भी है। छन्नी या फिल्टर में यह संभव नहीं है। फिल्टर में तो जिस वर्तुल दण्डों का प्रयोग किया जाता है उनमें भी निरन्तर गीलेपन के कारण अनेक जीव पड़ जाते हैं अत: उससे जल शुद्धि कैसे संभव है?

छने हुए जल की मर्यादा – रत्नमाला के अनुसार –

मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहर द्वयम् ।

उष्णोदकमहोरात्रं ततः सम्मूर्च्छन भवेत् ।।[१३]

अर्थात् छना हुआ जल एक मुहूर्त (48 मिनिट), प्रासुक (छानने के बाद उबला हुआ) जल दोपहर तक और अत्यधिक गर्म किया हुआ जल दिन-रात अर्थात् आठ पहर (24 घंटे) तक चलता है। इसके पश्चात् इसमें सम्मूच्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

छने हुए जल को 63 डिग्री तापमान पर आधा घंटे तक या 80 डिग्री तापमान पर 3 मिनिट तक गरम किया जाय तभी वह प्रासुक (शुद्ध) होता है। 'प्रासुक जल की मर्यादा 12 से लेकर 24 घंटे तक होती है जबकि बिना प्रासुक जल की मर्यादा 48 मिनिट ही है। जल में इश्चिरिचिया कोलाई एवं बलोस्ट्रिडयम नामक जीवाणु अधिसंख्य मात्रा में होते हैं जो उक्त अवधि के बाद पुनः सक्रिय हो जाते हैं।[१४]

जल में अनेक सूक्ष्म जीव एवं अनेक अशुद्धियां होती हैं, जल की कुछ भौतिक अशुद्धियाँ तो वस्त्र से छानने के बाद दूर हो जाती हैं, कुछ जीव भी इस प्रक्रिया द्वारा जल से पृथक् किये जा सकते हैं किन्तु जल की शुद्धि वस्तुतः जल को उबालने से होती है। छने हुए जल को अग्नि पर उबालने से जल की सभी प्रकार की अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं और जल पूर्ण शुद्ध होकर निर्मल बन जाता है।

यदि जल के छह घण्टे के अन्दर ही उपयोग में लाना हो तो छने हुए जल में लौंग या जीरा आदि पीसकर मिला देना चाहिए जिससे कि उसका रंग बदल जाये किन्तु ऐसा जल साधुओं के योग्य तब तक नहीं होता तब तक कि उसे गर्म नहीं किया गया हो।

साधुओं के लिए प्रासुक जल - साधुओं के लिए अच्छी तरह गर्म किया हुआ (खौलाया हुआ) जल ही पीने योग्य होता है। मात्र छना हुआ जल उनके योग्य नहीं होता जब तक कि उसे उबाल नहीं लिया जाये। ऑस्मोसिस, अल्ट्रावायलेट लाइट और हाइड्रोजन पराक्साइड प्रमुख हैं। आज जल के रि-साइकिलिंग पर भी जो दिया जा रहा है किन्तु इस जल को पीने योग्य नहीं माना जाता है बल्कि यह कृषि तथा औद्योगिक इकाइयों की धुलाई आदि के काम में लिया जाता है।

आर. ओ. के पानी में मिनरल्स की कमी हो जाती है अतः ऐसा पानी शरीर के लिए कम लाभदायक रहता है। अतः जैन धर्म सम्मत वस्त्र से छने हुए शुद्ध किये गये जल का उपयोग ही उचित है। हमें सदा ध्यान रहे कि **वस्त्रपूतं पिवेज्जलम्।**

सन्दर्भ-सूची -

१. रहीम : रहीम रचनावली, दोहा
२. नई दुनिया (दैनिक समाचार पत्र, इन्दौर) दि. 13-3-1999
३. सर्वोपयोगि श्लोक संग्रह, पृ. 16
४. व्रत विधान संग्रह, पृ. 31 पर उद्धृत
५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 2/325
६. रयणासार-टीका - आचार्य श्री ज्ञानभूषण, पृ. 138
७. सांगारधर्मामृत - पं. आशाधर, 2/14
८. लाटी संहिता, 2/23
९. श्रावकधर्म संहिता - दरयावसिंह सोधिया, पृ. 55
१०. सागारधर्मामृत, 3/16
११. क्रियाकोष पं. दौलतराम, पृ. 244
१२. पीयूष धर्म श्रावकीचार, 1
१३. सर्वोपयोगि श्लोक संग्रह, पृ. 158
१४. जैन विज्ञान राष्ट्रीय संगोष्ठी-95, (सहारनपुर) में प्रकाशित डॉ. अशोक जैन, ग्वालियर का आलेख, पृ. 58।

- डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन
प्रचारमंत्री- अ.भा.दि.जैन शास्त्रि परिषद्
ए-27, नर्मदा विहार,सनावद
(खरगौन) म.प्र. मो.9926055754

प्राच्य जैन शिक्षण संस्थाओं का संरक्षण एवं संवर्द्धन

- प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

संस्कार प्रणेता ज्ञान योगी पूज्य मुनि श्री 108 सौरभ सागर जी महाराज के सान्निध्य में आयोजित **जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान** विषय पर समसामयिक विद्वत्संगोष्ठी स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है क्योंकि वर्तमान में ऐसे विषयों पर चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है। मेरे आलेख का विषय भी **वर्तमान में प्राच्य जैन शिक्षण संस्थाओं की ज्वलन्त समस्याओं के समाधान** से सम्बन्धित है। इन समस्याओं के समाधान के लिए वही मुनिराज मार्गदर्शक बन सकते हैं जो ज्ञान एवं संस्कारों के प्रेरक है। मैं एक ऐसे महान तपस्वी के उपकारों को स्मरण करना चाहता हूँ जिन्होने समाज को संस्कार और महान विद्वान् दिये है। मंच पर विराजमान वरिष्ठ विद्वान् उन्हीं की देन है। ऐसे महान सन्त गणेशप्रसाद वर्णीजी थे। जिन्होंने अपनी साधना और तपस्या के बल पर पूरी समाज को संस्कारित एवं संगठित करने के लिए और विद्वान् तैयार करने के लिए गाँव-गाँव में पाठशालायें और प्रमुख शहरों में उच्च शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। उस समय कतिपय विद्वानों एवं श्रेष्ठियों का भी शिक्षण संस्थाओं के संस्थापन एवं संवर्धन में महान योगदान रहा है।

समाज को संस्कारित करने और उसकी संस्कृति की समुन्नति के लिए चार स्तम्भ प्रमुख रूप से सहायक है। जिसमें प्रथम जिनालय, द्वितीय निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरू, तृतीय साहित्य और चतुर्थ स्तम्भ के रूप में शिक्षण संस्थायें हैं।

शिक्षण संस्थायें दो प्रकार की है। एक वे शिक्षण संस्थायें हैं जो लौकिक शिक्षा प्रदान करती है और दूसरी वे शिक्षण संस्थायें जो लौकिक शिक्षा के साथ-साथ जैन धर्म, दर्शन, संस्कृत साहित्य आदि विषयों और

प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन कराती है। कुछ विश्वविद्यालयों में भी इन विषयों का अध्ययन कराया जाता है। यह सर्वविदित है कि किसी राष्ट्र और समाज की सर्वांगीण समुन्नति में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसके बिना न लौकिक उन्नति हो सकती है और न अलौकिक (पारमार्थिक)। जैन समाज भारतीय समाज का गौरवशाली अंग है। **एक बार आचार्य विनोभाभावे ने एक सभा में कहा था कि दूध में शक्कर का जो स्थान है वही स्थान जैन समाज का भारतीय जनता के बीच है।** जैनधर्म का मूल साहित्य प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में निबद्ध है। अत: इसके समीचीन अध्ययन के बिना जैन धर्म, दर्शन एवं साहित्य का गहन अध्ययन करना कठिन है।

प्राच्य विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन हेतु नवीन शिक्षण संस्थायें तो प्रारम्भ नहीं हो रही और न ही कोई इसमें रूचि ले रहा है। विगत 135 वर्षों में 18 प्राच्य जैन शिक्षण संस्थायें प्रारम्भ हुई थी जिनकी सूची निम्न प्रकार हैं -

भारत की प्रमुख जैन संस्कृत प्राच्य शिक्षण संस्थायें एवं अध्ययन सुविधाएँ -

1. श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर (राज.)
2. श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी (उ.प्र.)
3. गुरू गोपालदास वरैया दिग. जैन संस्कृत महाविद्यालय, मुरैना (म.प्र.)
4. श्री गणेशप्रसाद वर्णी दिग. जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर (म.प्र.)
5. श्री समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय, दिल्ली
6. श्री पार्श्वनाथ दिग. जैन संस्कृत महाविद्यालय, बरुआसागर, (उ.प्र.)
7. श्री महावीर दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, साढूमल, ललितपुर (उ.प्र.)
8. श्री शान्तिनाथ दि. जैन संस्कृत महावि., आहारजी, टीकमगढ़ (उ.प्र.)
9. श्री गुरुदत्त दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय, द्रोणगिरि, छत्तरपुर (म.प्र.)
10. श्री दिगम्बर जैन संस्कृत शिक्षण महाविद्यालय, कटनी (म.प्र.)
11. श्री नाभिनन्दन दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय, बीना, सागर (म.प्र.)

12.श्री दिगम्बर जैन वीर संस्कृत विद्यालय, पपौरा जी, टीकमगढ़ (म.प्र.)
13.श्री स्याद्वाद्व सिद्धान्त संस्कृत विद्यालय, ललितपुर (उ.प्र.)
14.श्री दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय, हस्तिनापुर, मेरठ (उ.प्र.)
15.श्री दिगम्बर जैन संस्कृत गुरूकुल, मढ़ियाजी, जबलपुर (म.प्र.)
16.श्री दि. जैन आदर्श महिला संस्कृत महाविद्या., श्रीमहावीरजी (राज.)
17.श्री कुंदकुंद दिग. जैन संस्कृत विद्यालय, राजाखेड़ा, धौलपुर, (राज.)
18.श्री शान्तिवीर जैन गुरुकुल, जोबनेर, जयपुर (राजस्थान)

उक्त संस्थाओं में से 3-4 संस्थायें ही ब-मुश्किल येन-केन प्रकारेण चल रही है, वे भी बन्द होने के कगार पर है जो समाज के लिए चिन्तन का विषय है। यदि ये शिक्षण संस्थायें बन्द हो गयी तो प्रौढ़ पाण्डित्य का तो अभाव हो ही जायेगा और साथ में लगभग 20 विश्वविद्यालय एवं अनुसंधान केन्द्रों में प्रचलित विषयों को अध्यापन कराने वाले विद्वान् भी उपलब्ध नहीं होगें। जिससे परिणाम स्वरूप विश्वविद्यालयों में जैन दर्शन एवं प्राकृत के पद भी समाप्त हो जायेंगे जिससे आगे चलकर समाज के लिए अन्धकार ही अन्धकार नजर आयेगा। वर्तमान में जो विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन एवं शोध संस्थाओं में अनुसन्धान कार्य चल रहे हैं। उनकी सूची निम्न प्रकार हैं -

विश्वविद्यालयों में जैन विद्या एवं प्राकृत विषय का अध्ययन एवं अनुसंधान -

१. काशी हिन्दु विश्वविद्यालय वाराणसी (उ.प्र.) में जैनदर्शन, प्राकृत एवं जैन विद्या का अध्ययन।
२. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.) में श्रमण विद्या संकाय में अध्ययन-अध्यापन।
३. हरदेवदास महाविद्यालय, आरा (बिहार) में जैन विद्या का अध्ययन अनुसन्धानात्मक कार्य।
४. जैन शोध संस्थान, बिजनौर (उ.प्र.) में जैन विद्या का अध्ययन अनुसन्धानात्मक कार्य।
५. लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली में जैन विद्या का

अध्ययनअनुसन्धानात्मक कार्य।

६. केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर (राजस्थान) में जैन विद्या का अध्ययन- अनुसंधानात्मक कार्य।

७. उत्कल विश्वविद्यालय, भूवनेश्वर (उड्डीसा) जैन चेयरमैन जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

८. प्राकृत एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

९. कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) प्राकृत विभाग में जैन विद्या का अध्ययन।

१०. कला संकाय प्राकृत विभाग, सोलापुर (महाराष्ट्र) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

११. राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान) जैन अनुशीलन केन्द्र, जयपुर में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

१२. मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर (कर्नाटक) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

१३. प्राकृत शोध संस्थान, श्रवणबेलगोला, (कर्नाटक) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

१४. मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

१५. जगद्गुरू रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान) श्रमण विद्या संकाय में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

१६. श्री अवधेश प्रतापसिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

१७. श्री दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.) में जैन विद्या का अध्ययन- अनुसन्धानात्मक।

१८. श्री जैन विद्या शोध संस्थान, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) में जैन प्राकृत विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

१९. श्री कुन्दकुन्द विद्यापीठ, इन्दौर (म.प्र.) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

२०. नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र) में जैन विद्या का अध्ययन-अनुसन्धानात्मक कार्य।

उक्त संस्थाओं में छात्रों की संख्या नगण्य होने के कारण वहाँ अध्यापन कराने वाले प्राध्यापकों- प्रोफेसर्स को भी चिन्ता का विषय है। इस विषय में विद्वानों के अतिरिक्त भारतीय स्तर की दो संस्थायें शास्त्री परिषद् एवं विद्वत्परिषद ने भी अनेक प्राच्य शिक्षण संस्थाओं के ह्रास पर प्रस्ताव पारित किये परन्तु इस दिशा में कुछ भी प्रयास नहीं हुये। वर्तमान में १३५ वर्ष प्राचीन श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर, ११५ वर्ष प्राचीन श्री स्याद्वाद्व महाविद्यालय वाराणसी, श्रीगणेशवर्णी संस्कृत महाविद्यालय सागर, सिद्धान्त महाविद्यालय मुरैना, शान्तिनाथ दिगम्बर जैन विद्यालय अहार जी एवं श्री महावीर दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय साढूमल प्रचलित है। इन संस्थाओं की भी स्थिति दयनीय है। जिस महाविद्यालय में जैन दर्शन के 350 विद्यार्थी अध्ययन कर रहे हैं उनमें छात्र संख्या पर्याप्त है। उसमें सहयोग श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान सांगानेर एवं टोडरमल स्मारक का है। उक्त दोनों संस्थाओं का छात्रों की दृष्टि से सहयोग होने पर भी वहाँ के अध्यापन कराने वाले शिक्षकों का स्थायित्व नहीं है। स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस, सागर, मुरैना, अहारजी आदि संस्थाओं में छात्र संख्या नगण्य है। इन प्राच्य शिक्षण संस्थाओं की स्थिति दिन-प्रतिदिन क्यों खराब हो रही हैं? वे बिन्दु निम्न प्रकार है -

१. सरकार द्वारा हमेशा के लिए अनुदान बन्द करने के कारण अथवा आंशिक अनुदान प्राप्त होने से संस्थाओं की आर्थिक स्थिति कमजोर होना।

२. शिक्षकों को पर्याप्त वेतन एवं सुविधाओं का अभाव।

३. संस्थाओं में कार्यरत कर्मचारियों के भविष्य की असुरक्षा।

४. शिक्षण संस्थाओं के प्रति समाज की उपेक्षा दृष्टि।

५. पूज्य मुनिराजों एवं गणमान्य विद्वानों के द्वारा पर्याप्त महत्व नहीं देना।
६. वर्तमान व्यवस्थाओं के अनुरूप छात्रों एवं शिक्षकों के आवासीय सुविधाओं का अभाव।
७. आधुनिक, मनोवैज्ञानिक एवं व्यवसाय-परक शिक्षा का अभाव।

उक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षण संस्थाओं के संवर्धन एवं संरक्षण हेतु निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है –

1. जैन शिक्षण संस्थाऐं अल्पसंख्यक घोषित हो चुकी है, तदनुरूप सरकार से आर्थिक अनुदान प्राप्त करना।
२. जैन समाज के प्रभावी समारोहों से प्राप्त आर्थिक आय को (न्यूनतम 25 प्रतिशत) शिक्षण संस्थाओं को अनिवार्य रूप से प्रदान करना।
3. प्रत्येक शिक्षण संस्थाओं की वर्तमान महत्ता को देखते हुए न्यूनतम पाँच करोड़ का फण्ड ।
4. इन शिक्षण संस्थाओं में न्यूनतम द्वितीय एवं तृतीय ग्रेड के वेतनमान निर्धारित होना चाहिए एवं उन वेतनमानों पर समय समय पर महंगाई भत्ता भी देना चाहिए।
5. शिक्षकों का पीएफ अनिवार्य रूप से काटा जाना चाहिये, जिससे शिक्षकों का भविष्य सुरक्षित रहें।
6. शिक्षकों को आधुनिक आवासीय व्यवस्था भी उपलब्ध होनी चाहिए।
7. विद्वानों एवं प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा पूज्य मुनिराजों से निवेदन करना चाहिए कि उक्त संस्थाओं की व्यवस्थाओं में एक-एक संघ, एक-एक शिक्षण संस्था को आशीर्वाद अवश्य दें अर्थात् एक संघ एक शिक्षण संस्था के उन्नयन, संवर्धन एवं संरक्षण में महत्वपूर्ण अवदान दें।

इस आलेख से यह स्पष्ट है कि प्राच्य शिक्षण संस्थओं का ह्रास पूज्य मुनिराजों, विद्वानों और समाज के प्रमुख श्रेष्ठियों की उदासीनता के कारण हुआ है। यदि उक्त स्तम्भ इन संस्थाओं में दृढ़ता से और संकल्पपूर्ण निश्चय करें तो सभी संस्थाएं पुनर्जीवित और पल्लवित हो सकती है। इन संस्थाओं के चलते रहने से समाज में संस्कार और धर्म का संवर्धन

होगा, अन्यथा भविष्य अन्धकारमय ही होगा।

मुझे आशा है कि समाज इन शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से ज्ञान का प्रकाश फैलाकर जैन संस्कृति के उन्नयन में सहयोगी बनेगी।

-डॉ. शीतल चन्द जैन,
प्राचार्य श्री दिगम्बर जैन आचार्य
सांगानेर, जयपुर (राज)

बदलते परिवेश में धार्मिक संस्कारों की सुरक्षा के उपाय

-डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती', बुरहानपुर

आज का युग भौतिकवादी अर्थप्रधान युग है। जहाँ जो कुछ है वह अर्थ के लिए है, अर्थ के द्वारा है। अर्थ वर्तमान का सबसे बड़ा साध्य बन गया है, साधन तो वह है ही। दिन रात व्यक्ति इसी में लगा हुआ है कि वह कैसे अर्थार्जन करे? अर्थ ही उसकी चिन्ता है और अर्थ के लिए ही उसका चिन्तन है। वर्तमान में यह कहा जाने लगा है कि जिनके हाथों में अर्थशास्त्र होता है वह धर्मशास्त्र नहीं समझते।

इसके विपरीत एक दूसरी स्थिति भी है कि जहाँ अर्थ की बहुलता है, भोग के साधन असीमित हैं, किन्तु वे इनसे दूर होकर धर्म साधन कर रहे हैं। चैरिटी (परमार्थ) के लिए दान दे रहे हैं, अनेक शिक्षा और स्वास्थ्य के उपक्रम चला रहे हैं। माईक्रोसॉफ्ट के संस्थापक बिल गेट्स ने अपनी आय का लगभग 80 प्रतिशत दान कर दिया है। वे दूसरों को भी ऐसी ही प्रेरणा दे रहे हैं। उनकी प्रेरणा से विश्व के अरबपतियों ने एक चैरिटी संगठन बनाया है। उनका कहना है कि यदि आप अपने बच्चों को योग्य बनाना चाहते हैं तो उन्हें बिना कमाया हुआ धन मत दीजिये। बिना कमाया धन देने पर वे आलसी और विलासी हो जायेंगे। यहाँ हमें ऐसा प्रतीत होता है कि धन बहुत कुछ है किन्तु धन ही सब कुछ नहीं है। धर्म ही सब कुछ है इसके बिना कोई सुख नहीं है। अतः धार्मिक संस्कारों का बीजारोपण तथा उनका पालन मानव जीवन में अपेक्षित है।

हिन्दुओं में सोलह संस्कार होते हैं। अन्य धर्मों में भी धर्म और संस्कृति के संस्कार दिये जाते हैं। जैनधर्म भी अनेकानेक संस्कारों का

बीजारोपण करने की बात करता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि जैन कुल में जन्म लेने वाले बालक-बालिका को जन्म के 45 दिन के बाद जैन मन्दिर और जैन गुरु (साधु) के पास ले जाया जाता है। जहाँ उसे प्रथम धार्मिक संस्कार दिये जाते हैं। इन संस्कारों के अन्तर्गत उसे ओम् नमः सिद्धेभ्यः और णमोकार मन्त्र कान में सुनाया जाता है। सप्त व्यसनों के त्याग और अष्टमूलगुण के पालन की प्रतिज्ञा करायी जाती है। यही वह प्रथम बीजारोपण है संस्कारों का, जहाँ से बालक-बालिका धार्मिक संस्कारों से जुड़ता है।

सप्त व्यसन के त्याग के अन्तर्गत निम्नलिखित त्याग कराये जाते हैं-

1. मद्यपान का त्याग।
2. मांस भक्षण का त्याग।
3. जुआ खेलने का त्याग।
4. वेश्यागमन का त्याग।
5. चोरी करने का त्याग।
6. शिकार खेलने का त्याग।
7. परस्त्री सेवन का त्याग।

इन सप्तव्यसनों से बचने के लिए अष्टमूल गुणों का पालन करना आवश्यक होता है। ये अष्टमूलगुण इस प्रकार हैं-

1. मद्य त्याग
2. मांस त्याग
3. मधु त्याग
4. पंचउदुम्बर फलों (बड़, पीपल, पाकर, गूलर, कठूमर) का त्याग
5. मक्खन त्याग
6. रात्रि भोजन त्याग
7. अनछने जल का त्याग
8. जुआ खेलने का त्याग।

रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार -

मद्यमांस मधु त्यागैः सहाणु व्रत पंचकम् ।
अष्टौ मूल गुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।।[1]

अर्थात् मद्य, मांस, मधु का त्याग तथा पंच अणुव्रतों का पालन; ये अष्ट मूलगुण गृहस्थों को पालना चाहिए।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि सर्वप्रथम हिंसा के त्यागी को मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ने का विधान है, क्योंकि इनसे घोर हिंसा होती है। इन्हें अनिष्ट, दुस्तर और पाप का घर कहा है तथा यह भी कहा है कि इन आठों का त्याग करने पर ही सम्यग्दृष्टि जीव जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं। यथा –

मद्यं मांस क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैमोंतव्यानि प्रथममेव।
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य,
जिनधर्म देशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।[2]

ये आठ मूलगुण स्वभाव से या जैन कुल परम्परा से चले आते हैं। इनके बिना न सम्यक्त्व होता है और न व्रत, अतः इनका पालन अवश्य करना चाहिए। इस तरह जैन बना व्यक्ति निम्नलिखित क्रियाओं को करता है –

1. प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में उठकर पंच नमस्कार मंत्र पढ़ता है। मैं कौन हूँ? मेरा क्या धर्म है? मेरा क्या व्रत है? इस प्रकार से विचार करता है।

ब्राहगो मुहूर्त उत्थाय व्रतपञ्च नमस्कृतिः।
कोऽहं को ममधर्मः किं व्रतं चेति परामृशेतः॥[3]

2. प्रातः कालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर देव–शास्त्र–गुरु की अष्ट द्रव्य से पूजा करता है।

3. भगवान् अरहंत के सामने भावना भाता है कि –

दुःखक्षतिः कर्महतिः समाधिमरणं गतिः।
सुगतो बोधिलाभोऽर्हदगुण संपच्च सन्तु मे।।

अर्थात् मेरे दुःख नष्ट हो, कर्मो का विनाश हो, समाधिमरणपूर्वक गति हो। ज्ञान की प्राप्ति हो, अर्हद् गुणों की संपत्ति प्राप्त हो।

4. स्वाध्याय करना चाहिए।

5. भोजनोपरान्त व्यापार कर्म करना चाहिए। व्यापार के विषय में कहा है कि राजा हो तो माध्यस्थ भाव से न्याय करे। कर्मचारी हो तो अपने नियोक्ता एवं अधीनस्थ दोनों का हित साधते हुए कार्य करे। व्यापारी हो तो कमती तोलना, बढ़ती लेना, कम नापना आदि नहीं करे तथा जंगल आदि संबंधी क्रूर कर्मों से आजीविका न करे। व्यापार में होने वाले हर्ष-विषाद (लाभ-हानि) की स्थिति के विषय में कहा है कि -

निष्फलेऽलप फलेऽनर्थफले जातेऽति पौरुषे।
न विषीदेन्नान्यथा वा हृषेल्लीला हि सा विधेः।[४]

अर्थात् यदि पुरुषार्थ निष्फल हो जाये अर्थात् व्यापार में कुछ भी लाभ न हो या थोड़ा लाभ हो या अनर्थफल हो अर्थात् व्यापार में लगायी पूँजी ही डूब जाये तो खेद खिन्न नहीं होना चाहिए। इससे विपरीत होने पर अर्थात् यदि पुरुषार्थ सफल हो जाये, या प्रचुर लाभ हो तो भी हर्ष न करे क्योंकि पुरुषार्थ की सफलता या असफलता पूर्व उपार्जित पाप-पुण्य का खेल है।

6. भोजन अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्त्व और व्रतों को हानि न पहुँचाकर खरीदे गये जल, दूध आदि धान्य, ईंधन, शाक, फूल आदि के द्वारा कम से कम पाप हो, इस तरह से कर अपने शरीर का पोषण करे।[५]

7. रात्रि में एवं रात्रि में बने भोजन को ग्रहण नहीं करे। धर्म एवं आचार-विचार से हीन गृहस्थों के साथ लेन-देन, खान-पान का व्यवहार न करे।

8. सायंकाल आलोचनापाठ आदि पढ़कर सामायिक करे।

9. रात्रि में सुखपूर्वक विश्राम करे। विदुर नीति (3/67-68) में कहा है कि -

दिवसेनैव यत्कुयदि येन रात्रौ सुख वसेत्।
अष्टमासेन तत्कुर्याद् येन वर्षा सुखं वसेत् ।
पूर्वे वयसि तत्कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवने तत्कुयदि येन प्रेत्य सुख वसेत्।।[६]

अर्थात् मनुष्य को दिन में ऐसे कार्य करना चाहिए कि रात में

सुखपूर्वक सो सकें (और रात में ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जो सुबह किसी को मुँह न दिखा सके) वर्ष के आठ मास ऐसा उद्योग करना चाहिए कि वर्षा के चार मास में सुखपूर्वक रह सके। आयु के पूर्वार्द्ध में यानि युवाकाल में ऐसे कार्य करना चाहिए कि वृद्धावस्था सुखपूर्वक व्यतीत कर सके। पूरे जीवन भर ऐसे श्रेष्ठ आचरण करना चाहिए कि मरने के बाद अगला जन्म भी सुखपूर्ण रह सके।

ऐसा जीवन प्रत्येक जैन का होना चाहिए। संसार में सात सुख माने गये हैं –

पहला सुख निरोगी काया, दूजे घर में होवे माया।
तीजे हो कुलवंती नारी, चौथे होवे सुत आज्ञाकारी।
पंचमसुख हो सुन्दर वासा, षष्टम सुख हो सज्जन पासा।
सप्तम सुख हो मित्र घनेरे, ऐसे नर नहीं जग बहुतेरे।

इन सुखों की प्राप्ति का आधार जिन धर्म का पालन है। निरोगी काया औषधिदान, साधुओं के लिए आहारदान एवं उनकी वैयावृत्ति से आती है। सत्कार्य में दान का फल धनादिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। दूसरों को आश्रयदान देने से सुन्दर गृह मिलता है। मित्रों एवं साधर्मियों के प्रति वात्सल्य भाव रखने से सज्जन निकट रहते हैं, मित्रों का साहचर्य मिलता है। इसलिए प्रत्येक धार्मिक जैन के जीवन में इन बातों का समावेश अवश्य होना चाहिए।

'जैन' की तीन प्रमुख विशेषताएं है, जिनसे प्रायः सभी परिचित हैं –

1. देवदर्शन
2. रात्रि भोजन त्याग
3. बिना छने जल का त्याग।

इन्हें जोड़कर हमारे कुछ कर्तव्य भी निर्धारित किए गये; जो इस प्रकार है –

देवपूजागुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने-दिने।।

अर्थात् 1.देवपूजा 2. गुरु (मुनि) उपासना 3. स्वाध्याय 4.

संयम 5. तप 6. दान; ये छह कर्म गृहस्थ को प्रतिदिन करना चाहिए। उक्त शास्त्रीय, धार्मिक एवं नैतिक व्यवस्थाओं के मूल में धार्मिक संस्कार निहित हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक करना चाहता है उसे चाहिए कि वे अपने धार्मिक संस्कारों का संरक्षण करें क्योंकि **'न धर्मोधार्मिकैर्विना'**[७] धर्म धार्मिक जनों के बिना नहीं होता। आचार्य श्री समन्तभद्र की इस बात को हमें सदा हृदयंगम करना चाहिए।

प्रत्येक धार्मिक/अधार्मिक व्यक्ति को यह बात गांठ बांध लेना चाहिए कि बिना पुण्य के कोई भी उपलब्धि नहीं होती। पुण्य के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। नीतिकारों ने पुण्य के छह अंकुर माने हैं –

श्रेष्ठ संगौ श्रुतेरंगौ सुध्याने धी धृतिर्मतिः।
दानेशक्तिः गुरौर्भक्तिः एते षट्पुण्यअंकुरः ।।

अर्थात् 1. श्रेष्ठ संगी (सत्संगति), 2. श्रुतेरंगौ (स्वाध्याय), 3. सुध्याने धी (धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान, आज्ञा, अपाय, विपाक, विचय आदि ध्यानों में बुद्धि लगाना),4. धृतिर्मतिः (धैर्ययुक्त बुद्धि), 5. दानेशक्तिः (औषधि, शास्त्र, अभय और आहार दान में शक्ति लगाना), 6. गुरौर्भक्तिः (गुरु भक्ति); ये छह पुण्य के अंकुर हैं।

जो व्यक्ति इन छह कार्यों को करता है वह अपने धर्म को, धार्मिक संस्कारों को सुरक्षित रखता है।

आज के समय में अव्यवस्थित दिनचर्या तथा प्रमाद ने व्यक्ति को धार्मिक संस्कारों से दूर किया है। यदि वह आज भी कुछ उपाय अपना ले, नियम/संकल्प पूर्वक उनका पालन करे तो धार्मिक जीवन बन सकता है। कुछ उपाय इस प्रकार हैं –

1. दिन की शुरुआत देवदर्शन से करें।
2. देवदर्शन के उपरान्त ही स्वल्पाहार करें। यदि देवदर्शन के बाद समयाभाववश घर वापिस आना संभव नहीं हो तो टिफिन लेकर ही देवदर्शन के लिए जायें।
3.अपने व्यवसाय या कार्य स्थल पर छना एवं गर्म किया हुआ जल बोतल में लेकर जायें।

ताकि अनछने जल का उपयोग न करना पड़े।

4.अपने व्यवसाय या कार्य स्थल पर घर का बना हुआ शुद्ध भोजन लेकर जाएं ताकि बाजार के दूषित एवं प्रदूषित भोजन से बचा जा सके।

5.धन कमाते समय या व्यवसाय करते समय इस बात का ध्यान रखें कि हिंसा न हो, अकारण झूठ न बोलना पड़े, आपके व्यवहार से किसी का दिल न दुखे।

6.अपनी प्रवृत्ति दानमय बनाये रखें। जरूरतमंदों की सहायता करें।

7.अतिथि सत्कार करें, साधुओं को अवकाश होने पर आहार करायें। कभी-कभी ऑफिस आदि से अवकाश लेकर भी यह कार्य करें।

8.अपने परिवार सहित मन्दिरों, तीर्थों, गुरुओं के दर्शन हेतु यात्रा करें।

9.प्रतिदिन शास्त्र स्वाध्याय करें।

10.अपने परिवार में कुछ समय के लिए धर्म चर्चा करें। धार्मिक प्रश्न एक-दूसरे से पूछे, उनके सही उत्तर दें। छोटों की पुरस्कृत एवं प्रोत्साहित करें।

11.अपने मित्रों को व्यसनमुक्ति तथा शाकाहार अपनाने के लिए प्रेरित करें ताकि उनके साथ रहने पर आपकी धार्मिकता सुरक्षित रहे। अहिंसक मित्रों से मेलजोल बढ़ायें।

12.किसी भी स्थिति में मद्यपान, मांसाहार आदि न करें और जो ऐसा करते हैं उनसे दूरी बनाये रखें। यदि दूरी बनाये रखना संभव नहीं हो तो उनके प्रति जितना कार्य हो उतना ही व्यवहार रखें। माध्यस्थ वृत्ति अपनाएं।

13.चिकित्सकों के द्वारा शाकाहार के लिए प्रेरित किया जाता है। आज विज्ञान भी योगदर्शन की महत्ता को स्वीकार कर रहा है। अत: अपना जीवन संयमित बनायें।

14.बाजार से जो भी वस्तु खरीदें उस पर लिखे पदार्थों की सूची को देखें कि इनमें कोई अभक्ष्य पदार्थ तो नहीं है। खान पान के विषय में अतिरिक्त सावधानी की आवश्यकता होती है क्योंकि- जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पियो पानी, वैसा होवे वानी।

15.अपने व्यवहार का एक चिकित्सक की तरह परीक्षण करें और देखें कि आपने धार्मिक बनकर क्या पाया है और अधार्मिक बनकर क्या खोया है ?

16.जीवन में आत्मानुशासन बहुत आवश्यक है। आपको कोई रोकने वाला नहीं है। ऐसी स्थिति में जरूरी है कि आप स्वयं अपने नियंत्रक बनें।

17.अपनी प्रवृत्ति को संयमित और संतोषी बनाए।

18.जिन धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में आपको कोई दुविधा या असुविधा हो उनका अनुभवात्मक परीक्षण करें। अन्य अनुभवियों से परामर्श करें।

19.अपने जीवन में किसी साधु या साधुवृत्ति के महापुरुष को अपना पारिवारिक गुरु बनायें। ताकि संशय की स्थिति बनने पर आप अपनी बात उनके समक्ष रख सके और उनकी सलाह पर चल सके।

20.आज अपने साथ प्रकृति संरक्षण, पर्यावरण संरक्षण, ऊर्जा संरक्षण, स्त्री-पुरुष संरक्षण, धन-धान्य संरक्षण, परिवार संरक्षण और राष्ट्र संरक्षण की आवश्यकता है। यह सब बिना आपके धार्मिक बने संभव नहीं है। इसलिए धन की अपेक्षा धर्म को प्रोत्साहित करें क्योंकि -

धन यदि गया, गया नहीं कुछ भी।
स्वास्थ्य गया कुछ जाता है।
चारित्र गया यदि मनुष्य का,
तो सबकुछ ही लूट जाता है।

21.आप ऐसा कोई कार्य न करें जिसके विषय में जानकारी न हो। शेयर आदि भी खरीदते समय उनसे होने वाली हिंसा-अहिंसा का विचार करें और अपने आपको सक्षम बनायें और यह याद रखें कि यदि आप धर्म का संरक्षण करेंगे तो धर्म आपका संरक्षण करेगा **धर्मो रक्षति रक्षितः।**

सफर में धूप तो होगी, जो चल सको तो चलो।
सभी हैं भीड़ में तुम भी, निकल सको तो चलो।
यहाँ कोई किसी को रास्ता नहीं देता।
जो तुम खुद सँभल के चल सको तो चलो।

सन्दर्भ-सूची -

१. आचार्य श्री समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 66
२. आचार्य श्री अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 61 एवं 74
३. पं. आशाधर जी : सागारधर्मामृत, अध्याय 6/1
४. वही, 6/16
५. वही, 6/18
६. विदुर नीति, 3/67-68
७. आचार्य श्री समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 26

-डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती',
एल-६५, न्यू इंदिरा नगर, बुरहानपुर म.प्र.

जैनाचार व स्वास्थ्य विज्ञान

- डॉ. सुशील जैन, मैनपुरी

जैनाचार का तात्पर्य है जिन भगवान द्वारा प्ररूपित वह आचरण, जो उनके अनुयायियों को पालन करना चाहिये, जिससे वह वीतरागता के पथ पर आगे बढ़कर उन्हीं की तरह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें। विभिन्न श्रावकाचार ग्रन्थों में वर्णित यह जैनाचार तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में खिरा, गणधरों ने ग्रहण कर आचार्यों को बताया तथा परवर्ती आचार्यों ने इसे लिपिबद्ध कर जिन के अनुयायियों हेतु उसे अपने जीवन में आचरण करके भी दिखाया और लोगों को पालने का उपदेश भी दिया। इस प्रकार इस समस्त जैनाचार का सम्बन्ध तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि से या केवलज्ञान से है। केवलज्ञान में सब कुछ यथार्थ ही झलकता है, अतः जो भी जैनाचार वर्णित है, वह यथार्थ उपयोगी व पालनीय है।

स्वास्थ्य विज्ञान (मेडीकल साइंस) विज्ञान की वह शाखा है कि जिसमें स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर विचार किया जाता है। आधुनिक विज्ञान केवलज्ञान से सम्बन्धित नहीं रखता, वह तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय है। वैज्ञानिक जो प्रत्यक्ष देखते हैं अथवा प्रयोगशाला में जिसे करके दिखा सकते हैं, उसे ही स्वीकार करते हैं। विज्ञान का विषय एक सीमा लिये हुये तथा तात्कालिक है, उसमें आगे-पीछे परिवर्तन भी सम्भव है। उदाहरण के लिये बजोंलियस ने अणु (मौलीक्यूल) को सबसे सूक्ष्म माना तो फिर डॉल्टन ने उस अणु को दो परमाणु (एटम) में विभाजित कर दिया, जिसे बाद में इलैक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रोन में भी विभाजित कर दिया गया, अतः विज्ञान का कथन अन्तिम नहीं होता।

पिछले कुछ दशाब्दियों में विज्ञान ने बहुत प्रगति की है। हां ये एक अलग विषय है कि वह उपयोगी के साथ-साथ विनाश का कारण

भी बन रहा है। आज का युवक धार्मिक सिद्धान्तों की भी वैज्ञानिक पुष्टि चाहता है और जब वह धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरते हैं तो उसे लगता है कि अब वह ठीक है।

प्राचीन काल में लोग अत्यन्त श्रद्धा व आस्थावान् होते थे तथा भक्ति पूर्वक धर्मगुरु/ मुनिराज आदि जो भी आज्ञा देते थे, उसे पूर्ण श्रद्धा से स्वीकार कर जीवन में आचरण करने लगते थे परन्तु आज लोग हर बात को तर्क और कसौटी कसने में पहले आगे हैं, चाहे उसे जीवन में आचरण करें या ना करें।

जैनाचार को अगर हम वैज्ञानिक कसौटी पर कसने की कोशिश करें तो प्रायः ऐसा लगता है कि सभी जैनाचार विज्ञान के अनुकूल और अत्यन्त उपयोगी हैं।

जैनाचार का प्रारम्भ निम्न तीन चिन्हों से होता है –

१. नित्य देव दर्शन,

२. पानी छानकर प्रयोग करना,

३. रात्रिभोजन का त्याग।

1. नित्य देव दर्शन – धार्मिक दृष्टि से देखें तो देव–शास्त्र–गुरु का दर्शन, सान्निध्य रत्नत्रय की उत्पत्ति में कारण है। इनके दर्शन से पाप प्रकृतियों का क्षय होकर पुण्य की प्राप्ति होती है, जिससे लोगों के कारण सहज ही अनुकूल हो जाते हैं। पहले वैज्ञानिक प्रार्थना या भक्ति को कोई महत्व नहीं देते थे परन्तु अब वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिया है कि रोग मुक्ति में प्रार्थना का बहुत बड़ा महत्व है। अभी हाल ही में अमेरिका व अन्य कई पश्चिम देशों में भी इस सन्दर्भ में प्रयोग किये गये। रोगियों के दो वर्ग बनाये गये। प्रथम वर्ग में केवल औषधि दी गयी, द्वितीय वर्ग में औषधि के साथ–साथ १५ मिनिट से ०१ घण्टा तक प्रार्थना कराई गई। लम्बे परीक्षणों के बाद जो निष्कर्ष निकाले गये, उससे चिकित्सा वैज्ञानिकों ने कहा कि ये कहना तो मुश्किल है कि ऐसा क्यों हुआ? पर ये अवश्य है कि दूसरे वर्ग के रोगियों को जिन्हें प्रार्थना करायी गई थी, उन्हें पहले वर्ग की अपेक्षा ज्यादा और शीघ्र लाभ हुआ। मैंने स्वयं अपने जीवन में

अनेक रोगियों पर इसका प्रयोग किया है, जिसमें दो रोगियों का उल्लेख कर रहा हूँ। एक चार–पाँच वर्ष के बालक ने मिट्टी का तेल पी लिया और वह दो दिन से बिल्कुल बेहोश था। विभिन्न डाक्टरों व जिला चिकित्सालय में मना कर दिया। मुझे भी असम्भव लग रहा था, ऐसे में उसे भक्तामर पढ़कर जल पिलाया गया और वह बालक लगभग तीन घण्टे में उठकर बैठ गया। ऐसा ही एक अन्य केस में एक युवती के एक्सरे पर भोपाल मेडीकल कालेज के विभागाध्यक्ष ने स्पष्ट लिखकर दे दिया था – She can not move in her life. इस रोगी पर भी प्रार्थना व भक्तामर का प्रयोग किया गया। आश्चर्य की बात है कि वह युवती 28वें दिन जीना उतर गयी। जब उसे उन्हीं डाक्टर को दिखाया गया तो उन्होंने कहा कि यह दवा से तो ठीक नहीं हो सकती, किसी की दुआ लगी हो तो अलग बात है। अभी हाल ही में व्हाट्स एप पर एक कार्डियोलोजिस्ट ने एक हृदय रोगी के ऑपरेशन का वर्णन करते हुये लिखा है कि ऑपरेशन लगभग असफल हो गया था, वहाँ पर प्रार्थना के अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं था। मैंने जीवन में पहली बार अपने ऑपरेशन थियेटर में प्रार्थना की और मैं दंग रह गया कि उस रोगी का हृदय कार्य करने लगा, तब से उन्होंने नियम बना लिया कि ऑपरेशान के पहले प्रार्थना करनी ही है ।

2. पानी छानकर पीना – पानी की शुद्धि को वैज्ञानिकों ने अपरिहार्य मान लिया है और उसी के फलस्वरूप पानी को शुद्ध करने की अनेक विधियाँ आज हमारे समक्ष हैं। जिनमें आधुनिकतम है – वाटरफिल्टर्स या प्योरीफाइड्र। जैनाचार में मोटे सूती कपड़े से जिसमें सूर्य की किरणें प्रवेश न कर सके, ऐसे दोहरे कपड़े से पानी छानने का विधान है। प्रक्रिया दोनों की अलग–अलग है पर ये दोनों स्वीकार करते हैं कि पानी की शुद्धि आवश्यक है। जैनाचार में पानी छानने के साथ विलछन करना भी आवश्यक है, जो थैली या फिल्टर में नहीं हो पाता, अतः छन्ने से छानने की प्रक्रिया ही उचित है।

3. पानी का गरम करना – जैनाचार में सामान्य गरम किये पानी की

मर्यादा 12 घण्टे तथा उबले पानी की मर्यादा 24 घण्टे मानी गयी है। मुनिराज और व्रतीगण उबला या गरम किया हुआ पानी ही लेते हैं। आयुर्वेद तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान दोनों ही पानी को उबालने की प्रक्रिया स्वीकार करते हैं। आयुर्वेद में उबाले गये पानी के अनेक गुण वर्णित हैं और उसे स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक बताया गया है। ज्वर, टायफाइड, पीलिया, बमन, अतिसार, कोलरा, विभिन्न संक्रामक रोग चिकित्सा विज्ञान भी रोगी को पानी उबालकर कर ही प्रयोग करने के स्पष्ट निर्देश देते हैं। कृमि रोगों से बचाव के लिये भी पानी को उबालने की सलाह दी जाती है। विभिन्न ओ.आर.एस. पाउडर तथा ड्राई सीरप पर स्पष्ट उल्लेख होता है कि पानी को उबालकर व ठण्डा कर मिलायें । उबला पानी लघु, हल्का, सुपाच्य, तृषा को कम करने वाला संक्रमण से रहित हो जाता है।

चीन व जापान में भोजन के बाद गरम चाय या कॉफी पीने की परम्परा है। हाल ही में वैज्ञानिकों का ध्यान जब इस ओर गया तो उन्होंने इस पर खोज की। वैज्ञानिकों का कहना है कि भोजन के बाद ठण्डा लेने से भोज्य सामग्री में प्रयुक्त घी जम जाता है तथा वह जमा हुआ घी रक्तकोशिकाओं को रक्तवाहिनियों में अवरोध उत्पन्न करता है। शीतल पानी के प्रयोग से आमाशय की जठराग्नि मन्द हो जाती है, अतः पाचन ठीक नहीं होता। अतः गरम पानी का प्रयोग स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि से उचित है।

4. रात्रि भोजन त्याग – जैनाचार रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग का वर्णन तो करता ही है, अपितु वह तो रात्रि में भोजन निर्माण का भी निषेध करता है। आज का युवा वर्ग कहता है कि ये नियम उस समय का है जब प्रकाश या बिजली नहीं होती थी। आज तो अधिक से अधिक प्रकाश है परन्तु यहाँ यह समझना होगा कि सूर्य का प्रकाश व विद्युत् प्रकाश एक-सा नहीं है। हम सबको अनुभव ही है कि दिन में सूर्य के प्रकाश में मच्छर, जीव-जन्तु बहुत कम होते हैं परन्तु रात्रि होते ही नाना प्रकार के जीवन बाहर आ जाते हैं। सूर्य के प्रकाश में विभिन्न प्रकार की

प्रकाश किरणें होती हैं, जिनमें अल्ट्रावायलेट रेज प्रमुख हैं। ये किरणें रोग निवारक, रोग प्रतिरोधक होती हैं और इनके माध्यम से शरीर में स्वत: ही विटामिन डी का संश्लेषण होता है। प्रात: सूर्योदय के 15 मिनट में खड़े होना अनेक प्रकार के रोगों से मुक्ति में सहायक है। वनस्पति विज्ञान में आपने प्रकाश संश्लेषण फोटो सिंथेसिस की क्रिया पढ़ी होगी, जिसके अनुसार जिन पौधों में क्लोरोफिल होता है, वह सूर्य के प्रकाश में अपना भोजन निर्माण स्वयं करते हैं तथा हरे भरे रहते हैं। यदि इन पौधों को अंधेरे में रख दिया जाये तो उनमें प्रकाश संश्लेषण की क्रिया न होने के कारण वे मुरझाकर पीले पड़कर झड़ जाते हैं। प्रयोग करते हुये ऐसे पौधों को सूर्य के प्रकाश के स्थान पर विद्युत् प्रकाश में रखा गया तो भी उनमें फोटो सिंथेसिस की क्रिया नहीं हुई। इससे स्पष्ट है कि सूर्य प्रकाश का मुकाबला विद्युत प्रकाश नहीं कर सकता।

आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान में पाचन संस्थान की तुलना कमल से की गई है तथा चरक आदि ऋषियों ने लिखा है कि **जिस प्रकार सूर्यास्त होने पर कमल बन्द हो जाता है उसी प्रकार सूर्यास्त होने पर पाचन संस्थान भी बन्द हो जाता है, सिकुड़ जाता है, जिससे भोजन के पचाने वाले रसों की उत्पत्ति समुचित मात्रा में नहीं होती।**

चिकित्सा विज्ञान की यह भी अवधारणा है कि शरीर पाचन के लिये **सोने से लगभग 03 घण्टा पूर्व भोजन कर लेना चाहिये,** जिससे उसका सुपाचन हो जाये। सोने पर आमाशय तथा आँत से निकलने वाले रसों तथा उनकी क्रिया बहुत कम हो जाती है, जिससे भोजन का पाचन सही नहीं हो पाता।

Early to bed and early to rise makes a child healthy, wealthy and wise.

वाली कहावत से जल्दी सोना ही उचित है। प्राय: सोने का समय 10 बजे माना गया है, उससे तीन घण्टा पूर्व अथति् 07 बजे तक भोजन का कार्य सम्पन्न हो जाना चाहिये। अत: देर रात्रि तक जागना,

टी0 वी0, केबिल, इन्टरनेट का प्रयोग हमारे स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाला हैं, अत: इससे बचना चाहिये।

5. भोजन की मर्यादा – जैनाचार में भोज्य सामग्री व भोजन की मर्यादा ऋतुओं के अनुसार अलग–अलग बतलाई गई है, उस मर्यादा के बाहर की भोज्य सामग्री का प्रयोग वर्जित बतलाया गया है। यह निश्चित रूप से चिकित्सा विज्ञान की 'एक्सपायरी डेट' से सम्बन्धित है। जिस प्रकार एक्सपायरी डेट निकल जाने पर दवाइयाँ अलाभकर, कम लाभकर या हानिप्रद हो जाती है, उसी प्रकार मर्यादा से बाहर की भोज्य सामग्री भी अलाभकर या हानिकर हो जाती है।

6. कायोत्सर्ग – कायोत्सर्ग का तात्पर्य है णमोकार मन्त्र को 09 बार 27 श्वासोच्छवास में ध्यान पूर्वक पढ़ना। वैज्ञानिकों का मानना है कि हम अपने फेफड़ों का 25 प्रतिशत भी उपयोग प्राय: नहीं करते, जिससे श्वसन संस्थान का बड़ा भाग प्राय: निष्क्रिय हो जाता है। जब आवश्यकता पड़ती है जैसे भागना, ऊँचाई पर चढ़ना, सामान उठाना, पहाड़ों पर चढ़ना तो अधिक वायु की आवश्यकता होती है और हमारी सांस फूलने लगती है। अत: वैज्ञानिकों का कहना है कि हमें दिन में कई बार लम्बी सांस लेनी चाहिये । जैनाचार भी कहता है कि जो व्यक्ति एक दिन में 18 बार कायोत्सर्ग करता है, वह भव्य है। कायोत्सर्ग का सीधा सम्बन्ध फेफड़ों में अधिक वायु खींचने से है, जिससे शरीर को अधिक ऑक्सीजन मिल सके। चूँकि हम कम सांस लेते हैं, अत: प्राय: शरीर में ऑक्सीजन की कमी से हाथ पैरों में दर्द, थकावट, सुस्ती, काम में मन नहीं लगना, नींद आना आदि अनेक लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं, जो प्राय: सही ढ़ंग से कायोत्सर्ग करने पर नहीं होते।

7. धोक देना – जैनाचार में जिनालय अथवा गुरु के सामने तीन बार धोक देने का उल्लेख है। आवर्त व शिरोनति का भी वर्णन मिलता है। इसका सीधा सम्बन्ध आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से संधियों के हिलन–डुलन से है। आपने देखा होगा कि जिस स्थान की हड्डी टूट जाये, उस पर जब 5–6 सप्ताह प्लास्टर चढ़ा रहता है तो उस हिस्से में गति न होने से

प्लास्टर कटने पर पुनः नॉर्मल मूवमेन्ट लाने के लिये बहुत प्रयास करना पड़ता है। आजकल भी वैज्ञानिक एक्सरसाइज के रूप में सारे ज्वाइन्ट्स को चलाते रहें, ये सलाह देते हैं। आवर्त, शिरोनति, पैर छूना, पंचाग नमस्कार, अष्टांग नमस्कार आदि से हमारे गर्दन, हाथ-पैर, कमर, घुटना सभी जोड़ों का मूवमेन्ट हो जाता है। आज प्रायः सवाईकल स्पोडालाइटिस, घुटनों में दर्द, कमर में दर्द के रोगी बहुत अधिक हो गये हैं और इसका मूल कारण है कि हमने अपने ज्वाइन्ट्स में नियमित मूवमेन्ट बहुत कम कर दिया है।

8. मोटा खाओ-हाथ का पिसा खाओ - अगर आज कोई संघ नगर में ऐसा आ जाये, जो हाथ की पिसी चक्की का आटा खाता हो तो लोग चौका लगाने में बगलें झाँकने लगते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों से ये सिद्ध हो चुका है कि बाजार की चक्की के पिसे आटे में 70 से 75 प्रतिशत तक, घर की चक्की के आटे में 40 से 50 प्रतिशत तक तथा हाथ की चक्की में 20 प्रतिशत भोज्य तत्व नष्ट हो जाते हैं। मोटा खाना इन्हीं भोज्य तत्वों को बचाना है। **मैदे के मुकाबले आटा, आटा के मुकाबले चोकर, चोकर के मुकाबले दलिया अधिक पौष्टिक तत्वों से युक्त है।** पौष्टिक तत्वों के साथ ही हाथ से पीसने में व्यायाम भी हो जाता है। महिलाओं में प्रायः प्रसूति के बाद पेट बढ़ जाता है या जिन महिलाओं में कमर दर्द की शिकायत रहती है, ऐसी महिलायें यदि 15 मिनट हाथ की चक्की चलायें तो उन्हें रोग से मुक्ति मिल सकती है। दूसरे, बाजार से पिसवाने में जो अशुद्धि हो जायेगी, उससे भी बचा जा सकता है ।

9. भोजन सम्बन्धी अनेक नियम - आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के प्रयोगों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रायः 75 प्रतिशत रोगों का कारण भोजन सम्बन्धी नियमों का सही परिपालन न करना है। अगर भोजन पर नियन्त्रण रखा जाये तो काफी बीमारियों से बचा जा सकता है। जैनाचार्यों ने भोजन संबंधी अनेक नियम वर्णित किये हैं, जिनसे शरीर स्वस्थ्य बना रहता है, उसमें मुख्यरूपेण बाजार का न खाना, मर्यादित खाना, समय पर खाना, उपवास करना, अनशन करना, ऊनोदर करना आदि प्रमुख है।

आचार्यों ने भोजन करते समय मौन पूर्वक भोजन करने का वर्णन किया है।

यहाँ तक लिखा है कि दाता की ओर दृष्टि भी नहीं जाना चाहिये। इसका पूर्ण सम्बन्ध शरीर की वैज्ञानिक प्रक्रिया से है। भोजन करते समय पाचन संस्थान को सबसे ज्यादा रक्त की आवश्यकता होती है। अत: अन्य अंगों से रक्त का प्रवाह कम होकर पाचन संस्थान की ओर ज्यादा रक्त आने लगता है। जब हम खाते समय बोलते हैं, टीवी देखते हैं, मोबाइल पर बात करते हैं तो अन्य अंगों का प्रयोग होने से शरीर का रक्त उन सम्बन्धित अंगों में जाने लगता है और पाचन संस्थान की ओर उसका प्रवाह कम हो जाता है, जिससे शरीर के खाने का पाचन सही ढंग से नहीं हो पाता है।

समय पर भोजन करने को भी वैज्ञानिकों ने सही माना है। **मद्य, मांस, अण्डा का प्रयोग जैनाचार में पूर्णतया वर्जित है। आजकल के वैज्ञानिक भी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि इन चीजों से शरीर में रोगों की उत्पत्ति अधिक होती है।**

ऊनोदर को जैनाचार में तप की कोटि में रखा गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान कहता है कि आमाशय को चार भाग में बाँटा है – दो भाग को ठोस आहार से, एक भाग को द्रव आहार से भरना चाहिये तथा चौथा भाग पाचन करे लिये खाली रखना चाहिये ।

10. रस परित्याग व्रत – रस परित्याग व्रत तो रोगों से बचने की सबसे बड़ी चिकित्सा है।

(विशेष वर्णन संलग्न प्रपत्र में)।

11. नगे पैर चलना, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, जमीन पर सोना, धोक देना, नवतिलक लगाना, हाथ जोड़ना, ताली बजाना, अर्द्ध पद्मासन, पद्मासन से बैठना आदि सभी का सम्बन्ध – एक्यूप्रेशर पद्धति से है। इन सभी कायों से शरीर के विभिन्न स्नायु तन्त्रों पर दवाव पड़ता है, जो शरीर की प्रक्रिया के लिये सहायक होता है।

रस - परित्याग

गम्भीर रोगों से बचाव का सरल तरीका

हार्टअटैक, ब्लडप्रेसर, गुर्दे की खराबी, डाइविटीज आदि अनेक ऐसी प्रमुख गम्भीर बीमारियाँ हैं, जिनकी चर्चा आजकल बहुत होती है। चिकित्सा जगत में इन रोगों की समुचित चिकित्सा व निदान है तथा प्राय: इन सभी रोगों में एक बार चिकित्सा प्रारम्भ होने पर जीवन भर चलती रहती है। आयुर्वेद में चिकित्सा के दो प्रयोजन बताये हैं -

स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकारप्रशमनम्।।

आयुर्वेद में रोग की चिकित्सा के स्थान पर रोग की उत्पति ही न होने देने पर अधिक जोर दिया गया है। उपरोक्त वर्णित गम्भीर बीमारियाँ जो आजकल बहुत बढ़ गई हैं, वह पहले बहुत कम होतीं थीं क्योंकि लोगों में इनसे सुरक्षित रहने के भोजन सम्बन्धी अनेक नियम प्रचलित थे।

आ0 उमास्वामी ने कर्म की निर्जरा हेतु 12 प्रकार के तप वर्णित किये हैं, ६ बाह्य और ६ अंतरङ्ग। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये बाह्य तप हैं। इसमें रस परित्याग व्रत का वर्णन इस प्रकार है।

रस परित्याग व्रत - प्राचीन जैन आचार्यों यथा - आ. उमास्वामी, आ. पूज्यपाद स्वामी ने इन गम्भीर रोगों से बचने का एक सरल तरीका बताया था जिसे उन्होंने रस परित्याग व्रत नाम से बताया। इसमें प्रत्येक दिन मनुष्य को एक-एक रस का त्याग करना पड़ता है। सात दिन के हिसाब से सात रस बताये हैं। (1) नमक (2) हरी (3) मीठा (4) घी (5) दूध (6) दही (7) तेल। जिस दिन जिस रस का त्याग हो, वह कतई नहीं खाना चाहिये। वैसे इनमें से किसी भी रस को किसी भी दिन छोड़ा जा सकता है पर प्राचीन आचार्यों ने जो क्रम बनाया है, वह निम्न प्रकार है :- **रविवार नमक न खायें, सोमवार हरी न खायें। मंगलवार मीठा न खायें, बुधवार घी न खायें। गुरुवार दूध न खायें, शुक्रवार दही न खायें। शनिवार तेल न खायें।।**

इससे आखिर होता क्या है? इन रसों के ग्रहण करने से हमारे शरीर में इन तत्वों की एक निश्चित मात्रा एक सीमा से अधिक हो जाती है तो वह रोगोत्पत्ति करता है। उदाहरणार्थ–हमारे रक्त में शर्करा (सुगर) की सामान्य मात्रा Fasting 80-120 मि0ग्रा0 प्रति 100ml. होती है। जब यह मात्रा 120 से अधिक हो जाती है तो वह मधुमेह रोगी कहा जाता है तथा पथ्य के रूप में उसके मीठा, चावल, आलू आदि सभी मीठी चीजों पर रोग लगा दी जाती है। हमारे आचार्यों का दृष्टिकोण यह रहा कि यदि व्यक्ति प्रारम्भ से ही 'रस परित्याग' का पालन करे तो उस व्यक्ति में 6 दिनों में इनमें से किसी एक की मात्रा यदि सीमा से अधिक बढ़ेगी तो सातवें दिन बिल्कुल न पहुँचने से वह पुनः सामान्य स्तर पर आ जायेगी तथा व्यक्ति रोगी बनने से बच जाता है। जैसे–6 दिनों में यदि ब्लड सुगर की मात्रा रक्त में अधिक होगी तो तो मंगल को मीठा न खाने से पुनः सामान्य हो जायेगी। अब आप स्वयं ही निर्णय लीजिये कि आप पहिले खूब खाकर रोग को आमन्त्रण देकर फिर डाक्टर के कहने पर इन्हें जीवन भर के लिए छोड़ना चाहते हैं या प्राचीन स्वास्थ्य परम्परा को अपनाते हुए सप्ताह में केवल एक दिन हेतु एक रस के सेवन का त्याग कर केवल इन रोगों से बचे रहना चाहते हैं ।

मैंने अपने अनेक रोगियों को प्रारम्भिक अवस्था में केवल इसी प्रकार बिना किसी दवा के रोग पर नियन्त्रण रखने से पूर्ण सफलता प्राप्त की है और मैं दृढ़ता व विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि वर्तमान के इन गम्भीर रोगों को उत्पन्न ही न होने देने का यह सफल श्रेष्ठ तरीका है। है। याद रखिये आपका स्वास्थ्य आपके हाथ।

इस प्रकार रस परित्याग का पालन करने से जहाँ आप रोगों से बचे रहेंगे। स्वस्थ रहेंगे, वहीं तप द्वारा अपने कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होंगे।

– डॉ0 सुशील जैन,
जैन क्लीनिक, सिटी पोस्ट ऑफिस के सामने, मैनपुरी
(उ0प्र0)–मो. 9837110220

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा

- प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन

दर्शन और विज्ञान -

आज का युग वैज्ञानिक युग है। लोग विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित और चमत्कृत है। बात-बात पर विज्ञान की बात करते हैं और पूछते हैं। अतः जब भी हम कोई दर्शनशास्त्र की बात करते हैं, तब भी वे तुरंत विज्ञान इस विषय में क्या कहता है? अथवा इसका वैज्ञानिक आधार/प्रमाण क्या है? -इत्यादि प्रकार की बातें करने लग जाते हैं।

विचारणीय है कि दर्शन और विज्ञान में क्या अंतर है? क्या दर्शन भी विज्ञान ही नहीं है?

मैं तो समझता हूँ कि दर्शन भी विज्ञान ही है, दर्शन और विज्ञान में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है; क्योंकि दोनों ही तर्क, युक्ति या परीक्षा से प्राप्त निष्कर्षों को ही स्वीकार करने पर जोर देते हैं।

दरअसल ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे आधुनिक युग में **विज्ञान** कहते हैं, उसे ही प्राचीन युग में **दर्शन** कहा जाता था, अतः दर्शन भी वस्तुतः विज्ञान ही है और विज्ञान भी वस्तुतः दर्शन ही है, दोनों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। मात्र **प्राचीन** और **आधुनिक** का ही इन दोनों में अन्तर आज हो गया है। **विज्ञान** नाम भी। वस्तुतः कोई नया नहीं है, दर्शन-ग्रन्थों में पहले से ही अनेक स्थानों पर **विज्ञान** शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे जैनदर्शन को **वीतराग-विज्ञान** शब्द से बहुत बार सम्बोधित किया गया है। यथा

(क) मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।[१]

(ख) तीन भुवन में सार, वीतराग-विज्ञानता।[२]

(ग) जय वीतराग-विज्ञान पूर।[३]

(घ) वन्दें श्री अरिहंत पद, वीतराग-विज्ञान।[४]

इसके अतिरिक्त आज भी जैन दर्शन की एक प्रमुख पत्रिका **वीतराग-विज्ञान** नाम से प्रकाशित होती है।[५]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रों में **दर्शन** के लिये **विज्ञान** शब्द का प्रयोग होता रहा है और उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दर्शन और विज्ञान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

ध्यान रहे हम यहाँ यह नहीं कहना चाहते हैं कि **धर्म** और **विज्ञान** में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि धर्म और विज्ञान में तो अन्तर है, बहुत अन्तर है; परन्तु हमारा कहना है कि दर्शन और विज्ञान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

इसके लिये सर्वप्रथम धर्म और दर्शन में अन्तर समझ लेना उपयोगी होगा। डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने धर्म और दर्शन का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है –

सब जीवों पर दया करो, किसी जीव की हिंसा न करो, सत्य बोलो, असत्य मत बोलो, आदि विधि और निषेध रूप आचार का नाम धर्म है। किन्तु जब इसमें **क्यों** का सवाल उठता है तो उसके उत्तर में कहा जाता हैं कि जीवों पर दया करना कर्त्तव्य है, गुण (अच्छा) है, पुण्य है और इससे सुख मिलता है, किन्तु जीवों की हिंसा करना अकर्त्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख मिलता है, इसी तरह सत्य बोलना कर्त्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख प्राप्त होता है। इस प्रकार के विचार दर्शन कहे जाते हैं।[६]

तात्पर्य यह है कि धर्म तो सीधे-सीधे विधि-निषेध का उपदेश देता है, किन्तु दर्शन उस विधि-निषेध की अनेक तर्कों या प्रमाणों द्वारा भली-भाँति परीक्षा करता है, हमें सयुक्ति समझाता है कि वैसा ही विधि-निषेध क्यों समीचीन है? उससे भिन्न या विपरीत क्यों नहीं?

इस प्रकार धर्म को ठोस आधार देने का काम दर्शन करता है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि धर्म की अनेक प्रमाणों द्वारा युक्तिसंगत परीक्षा[७] करना ही तो दर्शन है। दर्शनशास्त्र का उद्‌भव ही

वस्तुतः इसलिए हुआ प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट धर्म की पूर्णतः निष्पक्ष होकर सप्रमाण परीक्षा की जाए। स्पष्ट है कि यही कार्य आधुनिक विज्ञान का ही है, वह भी निर्दिष्ट विषय की पूर्णतः निष्पक्ष होकर सप्रमाण परीक्षा करता है। यही कारण हैं कि हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि दर्शन और विज्ञान में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, दोनों वस्तुतः एक ही है।[८]

इस प्रकार यदि देखा जाए तो दर्शन और विज्ञान दोनों पर्यायवाची हैं, एक ही विधा के दो नाम हैं, उनमें प्रकृतिगत कोई अन्तर नहीं है। अतः हमेशा हर बात को मात्र आधुनिक विज्ञान द्वारा समर्थित होने पर ही स्वीकार करने का आग्रह रखना उचित नहीं है।[९] अपितु सर्वत्र तार्किकता या युक्तिसंगतता को ही विशेष महत्व देना उचित है, क्योंकि वही हमें अज्ञानता या अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं।

दर्शन और विज्ञान में इस प्रकार कोई मौलिक अन्तर न होते हुए भी, आधुनिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र में आज बड़ा अन्तर देखने में आता है। एक तो स्पष्ट अन्तर यह आ गया है कि आधुनिक विज्ञान मात्र मूर्तिक पदार्थों के विषय में ही अध्ययन-अनुसन्धान करता है, किन्तु दर्शनशास्त्र मानता है कि इस जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं- 1. मूर्तिक और 2. अमूर्तिक। तथा वह इन दोनों का ही अध्ययन प्रस्तुत करना अपना परम कर्तव्य समझता है। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों ही प्रकार के पदार्थों का सूक्ष्म से सूक्ष्म दर्शनशास्त्र का मानना है कि जब जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं- मूर्तिक और अमूर्तिक, तब दोनों का ही तो अध्ययन करना आवश्यक है, उनमें से किसी भी एक को छोड़ा कैसे जा सकता है? तथा यदि छोड़ दिया जाए तो वह अध्ययन अपूर्ण अध्ययन कैसे नहीं माना जायेगा?

यदि कोई कहे कि अमूर्तिक पदार्थ (आत्मादि अप्रत्यक्ष पदार्थ) हमारी पकड़ में ही नहीं आते, हमें बिल्कुल ही प्रत्यक्ष नहीं होते, तो हम उनका वैज्ञानिक (निष्पक्ष एवं प्रामाणिक) अध्ययन कैसे कर सकते हैं? तो उसका उत्तर दर्शनशास्त्र यह देता है कि मात्र प्रत्यक्ष से ही निर्णय करने

का आग्रह रखना संकीर्णता है। हर वस्तु का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से ही नहीं होता, बहुत-सी बातों का निर्णय हम लोक में भी अनुमानादि के द्वारा करते ही हैं। अनुमानादि द्वारा ज्ञात पदार्थ भी प्रत्यक्षादि की भाँति असन्दिग्ध तथा समीचीन सिद्ध होते हैं। तथा जिस वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है, उसका किया ही क्या जा सकता है? यह तो नहीं किया जा सकता कि हमें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती तो उसका अभाव ही मान लिया जाए, क्योंकि तब तो फिर हमें अपने प्रपितामहादि अनेक सद्भावरूप वस्तुओं को भी अभावरूप मानना पड़ेगा, जो अवैज्ञानिक (मिथ्याज्ञान) ही होगा।

अत: जिस वस्तु की परीक्षा जिस विधि (प्रमाण) से सम्भव हो, वही विधि हमें उसकी परीक्षा हेतु अपनानी चाहिए। एक ही विधि से सबकी परीक्षा का आग्रह रखना वैज्ञानिक (समीचीन) नहीं कहा जा सकता। स्वर्ण को शुद्ध करने की विधि अलग होती है और वस्त्र को शुद्ध करने की अलग। दोनों को एक ही विधि से शुद्ध करने का आग्रह वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

वैसे तो विज्ञान भी स्वयं यह नहीं कहता कि मैं मात्र मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अध्ययन करूंगा, अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में नहीं करूंगा, किन्तु यह उसकी मजबूरी/दुर्बलता है कि वह अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में ठीक से अध्ययन नहीं कर पा रहा है; यद्यपि वह कोशिश बहुत कर रहा है, सम्भव है कि भविष्य में किसी-न-किसी प्रकार से सफलता प्राप्त कर सकेगा।

वर्तमान में भी विज्ञान की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ अमूर्तिक वस्तुओं का अध्ययन कर रही हैं। जैसे- मनोविज्ञान और जीवविज्ञान- ये दोनों विज्ञान की ही शाखाएँ हैं और बड़ी महत्वपूर्ण शाखाएँ हैं। ये दोनों प्राणियों की विविध मनोदशाओं और जैविक क्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत कर रही हैं, जो अमूर्तिक चैतन्य का ही अध्ययन है। .

अत: सर्वथा यह समझना भी मिथ्या ही है कि आधुनिक विज्ञान मात्र मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अध्ययन करता है, अमूर्तिक

वस्तुओं के विषय में अध्ययन नहीं करता है। अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में भी वह यथासम्भव कोशिश करता ही है; परन्तु कुछ तो अभी उसमें भी अनेक कमियाँ हैं और कुछ उसके निष्कर्ष भी अधिक लोगों तक पहुँच नहीं पा रहे हैं, अतः उस ओर थोड़ा ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि आधुनिक विज्ञान मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अधिक अध्ययन करता है।

आधुनिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र में बड़ा भारी अन्तर लोगों को इसलिए भी लगता है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान तो प्रायः मूर्तिक (भौतिक) वस्तुओं के अध्ययन में ही डूबा हुआ है, जबकि दर्शनशास्त्र कहता है कि हमें अपने वास्तविक हित हेतु अमूर्तिक वस्तुओं– विशेषतः आत्मा, परमात्मा आदि– के ज्ञान पर अधिक ध्यान देना चाहिए, मात्र मूर्तिक (भौतिक) वस्तुओं के ज्ञान में ही सारा समय व्यतीत करना बुद्धिमानी नहीं। जीवन छोटा है और ज्ञान का कोई अन्त नहीं है, अतः हमें वही शीघ्र सीख लेना चाहिए जिससे जन्म–मरण आदि दुःखों का विनाश हो ।[१०]

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप – हमारा प्रकरण यहाँ आधुनिक विज्ञान के मत में आत्मा और परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट करना है। ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा और परमात्मा भी अमूर्तिक या अभौतिक (Non-matter) वस्तुएँ हैं जो किसी भी भौतिक उपकरण द्वारा पकड़ में आने वाली नहीं हैं, अतः आधुनिक विज्ञान उन्हें परखनली आदि में रखकर तो हमें नहीं दिखा सकता है, किन्तु ऐसे अनेक वैज्ञानिक तथ्य अवश्य प्रस्तुत करता है जिनसे आत्मा–परमात्मा के अस्तित्व और स्वरूप पर विशद प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम उन्हीं तथ्यों के आधार पर अपनी बात संक्षेप में कहने का प्रयास करेंगे।

आत्मा और परमात्मा भारतीय दर्शनों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है और इसलिए भारतीय जन–जीवन में प्रारम्भ से लेकर आज तक निरन्तर अत्यधिक चर्चित रहता आया है। बालक से लेकर वृद्ध तक और राजा से लेकर रंक तक सभी लोग यहाँ सदैव आत्मा और परमात्मा

की चर्चा करते रहते हैं। अतः आधुनिक विज्ञान ने भी इन विषयों पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने का अनेक बार प्रयास किया है। यह बात अलग है कि वह अभी तक इनके संबंध में अपने कोई स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर पाया है, किन्तु इन विषयों की उसने उपेक्षा की हो अथवा इनकी ओर कभी कोई ध्यान ही नहीं दिया हो– ऐसा नहीं है।[११]

तथा अनेक घटनाओं और प्रयोगों के आधार पर वह इनके अस्तित्व की सम्भावना भी प्रकट कर चुका है। भले ही वह इनके स्वरूपादि को स्पष्टतया सिद्ध नहीं कर पा रहा हो, किन्तु अनेक जैविक क्रियाओं और मनोभावों के आधार पर वह यह भी सशक्त सम्भावना प्रस्तुत करता है कि इस शरीर में आत्मा जैसा कोई अन्य तत्व अवश्य ही होना चाहिए, अन्यथा जीवित और मृत शरीर में और क्या अन्तर हो सकता है? जिस प्रकार हमें लगता है कि हम चश्मा आदि उपकरणों से देख रहे हैं किन्तु वस्तुतः चश्मा आदि से नहीं, आँख से देख रहे होते हैं, उसी प्रकार हमें लगता है कि हम आँख से देख रहे हैं किन्तु वस्तुतः आँख से भी नहीं, किसी अन्य ज्ञान तत्व से देख रहे होते हैं, जो मृत्यु हो जाने पर शरीर से निकल जाता है। यदि आँख ही देखती हो तो मृत शरीर क्यों नहीं देखता, अतः सिद्ध होता है कि आँख तो चश्मा आदि के समान बाह्य निमित्तमात्र है, मूल कारण कोई अन्य ज्ञान तत्व है। यह अन्य ज्ञान तत्व ही दर्शन-ग्रन्थों में **आत्मा** या **जीव** कहा गया है।

आँख की देखना क्रिया की भाँति सारे ही शरीर की सुनना, सूँघना आदि सभी सैंकड़ों जैविक क्रियाएँ जिस तत्व के रहने पर चलती रहती हैं और जिसके न रहने पर (शरीर से बाहर निकल जाने पर, मृत्यु हो जाने पर) नहीं चलती हैं, रुक जाती हैं, वह अन्य चैतन्य तत्व ही **आत्मा** होना चाहिए।

आत्मा शरीर से भिन्न एक अलग स्वतन्त्र तत्व है– इसे डॉ. अनिल कुमार जैन ने निम्नलिखित तीन वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा सशक्त रूप से इस प्रकार सिद्ध किया है –

1. पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ– पृथ्वी पहले तपता हुआ आग का

गोला था। इसके पर्याप्त शीतल हो जाने पर अनुकूल वातावरण में कई प्रकार के जटिल प्रोटीन बनने लगे। इन जटिल प्रोटीनों के संघटन से कोशिका का निर्माण हुआ और अमीबा जैसे सूक्ष्म जीव अस्तित्व में आये। कई वैज्ञानिकों का मत है कि जीव तत्व का निर्माण जटिल रसायनों के संश्लेषण द्वारा नहीं हुआ है बल्कि यह किसी अन्य ग्रह से आया है। अन्य ग्रहों पर भी जीवन की पूर्ण सम्भावनाएँ हैं। यह जीव तत्व आत्मा ही है जो कि जड़ पदार्थों से निर्मित नहीं हो सकता है। जड़ पदार्थों से निर्मित तो मात्र शरीर है जिसका निर्माण पृथ्वी पर हुआ।

2. ब्रह्माण्ड का विस्तार- खगोल-वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड का निरन्तर विस्तार हो रहा है। इस बात को प्रयोगों द्वारा भी सिद्ध किया जा चुका है। वैज्ञानिकों का मत है कि ब्रह्माण्ड में संकुचन एवं विस्तरण होता रहता है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मात्र जड़ तत्व से ही निर्मित होता तो इसमें एक स्थिरता होनी चाहिए, इसमें संकुचन-विस्तरण नहीं होना चाहिए। फिर यह विस्तार क्यों हो रहा है? यह इस बात की ओर इशारा करता है कि ब्रह्माण्ड मात्र जड़ पदार्थ से निर्मित नहीं है, बल्कि इसमें जड़ पदार्थ से भिन्न अन्य तत्व भी मौजूद है जिस पर भौतिकी के नियम लागू नहीं होते हैं। जड़ से भिन्न यह तत्व आत्मा हो सकता है।

3. अंग-प्रत्यारोपण- अंग-प्रत्यारोपण आज एक आम बात हो गई है। आँख, गुर्दा, हृदय आदि सभी अंगप्रत्यंगों का प्रत्यारोपण किया जा सकता है। सैद्धान्तिक तौर पर मस्तिष्क का प्रत्यारोपण भी सम्भव है। किसी के शरीर से पूरे का पूरा खून निकाल कर किसी अन्य के खून को डाला जा सकता है। इन सबसे जुड़ी एक दिलचस्प बात यह है कि चाहे व्यक्ति के शरीर का पूरे का पूरा खून बदल दो, चाहे उसके गुर्दे, हृदय तथा मस्तिष्क को बदल दो; फिर भी यह व्यक्ति अपना वजूद, अपनी पहिचान बनाये रखता है। उसका चित्त पहले जैसा बना रहता हैं। अपने परिवारी जनों एवं मित्रों के प्रति उसका प्रेम, उसकी स्मरण-शक्ति यथावत् बनी रहती है। इससे सिद्ध होता है कि चाहे सारे अंग-प्रत्यंग बदल दिये

जाएँ, चाहे पूरा खून बदल दिया जाए, फिर भी कुछ ऐसा अवश्य होता है जो व्यक्ति को अपनी मूल स्थिति से अलग नहीं होने देता है, उसे अपने पूर्व संस्कारों से युक्त बने रहने को बाध्य करता है। और निश्चित तौर पर यह चैतन्य युक्त आत्मा ही है।[१२]

डॉ. जैन के उक्त तीनों ही तर्क बड़े ठोस हैं और गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने योग्य हैं।

इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत दो प्रकार के पदार्थों का निम्नलिखित वर्गीकरण भी जीव या आत्मा के अस्तित्व को अनिवार्यतः सिद्ध करता है –

1. सजीव पदार्थ (living thing)
2. निर्जीव पदार्थ (non-living thing)

इनके सम्बन्ध में भी डॉ. अनिल कुमार जैन ने ठीक ही लिखा है – अधिकतर लोगों को सजीव और निजीव की पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर वे आसानी से यह बता सकते हैं कि मक्खी, घोड़ा और पेड़ सजीव हैं जो वृद्धि और प्रजनन जैसी कुछ क्रियाओं को करते हैं। इस प्रकार जीव (सजीव) तथा निर्जीव (अजीव) की पहचान तो की जा सकती है, लेकिन जीवन (life) क्या है? इसका सीधा उत्तर दे पाना कठिन है। जैव वैज्ञानिकों के पास जीव से सम्बन्धित विशद ज्ञान है, फिर भी वे जीवन को परिभाषित करने में कठिनाई महसूस करते हैं।[१३]

वैज्ञानिक दृष्टि से जीव के लक्षणों का निरूपण करते हुए वे आगे और भी लिखते हैं – पृथ्वी पर अनेक प्रकार के जीव पाये जाते हैं। अब तक बीस लाख से अधिक प्रजातियों को खोजा जा चुका है। वे सूक्ष्म बैक्टेरिया से लेकर विशालकाय व्हेल मछली तक के अनेक प्रकार में पायी जाती हैं। ये जीव विभिन्न प्रकार के वातावरण में पाये जा सकते हैं। इनमें से कुछ गर्मी से तपते रेगिस्तानों में भी मिल सकते हैं तथा कुछ अन्य बफीले ध्रुवों पर भी। जीवों के खान–पान तथा रहन–सहन में भी विविधता पायी जाती है। इसके बावजूद भी सभी जीवों में

कुछ समानताएँ होती हैं तथा वे ही जीव के लक्षण भी निर्धारित करती हैं। प्रत्येक जीव में एक प्रकार का रसायन पाया जाता है जो कि एक ही प्रकार की रासायनिक क्रिया भी करता है। ये रसायन एक यूनिट (unit) में व्यवस्थित तरीके से रहते हैं जिसे कोशिका कहते हैं।

सभी जीवों में जो समान लक्षण पाये जाते हैं वे हैं- (1) प्रजनन (reproduction), (2) वृद्धि (growth) (3) चयापचय (metabolism), (4) हलन-चलन (movement), (5) संवेदन (responsiveness), (6) अनुकूलन (adaptation)। लेकिन कुछ जीव ऐसे भी हैं जिनमें ये सब पूर्णत: नहीं पाये जाते जबकि कुछ निर्जीवों में भी इनमें से कुछ गुण देखने को मिल जाते हैं। फिर भी ये गुण/लक्षण जीव की मूल प्रकृति को रेखांकित अवश्य करते हैं।[१४]

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जीवविज्ञान (biology) और मनोविज्ञान (psychology) की प्राय: सभी खोजें कहीं-न-कहीं आत्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करती हैं तथा न केवल अस्तित्व की ही सिद्ध करती हैं, उसके स्वरूप को भी कुछ-न-कुछ स्पष्ट करती हैं। मनोविज्ञान ने क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, प्रार्थना, याचना आदि मनोभावों का जो सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है, उससे भी आत्मा का ही स्वरूप स्पष्ट होता है।

जीवविज्ञान (biology) और मनोविज्ञान (psychology) की भाँति वनस्पति-विज्ञान (botony) की खोजें भी जीव या आत्मा के स्वरूप पर विशद प्रकाश डालती हैं। महान् वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बसु (1858-1937) ने तो स्पष्ट तौर पर अनेकानेक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधों में जीव होता है, क्योंकि उनमें चेतना पाई जाती है, वे जन्मते-मरते हैं, उनमें सुख-दु:ख होता है, वे हँसते-रोते हैं, उन्हें भी शत्रु-मित्र की पहचान होती है, आदि। इस सम्बन्ध में विश्वविख्यात लेखक सर एल्डुअस हक्सले के विचार ज्ञातव्य हैं जो कि उन्होंने स्वयं सर जगदीशचन्द्र बसु की प्रयोगशाला की परखनलियों में देखकर प्रकट किये थे -

वह (वनस्पति) हमारे समान ही सुखी-दुःखी, क्रोधी, मिलन-बिछोह पर हँसने-रोनेवाली, गानेवाली तथा स्वस्थ अथवा रोगी होती है। उस पर क्लोरोफॉर्म का प्रभाव, उसके हृदय की धड़कन, उस पर ऑक्सीजन का प्रभाव, विषैली औषधि के छिड़के जाने का दुष्प्रभाव, बिछोह की असह्य-यन्त्रणा आदि सभी दशाओं को साक्षात् देखकर हक्सले ने पुनः कहा- किसी पशु-पक्षी की मृत्यु का दृश्य देखकर हम लोग मर्माहत हो जाते हैं, क्योंकि उसकी यन्त्रणा को अपनी आँखों से स्वयं देखते हैं किन्तु वनस्पतियों के जीवन-मरण को देखने के लिए तो हमारी दृष्टि लाखों गुनी तेज होनी चाहिए।

उन्होंने आगे और कहा- बसु महोदय की प्रयोगशाला में रखे गये यन्त्र हम लोगों को सूक्ष्मतम खूबियों के साथ वे सारी चीजें दिखा देते हैं, जो शक्तिशाली से शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र भी नहीं दिखा सकते। एक फूल जब जहर खाकर छटपटा-छटपटाकर हमारे सामने ही मरा, तब हम लोग उसी तरह करुणा से भर उठे, जैसे हम किसी अपने ही प्रियजन की मृत्यु को देखकर बेहाल हो जाते हैं। सचमुच ही यह एक अपूर्व अनुभूति थी, जिससे हम लोग आज तक अपरिचित थे। ...उन्होंने पुनः कहा कि 'बहुत से प्रबुद्ध व्यक्तियों को मैंने कसाईखाने में वध किये जाते हुए पशुकी यन्त्रणा और तड़पना देखकर उससे द्रवित होते और उन्हें मांस-भोजी से पूर्ण निरामिषभोजी बनते देखा है। यदि वे अपने आहार में और भी कमी करना चाहते हों तो उन्हें बसु-विज्ञान मन्दिर (कलकत्ता)' में जाकर देखना चाहिए। तब वे कदाचित् शाकाहार भी छोड़ने पर मजबूर हो जावें और सिर्फ धातुओं पर ही निर्भर रहने लगें।[१५]

सर जगदीशचन्द्र बसु के बाद तो आधुनिक विज्ञान में पेड़-पौधों पर और भी अधिक खोजें हो चुकी हैं और वैज्ञानिक मान गये हैं कि पेड़-पौधों में भी स्पष्ट रूप से जैविक क्रियाएँ और जैविक भावनाएँ अनुभव की जा सकती हैं। कुछ पौधे ऐसे होते हैं जो मनुष्य के छूने से मुरझा जाते हैं अथवा खिल जाते हैं- यह उनकी जैविक भावना ही प्रकट करता है। इसी प्रकार अनेक पौधे ऐसे होते हैं जो दूसरे (आगन्तुक)

जीवों को खा जाते हैं। जैसे- ड्योसेरा (Sundew), पिचर (Pitcher), वीनस (Venus) आदि पौधे अपने पास आनेवाले तितली आदि कीट-पतंगों को फिर जाने नहीं देते, उन्हें खा जाते हैं। यथा - यह पिचर (Pitcher) का पौधा हैं। इसकी पत्तियाँ जग (jug) जैसी लगती हैं, जिनके ऊपर ढक्कन-सा भी होता है। जब कोई मक्खी इस पर आकर बैठती है तो यह उसे अन्दर बन्द करके खा जाता है।

यह वीनस (Venus) का पौधा है। इसकी पत्तियाँ गदा-जैसी होती हैं, और उस पर लम्बे-लम्बे काँटे-जैसे बाल भी होते हैं। जब भी कोई कीट-पतंगा इस पर आकर बैठता है तो यह अपने उन बालों को और फैलाकर उसे, जकड़ लेता है और उसका सारा रस सोखकर फेंक देता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पेड़-पौधों में भी जैविक भावनाएँ बहुत गहरी होती हैं। डॉ. अशोक जैन ने तो पेड़ पौधों में क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चार कषायों और आहार, भय, मैथुन, परिग्रह- इन चार संज्ञाओं को भी बड़ी ही स्पष्टता से सिद्ध कर दिखाया है, जिनका सारांश इस प्रकार है -

1. **क्रोध**- क्रींस और न्यू साउथ वेल्स के जंगलों में डंक मारने वाले वृक्ष होते हैं। इन वृक्षों पर नुकीले काँटे होते हैं और इनकी पत्तियाँ घने बालों से युक्त होती हैं। समीप जाने पर इनकी पत्तियाँ शरीर से चिपक जाती हैं और अपने रोएँ छोड़ देती हैं। यह क्रोध है।

2. मान- बरगद का वृक्ष अपनी डालियों से शाखाएँ निकालता है जो भूमि पर आकर तने और जड़ का रूप ले लेती हैं। उसका जरा-सा बीज इतना फैलाकर अपने अहं को पुष्ट करता मालूम होता है। यूकेलिप्टस वृक्ष की जड़ें इतना ज्यादा पानी अवशोषित करती हैं कि आसपास की वनस्पति का बढ़ना मुश्किल हो जाता हैं। यह वृक्ष बहुत तेजी से बढ़कर 200-300 फुट ऊँचाई तक तनकर सीधा खड़ा रहता है। यह मान है।

3. माया- कीटभक्षी पौधे अपने रूप, रस, गन्ध से कीट-पतंगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और समीप आने पर उन्हें पकड़कर नष्ट कर

देते हैं। यह माया है।

४. लोभ - वनस्पतियाँ अपना भोजन जमीन के भीतर अपनी जड़ों और तनों में संचित कर लेती है। यह लोभ है।

५. आहार- आहार संज्ञा वनस्पति में कई प्रकार की होती है। कुछ पौधे स्वयं-पोषी होते हैं भोजन स्वयं बनाते हैं। कुछ पौधे परजीवी होते हैं जो कि आंशिक रूप से या पूरी तरह से दूसरे पौधों पर निर्भर रहते हैं। अमरबेल एक ऐसी बेल है जो अपनी जड़ें दूसरे पौधे के तने में घुसाकर वहाँ से भोज्य सामग्री चूसती रहती है।

2. भय- जिस प्रकार विपत्ति आने पर जीव भयभीत होते हैं, उसी प्रकार वनस्पति भी विपत्ति की आशंका से भयभीत होकर काँपने लगती है। उसके रोएँ खड़े हो जाते हैं। छुईमुई के पौधे को छूने मात्र से उसकी पत्तियाँ भय से समिट जाती है। 'जवागल' वनस्पति हथेली पर रखते ही काँपने लगती है। जिस प्रकार सभी जीव अपने जीवन की रक्षा के उपाय करते हैं, उसी प्रकार वनस्पति भी अपनी रक्षा के लिए उपाय करती है। काकतुरई अपनी दुर्गन्ध फेंक कर रक्षा करती है। नागफनी अपने काँटों के माध्यम से अपनी रक्षा करती है।

3. मैथुन- निम्नवर्गीय एककोशीय पौधों से लेकर विशालकाय वृक्षों तक में मैथुन अर्थात् काम-वासना की इच्छा देखने में आती है। मनुष्यों एवं अन्य जन्तुओं में मुख्यतया लैंगिक जनन ही होता है, परन्तु पौधों में वधी, अलैंगिक एवं लैंगिक तीन प्रकार से जनन माना गया है। वनस्पति में एक ही पौधे के अन्तर्गत नर व मादा का होना नपुंसक होने की सूचना है, जिनमें काम-वासना स्त्री-पुरुष से भी ज्यादा होती है।

4. परिग्रह- भोजन संचित करने की प्रवृत्ति मूली, गाजर, आलू, अदरक आदि पौधों में दृष्टिगोचर होती है जो अपनी जड़ों व तने में खाद्यसामग्री एकत्रित कर लेते हैं। बंदगोभी, प्याज आदि अपनी पत्तियों में भोजन संगृहीत करते हैं। नागफनी आदि अपने तने में भोजन इकट्ठा किए रहते हैं।[१६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान ने पेड़-पौधों में

जीवत्व की सम्भावना ही व्यक्त नहीं की है, स्वीकृति भी स्पष्टतया कर ली है।

पेड़-पौधों की भाँति कुछ वर्ष पूर्व आचार्य विद्यानन्द मुनि ने भी अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अग्नि में जीवत्व की उपस्थिति सिद्ध की है, जिसका पूर्ण विवरण उनकी कृति **अग्नि और जीवत्वशक्ति** में देखा जा सकता है। अति संक्षेप में उसका सार है कि अग्नि में भी जीव है, क्योंकि उसमें निम्न प्रकार के चेतन भाव पाये जाते हैं-

1. वह दूसरों को जलाती है- यह क्रोध है।
2. सदा ऊपर लौ रखती है- यह मान है।
3. राख के नीचे भी जलती रहती है- यह माया है।
4. कितना भी ईधन मिले, तृप्त नहीं होती- यह लोभ है।
5. ऑक्सीजन मिलने पर ही रहती है- यह श्वासोच्छवास है।
6. तेल या ईधन चाहिए- यह आहार है।
7. धुँआ आदि छोड़ती हैं- यह नीहार है।

इसी प्रकार अन्य चयापचय (metabolism), वृद्धि हानि, जीवन-मरण की क्रियाएँ अग्नि में भी स्पष्टतया । अनुभव में आती हैं, अतः वह सजीव है।

ज्ञातव्य है कि भारतीय दर्शनों में विशेषतया जैन दर्शन में अग्नि को भी गाय-भैंस-मनुष्यादि की भाँति सजीव (living thing) माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान भी किसी-न-किसी रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसके स्वरूप को भी बहुत स्पष्ट करता है जो बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि भारतीय-दर्शन-ग्रन्थों में बताया गया है। हाँ, इतना स्पष्ट भी नहीं कर पा रहा भारतीय दर्शनों का एतद् विषयकविवाद भी शान्त हो सके। किन्तु ऐसा शायद सम्भव ही नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के समर्थकों ने आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध करने के लिए इसी प्रकार के और

भी अनेकानेक प्रयोग और प्रयत्न पहले भी किये थे। जैसे –

1. समाचार–पत्रों में प्रकाशित होने वाली पुनर्जन्म की घटनाओं को सूचीबद्ध करके उनकी सत्यता का अनुसन्धान करना।

2. मृत्यु से पूर्व ही गहन निरीक्षण प्रारम्भ कर देना कि मरते समय शरीर में से कौन बाहर निकलता है, कैसे निकलता है, कहाँ से निकलता है, आदि। अनेक बार, मरने वाले प्राणी को वायुरोधक (Air-tight) पेटी में भी बन्द किया गया, ताकि देखा जा सके कि जीव कैसे बाहर निकलता है, पेटी टूटती है या नहीं। अनेक बार मरने से पहले और बाद में वजन तोला गया और यह भी कहा गया कि इस प्रकार आत्मा का वजन 21 ग्राम सिद्ध होता है।[१७]

परन्तु ये सब प्रारम्भिक प्रयास हैं और नितान्त असफल सिद्ध हुए हैं। आज हमारा विज्ञान तब से बहुत आगे बढ़ गया है और आशा है कि आगे और भी उन्नति करेगा। आशा है कि तब हमें आत्मा के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक ज्ञानाधार भी प्राप्त हो सकेगा।

परमात्मा का स्वरूप – कहा जा चुका है कि **परमात्मा** शब्द से यहाँ हमारा अभिप्राय उस भगवान्, ईश्वर, गॉड (GOD) या खुदा नामक उस परमतत्व से है जिसे विभिन्न हजारों नामों से प्रायः सभी धर्म–दर्शनों में पूज्य, आराध्य या उपास्य स्वीकार किया गया है।

आधुनिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले कुछ तथ्य तो फिर भी प्रस्तुत करता है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, किन्तु परमात्मा या भगवान् के विषय में तो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से कुछ भी कहना सचमुच ही बहुत कठिन है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान को अभी तक ऐसे **परमात्मा** के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की कोई सामग्री, प्रमाणादि उपलब्ध नहीं हुये हैं।

तथापि इस सम्बन्ध में भी कुछ एक–दो बातें इस प्रकार स्पष्टतया समझी जा सकती हैं – परमात्मा, ईश्वर या भगवान् के सम्बन्ध में आज बहुसंख्यक लोगों की मान्यता है कि वह इस जगत् का कर्ता–धर्ता–हर्ता है और कुछ लोगों के अनुसार उसे इसी अर्थ में GOD (G = generator,

O = operator, D = destroyer) कहा जाता है। ऐसे लोगों के अनुसार वह सर्वशक्तिमान् है, कुछ भी कर सकता है, पलभर में राजा को रंक और रंक को राजा भी बना देता है, मूर्ख को विद्वान् और विद्वान् को मूर्ख भी बना सकता है। सम्पूर्ण जगत् का कण-कण उसी की इच्छानुसार परिणामन करता है। वही एक सबका भला-बुरा करने वाला है, सबको सुख-दु:ख की सामग्री देनेवाला है अथवा जैसा चाहे वैसा करनेवाला है, इत्यादि।

किन्तु आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से ऐसा कोई भी ईश्वर या भगवान् सम्भव नहीं है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् एक निश्चित कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुसार संचालित है, उसमें किसी अन्य की कोई आवश्यकता नहीं है। तथा उस कारण-कार्य-व्यवस्था के विरुद्ध कुछ भी उल्टा-सीधा कार्य कभी भी कोई नहीं कर सकता है। कभी-कभी हमें अपनी अल्पज्ञता से ऐसा प्रतीत अवश्य हो सकता है, परन्तु वास्तव में उल्टा-सीधा यहाँ न कुछ होता है और न ही कथमपि हो सकता है। उदाहरणार्थ- अग्नि के ऊपर बर्तन में पानी रखा जाएगा, तो वह स्वयमेव गर्म होगा, उसे कोई अन्य ईश्वरादि गर्म नहीं होगा। तथा जैसे खेत में यदि गेहूँ बोया जाएगा तो गेहूँ ही उगेगा, चना नहीं। और चना बोया जाएगा तो चना ही उगेगा, गेहूँ नहीं। उसी प्रकार सृष्टि के समस्त कार्य अपनी-अपनी सुनिश्चित कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुसार स्वयमेव संचालित हो रहे हैं, उन्हें कोई ईश्वर या परमात्मा संचालित करनेवाला नहीं है। तथा उन कार्यों को कभी कोई ईश्वर उल्टा-सीधा भी परिणमन नहीं कर सकता है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो अग्नि पर रखा दूध बर्फ बन जाएगा और फ्रिज (fridge) में रखा दूध उबल जाएगा। अथवा गेहूँ बोने पर चना उग जाएगा और चना बोने पर गेहूँ उग जाएगा; जैसा कि कभी नहीं होता, कभी नहीं हो सकता।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व में वस्तुत: जितने पदार्थ प्रारम्भ से थे, उतने ही आज हैं और भविष्य में भी अनन्त काल तक उतने ही रहेंगे; उनमें से कभी भी किसी भी पदार्थ को मूलत: न तो

पैदा किया जा सकता है और न ही सर्वथा नष्ट किया जा सकता है मात्र पदार्थों का अवस्था-परिवर्तन होता है (Nothing can be produced or destroyed, it's form only changes), अतः इस वैज्ञानिक दृष्टि से भी जगत् का कर्ता-हर्ता कोई ईश्वर आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार सब जीवों का सुखी-दुःखी होना भी अपने-अपने कर्मों और भावों पर निर्भर करता है। उसमें भी किसी ईश्वर जैसे अन्य तत्व की कोई आवश्यकता नहीं है। स्तुति से प्रसन्न होकर भला करने वाला और निन्दा से नाराज होकर बुरा करनेवाला ईश्वर वैज्ञानिक दृष्टि से भी न्यायसम्पन्न परमपूज्य सिद्ध नहीं होता है।

ज्ञातव्य है कि सांख्य, मीमांसा आदि अनेक प्राचीन दर्शनों में भी ईश्वर या परमात्मा को आरम्भतः जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं माना गया है और इस प्रकार की धारणा बहुत परवर्ती है और किसी प्रकार के ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं है।

इस तथ्य को अनेक विद्वानों ने सिद्ध भी किया है जिनमें डॉ. याकूब मसीह की पुस्तक **निरीश्वरवाद - भारतीय एवं पाश्चात्य विशेष** उल्लेखनीय है।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भले ही हमें यह नहीं बता पा रहा कि ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है? आदि; किन्तु इतना अवश्य सिद्ध कर रहा है कि वह रागी-द्वेषी और जगत् का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि इस प्रकार की मिथ्या धारणा से मुक्ति दिलाकर भी आधुनिक विज्ञान ने हम पर बड़ा उपकार किया है।

सन्दर्भ-सूची -

१. पं. टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक, मंगलाचरण
२. पं. दौलतराम, छहढाला, मंगलाचरण
३. पं. दौलतराम, देवस्तुति (देखो - दौलत-विलास, पृष्ठ 27)
४. कविवर मंगतराय, बारह भावना, मंगलाचरण
५. सम्पादक - डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक - पं. टोडरमल स्मारक

ट्रस्ट,ए-४, बापूनगर, जयपुर राज.

६. जैन न्याय की भूमिका, पृष्ठ 8

७. ज्ञातव्य है कि दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत प्रमाणशास्त्र या न्यायशास्त्र भी आता है जिस पर दार्शनिकों ने स्वतंत्र रूप से हजारों ग्रन्थ लिखें हैं और वे सभी मनुष्य को भलीभाँति परीक्षा करना ही सिखाते हैं।

8. (क) वास्तव में दर्शन और विज्ञान में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों की उत्पति जिज्ञासा से, विश्व को समझने की चेष्टा से होती है। दोनों का उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना है. वस्तुत: दर्शन और विज्ञान में किसी प्रकार का विरोध नहीं दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दर्शन के कुछ अभावों की पूर्ति विज्ञान करता है और विज्ञान के कुछ अभावों की पूर्ति दर्शन। अत: विज्ञान की प्रगति का प्रभाव दर्शन पर और दर्शन की प्रगति का प्रभाव विज्ञान पर पड़ना स्वाभाविक है। अन्य शब्दों में ये एक-दूसरे की समीक्षा करके प्रगति का साधन प्रस्तुत करते हैं।

-डॉ. अर्जुन मिश्र, दर्शन की मूल धाराएँ, पृष्ठ 41-44

ख) दर्शन और विज्ञान सहोदर हैं। चिंतन की ऊहापोहात्मक प्रणाली दोनों का आधार है, अत: इन दोनों का स्वरूप भी भिन्न नहीं है। इन दोनों का प्रयोजन भी एक ही है अन्वेषण।

-पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ, मनीषी, पृष्ठ 157

(ग) दर्शनशास्त्र का विषय है- चित् अचित् रूप इस अखिल विश्व की जटिल व्यवस्था का अनुशीलन करके उसमें से अनेक उपयोगी तथ्यों की खोज निकालना; इसलिए दर्शनशास्त्र भी एक विज्ञान है आज के भौतिक विज्ञानवत्।

-जिनेन्द्र वर्णी (प्राकृत-विद्या, अप्रैल-दिसम्बर 2008, पृष्ठ 27)

९. यह विचारधारा कि विज्ञान प्रकृति के सभी रहस्यों को उद्घाटित करने में सक्षम है, एकांगी है। .. धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक हैं, दोनों एक-दूसरे की सहायता करते हैं और दोनों का ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करा सकता है।

-नारायणलाल कछारा, जैनधर्म में विज्ञान, आमुख, पृष्ठ 8

10. **अंतो णत्थि सुईण काली थीओ वयं च दुम्मेहा।**
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणां खयं कुणादि।

अर्थ- शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय थोड़ा है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः केवल वही सीखना चाहिए जो जन्म-मरण का क्षय करे।

११. क) विगत शताब्दी के विख्यात वैज्ञानिक आइंसहेन की अन्तिम अभिलाषा देखिये -

I have searched till the matter only. i desire that if there is rebirth, I will wish to know about myself. The knower. He also felt the necesity of synchronizing science with spirituality. He feels that science is necessary but it is not the necessity, because without peace and tranquility, all is in vain.

-Jain Journal, Kolkata, January 2008, Page 152

(ख) मैंने अपनी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की सारी जिन्दगी में पिताजी की (आध्यात्मिक) बातों का अनुसरण करने की कोशिश की है। मैंने बुनियादी सत्यों (धर्म, दर्शन, अध्यात्म की बातों) को समझने का भरसक प्रयास किया हैं जिन्हें पिताजी ने मेरे सामने रखा।

-डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम, अग्नि की उड़ान, पृष्ठ 23

12.डॉ. अनिल कुमार जैन, जीवन क्या है?(What is life?)पृष्ठ 30-31
13. डॉ. अनिल कुमार जैन, जीवन क्या है?(What is life?) पृष्ठ 11
14, डॉ. अनिल कुमार जैन, जीवन क्या है?(What is life?)पृष्ठ 11-12
15. प्रो. राजाराम जैन, अहिंसा एवं पर्यावरण-संरक्षण-सिद्धान्तों का अक्षय स्त्रोत जैनधर्म, पृष्ठ 204
16. आस्था और अन्वेषण, पृष्ठ 109-110
17. सच्चे सुख का मार्ग, पृष्ठ 62

जैनधर्म में परमाणु की अवधारणा एवं विज्ञान

– प्रो. विजयकुमार जैन

जैनों की अणुसम्बन्धी मान्यता अतीव प्राचीन है (Most Primitive) जैनों एवं आजीविकों ने प्रारम्भ से ही इसे माना है। सांख्य और योग दर्शन में इसके दर्शन नहीं होते, वैशेषिक और न्यायदर्शन में इसका उल्लेख हुआ है। उपनिषद् आदि में भी अणुवाद का उल्लेख नहीं मिलता, वेदान्त सूत्र में इसका खण्डन किया गया है।

अणवः स्कन्धाश्च (तत्त्वार्थसूत्र 5/25) इस सूत्र के अनुसार पुद्गल के दो भेद हैं– अणु और स्कन्ध।

अणु – अणु जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता उस अविभागी एक प्रदेश पुद्गल द्रव्य को अणु या परमाणु कहते हैं।

स्कन्ध– दो, तीन, संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड (समूह) को स्कन्ध कहते हैं।

भेद संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते अर्थात् भेद=विछुड़ने और संघात=मिलने और भेद संघात दोनों से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। जैसे 20 परमाणु वाला स्कन्ध है, उसमें 10 परमाणु विखर जाने से 10 परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है और उसी में 10 परमाणु मिला जाने से 30 परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है। आदि। उत्पतिङ्क अणु की उत्पति स्कन्धों के भेद–टूटने से ही होती है (**भेदादणुः** –तत्वार्थसूत्र 5/27)

चक्षु इन्द्रिय से दिखने योग्य स्कन्ध भेद और स्कन्ध दोनों से ही उत्पन्न होते हैं अकेले भेद से नहीं (**भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः** –तत्वार्थसूत्र 5/28)।

बन्ध का कारण– चिकनाई तथा रुखापन के निमित से परमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है। अनेक पदाथों में एकपने का ज्ञान कराने वाले

संबंध विशेष को बन्ध कहते हैं । (**स्निग्धं रुक्षत्वाद् बन्धः** –तत्वार्थसूत्र 5/33)।

एक गुणवाले परमाणु में बन्ध का अभाव –

न जघन्य गुणानाम् –तत्वार्थसूत्र 5/ 38

गुणों की समानता होने पर भी सजातीय परमाणुओं का बन्ध नहीं होता (**गुणसाम्ये सदृशानाम्** 5/22 वही)।

दो अधिक गुणों वालों के साथ ही बन्ध होता है। (वही 5/36)

एक प्रदेश में होने वाले स्पशर्गादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं। यह अणु एक प्रदेशी होने से सबसे छोटा होता है इसलिए यह अणु कहलाता है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि जिससे वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। सर्वार्थसिद्धि में नि.सा.गा. 26 उद्धृत की गई है कि

अत्तादि अत्तमज्झ अंततं पणेव इंदिये गेज्झ।
ज दव्वं अविभागी तं परमाणु विआणाहि।

कर सकती, जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु समझो।[१]

वास्तव में परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है– राजवार्तिक, नयचक्र, तिलोयपण्णति

– परमाणु में जाति भेद नहीं हैं।

– सिद्धों के समान परमाणु निष्क्रिय नहीं।

परमाणु अशब्द है– पंचास्तिकाय, तिलोयपण्णति।

परमाणु का लोक मे अवस्थान क्रम –

– कुछ चलित है कुछ अचलित –गोम्मटसार जीवकाण्ड।

–अनन्त परमाणु आज तक अवस्थित हैं– धवला

–नित्य अवस्थित परमाणुओं का कथचित निषेध भी है।

–परमाणुओं में चार गुणों की पांच पर्याय होती हैं– पंचास्तिकाय

–परमाणुओं में कथचित अवयव व निरवयवपना 7

–आदि मध्य व अन्तहीन होता है।

एकप्रदेशी होता है।[२]

काल परमाणु – भगवती सूत्र में चार प्रकार के परमाणुओं का उल्लेख

है।[३]

चउविहे परमाणु पण्णन्ते, तं जहा-दव्वपरमाणु खेतपरमाणु काल परमापू भावपरमाण्यू। अंगसुताणि 2 (भगवई) 20/40

द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव के परमाणु बताए गए हैं कि द्रव्यरूप परमाणु को द्रव्य परमाणु, आकश प्रदेश को क्षेत्र परमाणु समय को काल परमाणु एवं भाव परमाणु को पुद्गल का परमाणु माना गया है। -भगवती वृति, पत्र 788

-भगवती टीका में समय को काल परमाणु कहा है। जैन दर्शन के अनुसार काल के अन्तिम अविभाज्य भाग को समय कहा जाता है।

-सत्कारी मुखर्जी, इल्यूमिनेटर आफ जैन टोनेट, पृ. 14 जैनेतर दर्शनों में इसे क्षण कहा गया है।

यथापकर्ष पर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्त् कालः क्षणः।

-श्वेताम्बर परम्परा में काल को पर्याय तथा स्वतंत्र द्रव्य रूप में मानने की अवधारणा है।

दिगम्बर परम्परा में समय को 'कालाणु' की पर्याय कहा गया है।

-द्रव्यानुयोगातर्काणा, 10/14

'मन्दगत्याप्यणुर्यावत्प्रदेशे नभसः स्थितौ ।
याति तत्समयस्यैव स्थान कालाषु रुच्यते।।

- द्रव्यानुयोग तर्कणा, 10/14 गति-

अंगसुत के अनुसार परमाणु एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है।[४]

(परमाणुपोग्गलेण लोगस्स पुरत्थिमल्ल तं चेव जाव उवरिहल्ल चरिमंत एगसमएण गच्छति) अंग सुताणि 2 (भगवई 16/116)

विखण्डन - परमाणु का छेदन, भेदन, दहन,स्पर्शन आदि नहीं हो सकता है, यह पुद्गल की अन्तिम इकाई है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार परमाणु का विखण्डन हो जाता है।[५]

आधुनिक विज्ञान ने बहुत सूक्ष्म उपकरण विकसित किए हैं। उनके व्यावहारिक परमाणु के विभाजन की संभावना की जा सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार विज्ञान समस्त अणु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध है।
–परमाणु छिन्न भिन्न नहीं होता, इसका कारण विचारकों ने दिया है कि असि की धारा बहुत स्थूल होती है।[६]
'जैन दर्शन और विज्ञान' नामक पुस्तक में जैन परमाणु की विज्ञान से तुलना की गई है जिसका विवरण इस प्रकार है –
– जैनदर्शन का परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, अर्थात् किसी वैज्ञानिक प्रयोगशला के यंत्रों से ग्राह्य (डिटेक्टेवल) नहीं है।

विज्ञान ने जो मौलिक कण (एलीमेण्टी पार्टीकल्स) खोज निकाले है, जैनदर्शन के अनुसार वे सब कई परमाणुआां के संवेग से बने स्कन्ध हैं।
–जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी जल, अग्नि, वायु सब पदार्थ परमाणुओं से निर्मित हैं साथ ही विभिन्न प्रकार की ऊर्जा आतप, प्रकाश, विद्युत आदि पुद्गल की पर्याय है, इसलिए उर्जा में भी परमाणु होने चाहिए जैसे कि जल, वायु आदि के स्कन्धों में है।

आधुनिक प्रयोगशालाओं में ऊर्जा (एनर्जी) को पदार्थ (मैटर) के रूप में और पदार्थ को उजर्ग रूप में परिवर्तित करने की प्रक्रियाएं होती रहती हैं।

आज का वैज्ञानिक प्रोटान, न्यूट्रान, इलेक्ट्रान कई प्रकार के मैसान, न्युट्रिनो, क्वार्क आदि कणों के अनुसन्धान में रत है। यदि जैन दर्शन का परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य के साथ–साथ यन्त्र ग्राह्य भी नहीं है तो इन सब मौलिक कणों में से कोई भी कण जैनदर्शन का परमाणु नहीं हो सकता।[७]

परमाणु के गुणों में जैन दार्शनिकों ने गुरुत्व (भारीपन) और लघुत्व (हल्केपन) को भी मौलिक स्वभाव नहीं माना है ये विभिन्न परमाणुओं के संयोजन परिणाम हैं।

आधुनिक विज्ञान भी यह मानने लगा है कि स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर जाते हुए तथाकथित परमाणु के छोटे छोटे कण भार आदि गुणों से रहित हो जाते हैं। जैसे प्रोटोन, न्यूट्रिनो आदि।

–जैनदर्शन ने स्निग्धत्व और रुक्षत्व को परमाणुओं के परम्पर बन्धन का कारण माना है।

वैज्ञानिकों ने परमाणुओं के परस्पर बन्धन का कारण घनादिवत (पाजिटिव चार्ज)– स्पिनधत्व और ऋण विद्युत (निगेटिव चार्ज) रुक्षत्व को माना है।

डॉ. बी. एल. शील ने इस बात का समर्थन किया है। (पोजीटिव्ह साइंस आफ एन्सिएट हिन्दूज)

–जैनदर्शन के अनुसार रुक्ष परमाणु रुक्ष के साथ स्निग्ध परमाणु स्निग्ध के साथ दो से लेकर अनन्त गुणीशों की तरतमता से बन्धन को प्राप्त होता है।

डॉ. गेलमान के क्वार्क सिद्धान्त के अनुसार प्रोटॉन तीन क्वार्क से मिलकर बना है। न्यूट्रान भी तीन क्वाकों से मिलकर बना है। यह आवश्यक नहीं कि ये कण स्वतंत्र रूप में ही पाये जाए। ये केवल बल (फोर्स) ऊर्जा (एनर्जी) अथवा धारा (करेण्ट) के रूप में ही हो सकते हैं।

कुछ बातों का यहाँ जैनदर्शन से साम्य दिखता है। जैनदर्शनकार भी यही कहते हैं कि रुक्ष परमाणु रुक्ष के साथ और स्निग्ध परमाणु स्निग्ध के साथ दो से लेकर यावत अनन्त गुणांशों की तरतमता से बन्धन को प्राप्त होते हैं।[४]

जैनदर्शन के अनुसार परमाणु की स्वाभविक गति सरल रेखा में है और वैभाविक गति वक्र रेखा में। परमाणु कम से कम एक समय में एक आकाश–प्रदेश का अवगाहन कर सकता है और अधिक से अधिक उसी समय में चतुर्दश रज्वात्मक पूरे विश्व का। अणु–परमाणु कण के गति सम्बन्धी विचारों में दर्शन और विज्ञान में समानता भी है और असमानता भी, क्योंकि आधुनिक विज्ञान के अनुसार इलेक्ट्रॉन की गति गोलाकार है–

जैनदर्शन बताता है कि थोड़े से परमाणु विस्तृत आकाश–खंड को घेर लेते हैं जिसे परमाणुओं का व्यायतीकरण कहते हैं और कभी–कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश देश में समा जाते

हैं, जिसे परमाणुओं का समासीकरण कहते हैं। आधुनिक विज्ञान इस बात की पुष्टि करता है। हाल ही में खोजे गए सबसे छोटे तारे के एक क्यूबिक इंच में 16740 मन भार आंका गया है।[९]

परमाणु ऊर्जा और तेजो लेश्या - परमाणु-शक्ति (न्यूक्लीअर एनर्जी) और तेजोलेश्या में यत्किंचित् साम्य है- कथानक मिलते हैं कि 'जो व्यक्ति छह महीने तक बेले का तप करे, ऊर्ध्वबाहु रहकर हमेशा सूर्य की आतापना ले, और पारणे में एक मुट्ठी उड़द और एक चुल्लू गरम पानी ग्रहण करे, वह तेजोलेश्या को प्राप्त करता है।'

तेजो लेश्या परमाणु-शक्ति की भांति ध्वंसकारी बन सकती है। तेजो लेश्या पौद्गलिक है और वह विस्तृत भाव को प्राप्त होकर अंग, बंग, मगध, मलय, मालव-जैसे 16 देशों को एक साथ भस्म कर देती है।

कुद्ध अनगार में से तेजी लेश्या निकलकर दूर गई हुई दूर गिरती है, पास गई हुई पास गिरती है। वहाँ जहाँ गिरती है, वहाँ उसके अचित पुद्गल प्रकाश करते यावत् तपते हैं।

आधुनिक परमाणु-ऊर्जा तो केवल ऊष्मा के रूप में ही प्रकट होती है, पर तेजो लेश्या में उष्णता और शीतलता- दोनों गुण विद्यमान हैं।[१०] तेजो लेश्या के दो भेद बताए गए हैं -

उष्ण तेजो लेश्याङ्क (न्यूक्लीअर एनर्जी)

शीतल तेजो लेश्या- (एंटी न्यू क्लीअर एनर्जी)

शीतल तेजी लेश्या उष्ण तेजी लेश्या के प्रभाव को तत्क्षण नष्ट कर सकती है। वैज्ञानिक अभी तक उष्ण तेजो लेश्या अणुबम और उद्जन बम का ही आविष्कार कर पाए हैं, किन्तु अणु-आयुद्धों का प्रतिकारण अस्त्र उन्हें अभी तक नहीं मिला है।

परमाणु-शक्ति दो तरह से उत्पन्न होती है-

१. गलन (परमाणु-विखंडन या परमाणु-विगलन, फिसलन) से,

२. पूरण (परमाणुङ्कसंलयन, न्यू क्लीअर फ्यूजन से)।

यह परमाणु-विगलन तथा परमाणु-संलयन के सिद्धान्त जैनदर्शन की **पूरण-गलन धर्मत्वात् पुद्गलः** इस संकल्पना को परिपुष्ट करते हैं।

पूरण अर्थात् मिलन या संयोग, गलन अर्थात् वियोग या पार्थक्य ।

पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने विज्ञान के साथ जैन दर्शन की तुलना के लिए उद्धृत किया है कि –

आधुनिक रसायन शास्त्र में जो एटोम माने गए हैं वे जैन परमाणुओं के समकक्ष नहीं हैं ।[११]

जैनधर्म का कर्मवाद अणुसिद्धान्त पर अवलम्बित है। अतिसूक्ष्म पुद्गल अणुओं का कार्मण शरीर प्रत्यय जीव के साथ लगा हुआ है। इसलिए कहा जाता है कि जैनों ने पहले पहले अणुसिद्धान्त को माना और उसका सूक्ष्म विवेचन किया।[१२]

सन्दर्भ-सूची –

1. सवार्थसिद्धिः, पृ. 227–228
2. विस्तार के लिए देखिए– जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश
3. जैन आगमों में दर्शन, पृ. 137
4. जैन जागम में दर्शन, पृ. 124
5. जैन आगम में दर्शन, पृ. 116
6. जैन आगम में दर्शन, समणी मंगलप्रज्ञा, पृ. 117
7. जैन दर्शन और विज्ञान, पृ. 238
8. जैन दर्शन और विज्ञान, पृ. 340
9. भगवती सूत्र भाष्य 6/70ङ्क106
10. भगवती सूत्र, शतक 15
11. Cosmology old and New, Prof. G. R. Jain जैनधर्म, पृ. 72
12. जैन संस्कृति के विविध आयाम, पृ. 231 (डॉ. राका जैन)

सन्दर्भ ग्रन्थ विवरण–

1. तत्वार्थसूत्रार्थ, सम्पा. पं. बालचन्द्र काव्यतीर्थ प्रका. मोहनलाल जैन शास्त्री, जबलपुर, वी.नि.सं. 2481
2. सर्वार्थसिद्धि, सम्पा. पं.फूलचन्द्र जी, सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 2009
3. राजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

4. अंगसुताणि, जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनू वि.सं. 2031
5. जैन आगम में दर्शन-समणी मंगलप्रज्ञा, जैन विश्वभारती लाडनू, 2005
6. जैन दर्शन और विज्ञान, समाकलन- मुनि महेन्द्र कुमार, प्रका. जैन विश्वभारती इंस्टीट्यूट लाडनू 1992
7. जैन संस्कृति के विविध आयाम-डॉ. राका जैन, मैत्री प्रकाशन, लखनऊ, 2015
8. जैन धर्म, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. श्रुतसंवर्धन संस्थानं, मेरठ, सन! 2015
9. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, सम्पादक- जिनेन्द्र वर्णों, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1986

- प्रो. विजयकुमार जैन
संकाय प्रमुख
जैनदर्शन, बौद्धदर्शन एवं सर्वदर्शन राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
लखनऊ
Email: Vijayjain.SampadakGDgmail.com
मो. 9415789445

जैन नारियों के आदर्श

-डॉ0 श्रीमती राका जैन, लखनऊ

जिन वचन अनुभूतिजन्य ज्ञान के उद्घोषक है। विशुद्ध ज्ञान (प्योर साइंस) के रूप में होने से उनके प्रायोगिक (एप्लाइड) के रूप अनेक बनते हैं। वे आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक - सभी प्रकार के रहस्यों को उजागर करते हैं। किसी एक पक्ष के लिए पूर्वाग्रह रखकर आचार्यों की उक्तियों के साथ न तो न्याय किया जा सकता है और न ही पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है। उसे तो आचार्यों की विवेक-दृष्टि का अनुसरण करते हुए ही समझा जाना चाहिए। हमें आज अपने आदर्श सुरक्षित रखने हैं जिसमें नारियों की अहं भूमिका है। जैन इतिहास की नारियों के 2 आदर्शों को जानकर, उनसे जीवन में उतारने की प्रेरणा लेकर हम अपने आदशों को सुरक्षित रख सकते हैं -

१. भगवान महावीर ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। चारों को तीर्थ कहा और चारों को मोक्षमार्ग का पथिक कहा। श्रमण संघ का नेतृत्व इन्द्रभूमि के हाथ में और साध्वी संघ का नेतृत्व चन्दनबाला के हाथ में था।

२. भगवान महावीर के समय दासी प्रथा का प्रचलन था किन्तु भगवान महावीर ने चन्दनबाला से आहार लेकर, उन्हें दीक्षा देकर, निर्भयतापूर्वक नारी-जागरण का बिगुल बजाया।

जैन साहित्य में नारियों के विभिन्न रूपों में उनके आदर्शों पर विचार इस प्रकार कर सकते है।

माता के रूप में - नारी का प्रमुख आदर्श है कि वह बच्चों को अच्छे संस्कार दें, अपने दायित्वों का निर्वाह करे। आज की अधिकांश माताएं होटल का खाना पसन्द करती हैं, उनके परिधान मर्यादा को छोड़ रहे हैं।

अनेक विसंगतियां सामने आने लगी हैं।

माता मरुदेवी ने ऋषभदेव को, माता त्रिशला ने महावीर को, माता कौशल्या ने श्रीराम को, माता देवकी ने श्रीकृष्ण को, माता अंजना ने हनुमान को, माता सीता ने लव-कुश को, माता रुक्मिणी ने प्रद्युम्नकुमार को, माता धारिणी ने जम्बूकुमार जैसे पुत्ररत्नों को जन्म देकर संसार को यह बता दिया कि नारी अबला होकर भी सबलों की जन्मदात्री है। अमरचन्द्रसूरि ने नारी के विषय में कहा है -

अस्मिनसारे संसारे सारं सारंगी लोचना।
यत्कुक्षि प्रभावना एता महावीर भवादृशाः ।।

अर्थात् इस असार संसार में सारंग लोचन वाली स्त्री ही सार है क्योंकि हे महावीर ! उसकी कुक्षि से तुम जैसे नर-रत्नों का जन्म हुआ। तीर्थकर माता को जगत-जननी कहा जाता है। तीर्थकर के जन्मोत्सव के समय जब इन्द्र- इस मनुजलोक में आते हैं तो वे भी सर्वप्रथम उनकी माता को ही नमन करते हैं। ऋषभदेवादि चौबीस तीर्थकर एवं शलाकापुरुषों को जन्म देनेवाली नारी ही है। जननी रूप नारी को जिनसेन ने बड़े आदर की दृष्टि से देखा है।

नारी माता के रूप में उपदेशिका/शिक्षिका रही है किन्तु आत्मसाधना के मार्ग में भी नारी आत्मकल्याण ही नहीं करती अपितु अपने परिवार एवं भव्य जीवों को भी आत्मसाधना के पथ पर बढ़ाने में सहायक होती है। यथा प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी एवं सुन्दरी के उद्बोधन से ही बाहुबली नम्रीभूत हुए और केवल सूर्य से प्रभासित हो गए। ठीक इसी तरह का उपदेश साध्वी राजमती ने रथनेमि मुनि को भोगों की ओर मुड़ते देखकर दिया था।

कन्या के रूप में - नारी माता-पिता की अभिशाप नहीं, जनतानन्दन कारिणी कहा गया है।[१]

कन्याओं का लालन-पालन एवं उनक शिक्षा-दीक्षा भी पुत्रों के समान होती थी। आदिपुराण के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों की अपेक्षा कन्याओं की शिक्षा का पहले प्रबन्ध किया था। अक्षर और

अंकविद्या में ब्राह्मी और सुन्दरी को पूर्णतया पाण्डित्य प्रदान किया।।[२]

आदिपुराण के अनुसार सुलोचना ने कौमार्य अवस्था में ही बहुत सी रत्नमयी प्रतिमाओं का निर्माण कराया और प्रतिष्ठा कराकर अभिषेक करवाया।[३]

आदिपुराण के 7वें पर्व के अनुसार वजदन्त चक्रवर्ती अपनी कन्या श्रीमती को बुलाकर उससे विविध कलाओं के विषय में चर्चा करते हैं।

शान्ति की अग्रदूत नारी के रूप में - आज नारी के यथार्थ स्वरूप की आवश्यकता है। युद्धरत दो राजा, जो भाई-भाई थे किन्तु इस बात से अनजान थे। युद्धभूमि के मैदान में जाकर मदनरेखा ने वस्तुस्थिति से अवगत कराकर शान्ति की शहनाई बजवा दी। महासती पद्मावती ने पिता-पुत्र को युद्ध से विरत किया ।[४]

राजगृही निवासी सुलक्षा के हृदय में महावीर के प्रति अदूट श्रद्धा है। अनेक ऋद्धि का धारी अम्बड संन्यासी अनेक प्रकार के रूप बनाकर सुलक्षा की श्रद्धा की परीक्षा करता है परन्तु वह वीतराग वाणी के प्रति अटूट श्रद्धा से विचलित नहीं होती।

सेवा और सहानुभूति के क्षेत्र में स्त्री का महत्वपूर्ण योगदान है। दुर्व्यसनों से बचाने में महिलाओं का महत्वपूर्ण हाथ है।

आज के फास्टफूड के बढ़ते समय में प्रत्येक नारी को जैन शास्त्रों में वर्णित अभक्ष्य पदार्थों का सम्यक ज्ञान रखकर जागरूक रहना चाहिए। हमें जानना चाहिए कि जिसमें ये सात बात घटित हों वे अभक्ष्य हैं -

1. त्रस जीव घात- जैसे पंच उदम्बर फल, आचार, मुरब्बा, द्विदल, रात्रि भोजन, मधु आदि।
2. स्थावर जीव घात- जैसे- बहुबीजक, कदक्कूल, अदरख मूली आदि।
3. प्रमाद/मादकतावर्धक- मद्य, अफीम, तम्बाकू आदि।
4. रोगोत्पादक- स्वास्थ्य के लिए हानिकारक पदार्थ।
5. अनुपसेव्य- अर्थात् लोकनिन्द्य जैसे प्याज, लहसुन आदि।

6. अल्पफल/बहुविघात- जैसे गन्ने की कडेरी।

7. अपक्वता- अप्रासुक वनस्पतियां एवं अप्रासुक जलादि।

डॉ0 नन्दलाल जैन ने जैनशास्त्रों में भक्ष्याभक्ष्य-विचार में विस्तार से प्रकाश डाला है।[५]

जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी, बीना (म.प्र.) के आस्था और अन्वेषण में जैन आहार संहिता और आधुनिक विज्ञान में भक्ष्याभक्ष्य पर अच्छी चर्चा की गई है।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि हम आहार में अतिवादिता को न थोपें और न अधिक शिथिलता बरते।[६]

आज जीवन-पद्धति में परिवर्तन अत्यावश्यक है। प्रमादपूर्वक असावधान रहकर हलन-चलन रुप क्रिया करने से हिंसा का पाप लगता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में अप्रमादपूर्वक क्रिया का विस्तार करते हैं।[७]

जब श्रीमती प्रतिभा पाटिल राष्ट्रपति पद को संभाल सकती हैं तो हमारी जैन नारियों की पर्यावरण संरक्षण में अहं भूमिका हो सकती है।

पृथिव्ययतेजोवायु वनस्पतयः स्थावरः।[८]

आचार्य उमास्वामी का यह सूत्र पर्यावरण को सन्तुलित रखने वाले हैं। आचार्य पूज्यपाद (पांचवी सदी), आचार्य सिद्धसेन (छठवी सदी), भट्ट अकलंक (आठवी सदी), आचार्य विद्यानन्दि (आठवीं सदी), आचार्य नेमिचन्द्र (दसवीं सदी) ने यह स्पष्ट उद्घोषित किया कि उक्त पांचों घटक अपनी-अपनी क्षमा-शक्ति के अनुसार परस्पर में बिना किसी टकराहट के सृष्टि के सभी प्राणिधारियों का उपकार करते हैं

परस्परोग्रहो जीवानाम्।[९]

१. पृथ्वी हमें क्या-क्या नहीं देती, पृथ्वी के गर्भ से प्राप्त हीरे की भस्म आयुवर्धक है, अमृत तुल्य है। सभी रोगों को शान्त करने के लिए बज-शक्ति के समान है।

२. जल की एक बूंद में 36450 कीटाणु हैं कम खर्च कर हम उन्हें जीवन-दान दें। जल का उपयोग घी के समान करें।

३. अग्नि का प्रयोग आवश्यकता से अधिक न करें। संयमी वृत्ति रखें।
४. वायुमण्डल अगणित निधियों का भण्डार है। वायुकायिक जीवों के क्रोध का कहर–भूकम्प, सुनामी एवं कैटरीना लहरे हैं।
५. मानव–जीवन के साथ वनस्पतिकायिक जीवों की तुलना की जाती है। पुत्र के समान वृक्ष का पालन करना चाहिए। वनस्पति–सुरक्षा के प्रति पूर्ण संवेदनशील होना चाहिए।[१०]

अहिंसक जीवनचर्या का पालन करने में नारी–नारी एकजुट हो जाये तो हमारा राष्ट्र बहुत आगे बढ़ सकता है।

धर्मोपदेशिका के रूप में नारी के आदर्श – जैनधर्म में 24 तीर्थकरों के विशाल साध्वी समुदाय का नेतृत्व 24 नारियों ने ही किया है। प्रथम तीर्थकर के समय ब्राही थी और अन्तिम तीर्थकर महावीर के शासन में चन्दनबाला 7 0 आज जरूरत है धर्मसेविका नारियों की। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में अनेक श्राविकाओं एवं आर्यिकाओं ने अपनी उदारता एवं आत्मोत्सर्ग के द्वारा जैन धर्म की पर्याप्त सेवा की। जैन नारियों के सुसमृद्ध इतिहास को जानकर आज की नारियों को प्रेरणा लेनी चाहिए और चहुंमुखी विकास में योगदान देना चाहिए।

ई.पूर्व छठवीं शताब्दी में जैनधर्म का अभ्युत्थान करने वाली इक्ष्वाकुवंशीय महाराज चेटक की रानी भद्रा, चंद्रवंशीय राजा शतानीक की पत्नी मृगावती, सूर्यवंशी महाराज दशरथ की पत्नी सुप्रभा, उदयन महाराज की पत्नी प्रभावती, महाराज प्रसेनजित की पत्नी मल्लिका एवं महाराज दधिवाहन की पत्नी अभया भी है। इन देवियों ने त्याग और शौर्य के द्वारा धर्म–ध्वजा फहराई। महारानी मल्लिका एवं अभया के विषय में कहा जाता है कि इन देवियों के प्रभाव से प्रभावित होकर महाराज प्रसेनजित एवं दधिवाहन जैनधर्म के दृढ़ श्रद्धालु बने। महाराज प्रसेनजित ने श्रावस्ती के जैनों का जो सम्मान किया था, उसका प्रमुख कारण महारानी की प्रेरणा थी।[११]

उड्रदेश के महाराज यम की महारानी धनवती की धर्मप्रभावना से केवल इनका कुटुम्ब ही नहीं, बल्कि उड्रदेश की समस्त प्रजा जैन

धर्मानुयायिनी बन गई। सम्राट् खारवेल की पत्नी भूसीसिंह ने भुवनेश्वर के पास खण्डगिरि-उदयगिरि पर अनेक गुफाएं बनवायी और मुनियों को सेवा-शुश्रूषा की।[१२]

मथुरा अभिलेख के अनुसार अनेक जैन महिलाओं ने मन्दिरादि का निर्माण कराया।[१३] मथुरा के एक संस्कृत शिलालेख-88 के अनुसार ई.पू. 3-4 से लेकर छठी शती के इतिहास में गंगवंश की नारियों की उल्लेखनीय सेवाएं प्राप्त होती हैं।

10वीं शती के वीरवर चामुण्डराय की माता काललदेवी की आज्ञा से श्रवणबेलगोला में गोम्मटेश्वर की मूर्ति स्थापित करायी गई। 1077 ई. में कदम्ब शासक कीर्तिदेव की बड़ी रानी माललदेवी ने कुप्पटूर में पद्मनन्दि सिद्धान्तदेव द्वारा पाशर्वनाथ चैत्यालय बनवाया। सन् 1112 ई. में राजा भुजबल गंग की महादेवी जैनमत की संरक्षिका थी। उसे जिनेन्द्र चरणों की भ्रमरी कहा गया है। जैन सेनापति गंगराज की पत्नी लक्ष्मीमती ने श्रवणबेलगोला में एक जिनालय बनवाया। गंगवंश के रजा मारसिंह की छोटी बहिन के गुरु माघनन्दि थे। इन्होंने जहाँ मन्दिर नहीं थे वहाँ जैन मन्दिर बनवाए एवं मुनियों की निवास-स्थली बनवाई। श्रवणबेल शिलालेख के अनुसार होयसल नरेश विष्णुवर्धन की रानी शान्तलदेवी ने मन्दिर बनवाएं अभिषेक के लिए एक तालाब बनवाया और साथ में एक गांव दान दिया।[१४]

दक्षिण भारत के अतिरिक्त उत्तरभारत में भी कई नारियों ने जैनधर्म की प्रभावना की। राजपूताने की जैन नारियों में पोरबाडवंशी तेजपाल की भार्या सोहड़ादेवी, शीशोदिया वंश की रानी जयतल्लदेवी एवं जैन राजा आशाशाह की माता का नाम विशेष उल्लेखनीय है। चौहानवंश में पृथ्वीराज द्वितीय और सोमेश्वर ने अपनी महारानियों की प्रेरणा से बिजौलिया के मन्दिर को दान में दिया था। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं।

जैन धर्मसेविका नारियों के प्रसंग आज हमें आगे भी जैन धर्मप्रभावना की प्रेरणा देते हैं। ऐसे प्रसंग हमें अवश्य अपने बच्चों तक

पहुंचाना चाहिए। जिससे हमारी परम्परा की श्रृंखला आगे बढ़ती रहेगी और आज के दिन-प्रतिदिन प्रदूषित होने वाले वातावरण में कुछ परिवर्तन आएगा। आदर्श पत्नी के रूप में नारी के आदर्श निर्वाह नहीं कर पा रही है। भौतिकता में अपने अस्तित्व को भुला रहीं हैं। पद्मपुराण में कहा गया है कि यदि पत्नी अनुकूल है तो स्वर्ग की क्या आवश्यकता और प्रतिकूल है तो नरक जाने की क्या जरूरत? उसे वैद्यतुल्य दुःखों को दूर करने वाली होना चाहिए -

'न च भार्या समं किंचित् विद्यते भिषको मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतं ब्रवीमि ते ।।

मछली और पानी के सम्बन्ध की तरह पति-पत्नी का सम्बन्ध है। महारानी चेलना ने राजा श्रेणिक को धर्मबोध कराया। मैनासुन्दरी ने पति का कुष्ठरोग दूर किया। सीता, दमयन्ती, द्रौपदी आदि अनेक राजबधुएं पति-सेवा में ही अपना सुख मानकर उनके साथ दुख उठाने को तत्पर रहीं।

भार्या धर्मानुकूला इस कथ्य को सार्थक करना चाहिए। शीलधर्म के रक्षार्थ नारी ने अपने पति के प्रति अनन्य श्रद्धाभाव रखा । अरिष्टनेमि की पत्नी राजमती इसका अनन्य उदाहरण है।

आजकल फूलों को तोड़कर महिलाएं अपनी वेणी में गूंथकर बड़े ठाठ-बाट से श्रृंगार करती हैं और आधुनिक जेण्टिलमैन अपने कोट के कॉलर पर गुलाब का फूल लगा कर प्रसन्न होते हैं। इस हिंसक श्रृंगार के प्रसंग में पाश्चात्य विद्वान जार्ज बनार्ड शॉ का एक प्रसंग स्मरणीय है। एक बार उनकी परम भक्त एक महिला ने उनसे पूछा कि 'क्या आप फूलों के सौन्दर्य-प्रेमी हैं? जार्ज बर्नार्ड शॉ ने सकारात्मक उत्तर देते हुए कहा कि -मैं सौन्दर्य-प्रेमी अवश्य हूँ किन्तु फूलों को तोड़ना एवं अपने प्रिय बच्चे की गर्दन मरोड़ कर उसे मार डालना दोनों को बराबर मानता हूँ।' यह उत्तर सुनकर वह महिला शर्मिदा हो गई।[१५]

यदि पर्यावरण-प्रदूषण तीव्रगति से बढ़ता रहा तो प्राणी का जीवन औसत कम होता चला जाएगा। अर्थ लोभी और स्वार्थगन्ध मानव

के विवेक-विहीन कुकृत्यों के कारण ही विषम परिस्थितियां उत्पन्न हो रही हैं अपनी विचारधारा एवं जीवन-पद्धति में परिवर्तन लाने पर ही यह सम्भव है। जिसमें नारी पुरुष के साथ कदम-कदम मिलाकर सहयोग करे।

धवला पुस्तक के उद्धरण क्रमांक 70-71 में पाप अर्थात् दुराचरण को कारण एवं समाधान कहा गया है -

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बजसई।
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जद सए।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई।

अर्थात् किस प्रकार चलना, खड़े होना, बैठना, सोना, भोजन करना एवं संभाषण करना चाहिए जिससे पापकर्म नहीं बंधता है। इसके उत्तर में यत्नपूर्वक शयन करना, यत्नपूर्वक भोजन करना, यत्नपूर्वक संभाषण करना चाहिए। इसप्रकार का आचरण स्त्री-पुरुष सभी को करना चाहिए। पापकर्मों से दूर रह सके किन्तु नारी की अह भूमिका है, वह नींव का पत्थर बनकर धर्मसेवा करती है।

- जैन सन्दभों को जानकर, अच्छी तरह समझकर जन-जन तक प्रयोगिक रूप में पहुंचाने का काम कर सकती हैं।

सन्दर्भ-सूची -

1. आदिपुराण 6/83
2. आदिपुराण 16/102-14
3. आदिपुराण 43/174-175
4. पालि एवं प्राकृत विद्या, पृ. 162
5. तुलसी प्रज्ञा सितम्बर/अक्टूबर 1990
6. जैन विद्या संचयनिका, कस्तूरचन्द्र काशलीवाल अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित आलेख- गृहस्थ श्रावक के भक्ष्याभक्ष्य विचारङ्क डॉ. अनिल कुमार जैन, अहमदाबाद, पृ. 411, जैन केन्द्र, रीवा, मध्यप्रदेश, 1998
7. प्रवचनसार-आचार्य कुन्दकुन्द 3/17

8. तत्त्वार्थसूत्रम् 2/13
9. तत्त्वार्थसूत्रम् 5/21
10. जैन साहित्य-ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोष-प्रो. डॉ. राजाराम जैन, डी.लिट्, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, पृ. 261-279, सन् 1913
11. भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, द्वितीय खण्ड, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, 2003, पृ. 125
12. जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग, अभिलेख संख्या-5
13. भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का योगदान, पृ. 126
14. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं. 53 और 56
15. जैन-साहित्य-ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोश, लेखक-प्रो. राजाराम जैन, डी.लिट्. प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, 2013, पृ. 277

-डॉ0 श्रीमती राका जैन, लखनऊ
3/65, विकास खण्ड,
गोमती नगर, लखनऊ - 226010

The environmental Crisis is an outward manifestation of a crisis of mind and spirit.

Lynton K. Caldwell

Spiritual Ecology : Jainism

- Professor Nalin K.Shastree

Jainism aims at producing a better mind, less intensity of the passions, greater happiness and an increase in compassion, which aids in protecting the environment. The Jain spiritual ecology gives an insight into the nature- and psychology of human beings through non-violence, reverence for life, restraint and co-operation of all so that people do not to indulge in sinful or disturbing acts that harm the natural world. Focusing on purification of the Bhava Chetna - the emotional consciousness and its infestation in thoughts and action by constantly developing the sensitivity is most signifi33 nt, which can be understood well by the following invocation:

JAYAM CHAREJAYAM CHITTHE JAYAM BHASEJAYAM,
SAYE,
JAYAM BHUNJEJJ BHASEJJ EVAM PALAM NA WAJJHAIE,

Which means that a person should consciously walk, stand, sit, sleep, eat, speak. If hells he does like this, else is not bound with the Papa karma.

LESHYAS : The emotional Consciousness

Emotional consciousness is reflected in the concept of LESHYAS (aura of colours signifying the mental status), where, the example of a tree is cited. This states that the person having the Shukla Leshya (the best one) collects only those fruits, which have fallen on the ground, the person having the Padma Leshya (next to the best one) picks one or two fruits from the tree, and the person having Krishna Leshya (

the worst one) cuts the entire tree. The purity in emotional consciousness changes the focus from l, me at myself to Me, which indeed is the central point of the Jain Spiritual Ecology,

Foundations of the Jain Spiritual Ecology

* Emphasis on inner as well as outer purity signifying a non violent life. . . . . .
* All moral and ethical rules are equality applicable to all beings of the biological realm.
* Observing welfare of all living beings of the universe.
* True friendship to all is an outcome of approach towards non-violence (Ahimsa), which is as follows:

" All the venerable ones (arhats) of the past present and future discourse, counsel, proclaim. propound an unprescribe in unison - do not injure, abuse, oppress, enslave, insult, torment, torture or kill any creature or living being.'

INTERDEPENDENCE:

The Jain conviction of Paraspargraho jivanam teaches that all forms of life are bound together in mutuality and interdependence, irrespective of the degree of their sensory perceptions. This affirms a belief of co-existence, since every life-form is dependent on one another and 'ere is no place for a separatist view of sustaining life on the planet. The concept of constant number of souls present in the cosmos, ranging from the smallest micro-organism to complex life forms such as human beings or the higher animals, although with a variation in destinies and species is suggestive of interdependence in the closed ecological system.

NON-VIOLENCE {AHIMSA}

The Jain ecological philosophy is virtually synonymous with the principle of Ahimsa (non-violence), which seems to have arisen out of a strong sense of the unity of the universe and reverence for all life forms, which emphasizes for paying an equal regard to the welfare of every single man, woman, child and all other living beings and maximizes opportunities

for self-realisation.

Ahimsa has not been defined by actual harm; this may be unintentional. It is the intention to harm, the absence of compassion, which makes the action violent. Violence is committed first in the thoughts (Bhava himsa) and this psychic violence is the true violence. The TEN Vitalities include 5 Senses, 3 strengths of body, of speech, of mind, life span and respiration. Das Vaikalika Sutra Suggests that no sin accrues to one who walks, stands, sits, sleeps, eats and Speaks With vigilance.

Violence in thought translates into violence in action (Dravya himsa), the physical violence, which we see all around us. Acharya Amitigati has classified violence into 108 varities. One can commit violence oneself (kritaa), or have others commit violence (karitaa) or approve of violence (anu modana). The three-fold violence becomes nine-fold, as one or more of the three agencies of mind, speech and body can commit it. The nine-fold violence becomes twenty-seven fold, as it has three

stages: thinking of violent action; preparing for violence and committing violence. The twenty-seven fold violence becomes one hundred and eight fold, as one or more of the four passions (anger, pride, deceit and greed) can inspire it.

Ahimsa is a positive virtue and it resolves itself as jiva-daya, i.e. compassion for living creatures. This is a disposition not to cause any suffering to any living being in mind, body or speech; affection coupled with respect for all life forms, with a Commitment to not disturb the normal balance of the nature. It entails universal friendliness (maitri), universal forgiveness (kshama) and universal fearlessness (abhaya).

NON - ATTACHMENT (Aparigraha)

This non-possessiveness is the mental attitude of nonattachment to possessions, objects and attitudes. For as-

cetics it is a vow of non-possession, for householders it is vow of limited possession. This aspect deals with avoidance of over exploitation or abusive or wasteful consumption, without disrupting the normal life at one end and at the other without interfering with the rights of others. It suggests taking from the earth only what we need; the mother earth will then be able to serve and support all living beings longer. It is related to the doctrine of renunciation, which is not measured by the quantum Of possession; rather is determined by the attitude of dispossession towards one's possession. Non-attachment is a practice of self-restraint and voluntary control of wants, abstinence from over-indulgence and elimination of aggressive urge by way of respecting others existence. This dimension inspires human beings to become spiritual agents for preserving the grace and dignity of the Mother Earth and enhancing the productivity and vitality of earth as a natural phenomenon.

Aparigraha al-Ad Austerities

Austerities (Tapa) strengthens the will power to resist the allurement of worldly possessions by way of challenging willingly the natural instincts by way of controlling the demands Of senses and passions. This is aimed to control desires and more above to ensure an expiry of desires for strengthening the three jewels of Right faith, Right Knowledge and Right conduct. There are six types of external austerities; Upvaas or anasana - (Fasting), Unodari (Eating less than needed), Vruttisankalpa (limiting food intake), Rasparityaga (abstension of the delicious), Samlinataa (avoidance of all that can lead to temptation) and Kayakalesa (mortification of the body).

It has been depicted in the Mulachar that external austerities should not endanger one's mental attitude nor counter the zeal for the performance of disciplinary practices of an ethical and spiritual nature, but should rather enhance spiri-

tual conviction. Acharya Samantbhadra has emphasized for the inner aspects of austerities and has suggested for a six-fold classification which is as under:

• Prayshita (penance)
• Vinaya (reverence)
• Vaiyavritti (service)
• Swaddhyaya (self-study)
• Vyutsarga (detachment)) ?
• Dhyana (meditation) An emphasis has been laid down that wants should be reduced, desires curbed and consumption levels kept within reasonable limits, which automatically ensure a good environment.

ACHAURYA (non-stealing)

This doctrine further supplements the Ahimsa and Aparigraha. Theft is the taking of anything, which is not freely given. The doctrine is comprehensive, covering the avoidance of dishonesty in all walks of life. In addition, it also rejects any encroachment over the rights of others. As material goods are external vitalities for people, whoever harms them, e.g. by stealing, commits violence.

Brahmacharya (Celibacy)

It literally means treading into the soul, but conventionally it is taken to mean abstinence from sexual activities. The doctrine prohibits sexual relations other than one's spouse, and anything likely to stimulate sexual desires. This deals with the major environmental concern of population explosion, which is an important contributor in depletion of resources.

PROTECTION OF RESOURCES

Non-violence protects earth, Water, air, fire, vegetables and paves the way for protection of ecological balance and promotes environmental concerns. Hunting has been conceived as one of the seven serious offences and vices, which is a serious effort to protect wildlife. Not consuming some raw vegetables is a way to protect the natural propagation cycle of

plants. Preventing bathing and washing clothes at the river banks, crossing rivers by monks, filtering water and drinking boiled water, eating those ripe fruits from which seeds have been taken out, not to pluck even a leaf from the trees, protecting smallest creatures while walking etc. are a few examples which help in protecting the natural resources. Concept of five samitis is a designed action to protect the life forms. Another designed action is to prohibit entering into such trades which encourage violence. Using minimal quantities of water for daily life routine and making not the tanks dry are a few examples for caring for water resources.

Avoiding undesired travel and if necessary defining limits is a step further to maximize the nature's balance.

A JAIN MODEL FOR ENVIRONMENTAL PROTECTION

The proposed Jain model is reflected in the form of a triangle. One angle of the triangle suggests for appropriate technology, another for relevant lifestyle and the third one for ethical considerations. The lifestyle would be supported by the technological advances and more and more inventions would meet the needs of the changes in lifestyles. Eth, as detailed under:

• Helping attitude, detachment and universal friendship

• Restraint and minimal use of natural resources and COnsumables

• Carefulness in eating, speaking, movements and picking up and sitting down o Daily penitential retreat and prayer for the welfare of all living beings and for universal peace

• Contentment, tolerance and non-violent life-style

• Amity towards all co-habitants on the planet.

- Professor Nalin K.Shastree

{ na linkumarshastree(GDyahoo.com }

Dean, Faculty of Science.

Magadh University, Bodhgaya-824 234,

India Cell.nos. 094 308 40890; 098 100 32901

सचित्तत्याग व्रत का वैज्ञानिक महत्त्व

- डॉ. आशीष जैन आचार्य, शाहगढ़

श्रेष्ठ जीवन के दो आधार है - श्रावक और साधु। गृहस्थ अवस्था में रहते हुये अपने जीवन को अनुशासित, शालीन, धर्माचरणयुक्त, न्याय-नीतिपूर्वक आजीविका, स्वदारसंतोषव्रत, संग्रही परन्तु परिग्रह से विरक्ति की ओर, असंयम परन्तु संयम की ओर अग्रसर, आचार-विचार का परिपालन, भक्ष्य-अभक्ष्य का परिज्ञान एवं परिपालन आदि ये सभी श्रावक अपने जीवन में आत्मसात् करके चलता है, और अपने इन्हीं श्रेष्ठ जीवन के चर्या के बल पर उत्तम चर्या से युक्त साधु जीवन को आत्मसात् कर स्वयं का कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। जैनदर्शन ने श्रावक के लिये बारहव्रत, सप्तव्यसनों का त्याग, अष्टमूलगुणों का पालन, छह कर्त्तव्य, ग्यारह प्रतिमायें आदि अनुशासन के नियम बताये हैं, जिनसे श्रावक का तन स्वस्थ्य रहता है, मन पवित्र और निर्मल रहता। श्रावक की चर्या में समाहित ग्यारह प्रतिमायें श्रेष्ठ जीवन में बढ़ने के ११ सोपान है, क्रम क्रम से आगे बढ़ता है, विशुद्धि पाता है और स्वयं को श्रेष्ठ-सर्वश्रेष्ठ-परमेष्ठी बनाता है। यहाँ पर चर्चा मुझे करनी है पाँचवें सोपान सचित्तत्याग व्रत की, जिसके विषय में कहने के पूर्व प्रतिमा के क्या मायने है? इसको समझते हैं -

प्रतिमा यावज्जीवं नियमस्य स्थरीकरणं प्रतिज्ञा।[१]

ग्रहण किये गये नियमों को जीवनपर्यन्त स्थिर रखने की प्रतिज्ञा को प्रतिमा कहते हैं। प्रतिमाओं की संख्या ११ है। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधवास, सचित्तत्यागव्रत, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत, अनुद्दिष्टभोजी। प्रतिमा धारण का क्रम तथा उनके धारकों की संज्ञायें - पूर्व पूर्व प्रतिमा रूप व्रत में स्थित होकर

अपने ऊपर के व्रत पर आरोहण करे। ज्ञान और दर्शन को भावनायें तो सभी प्रतिमाओं में समान कही है। इन ग्यारह प्रतिमाओं में से पहले की छह प्रतिमा के धारक गृहस्थ कहे गये हैं। सातवीं, आठवीं, और नवीं प्रतिमा के धारक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं तथा अन्तिम दो प्रतिमावाले भिक्षु कहे जाते हैं और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होता है।[२]

सचित्तत्यागव्रत - यह प्रतिमाओं में पाँचवें सोपान पर है। सूक्ष्मता के साथ इसका अध्ययन किया जाये, तो साधना में सर्वाधिक महत्त्व इस सोपान का है, क्योंकि जैसा खाये अन्न, वैसा होय मन। मानसिक स्वस्थता के लिये आवश्यक है, कि हमारा भोजन स्वास्थ्य अनुकूल हो, जो कि इस प्रतिमा के सोपान में परिलक्षित है।

सचित्त और अचित्त शब्द के मायने -

सचित्त - सचित्त शब्द स+चित् से बना है, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - चित् अर्थात् चेतनता, जीव, आत्मा, मन। (चित्+क्विप्)।[३] स+चित्+क्विप् अर्थात् सचित्त = चेतना सहित, जीव सहित आदि।

अचित्त - अचित् (नञ्+चित्+क्विप् नञ् तत्पुरुष समास) समझदारी से रहित, धर्मशून्य, जड़, गया, अविचारित, अकल्पनीय, बुद्धिरहित, अज्ञान, मूर्ख, न सोचा हुआ।[४] आचार्यों ने सचित्त के लिये अप्रासुक और अचित्त के लिये प्रासुक शब्द का भी प्रयोग किया है।[५]

प्रासुक - सूखी हुई, पकी हुई, तपाई हुई, खटाई या नमक आदि से मिश्रित वस्तु तथा किसी यंत्र अर्थात् चाकू आदि से छिन्न-भिन्न की गई सर्व ही वस्तुओं को प्रासुक कहा जाता है।[६] अर्थात् सूखे हुये पके हुये-ध्वस्त-खटाई या नमक आदि से मिश्रित अथवा जले हुये द्रव्य प्रासुक है।[७]

मूल - मूली, गाजर, शकरकन्द आदि मूल कहलाते हैं।

फल - आम, अमरूद आदि फल कहलाते हैं।

शाक - भाजी को शाक कहते हैं।

शाखा - वृक्ष की नई कोपल को शाखा कहते हैं।

करीर - बाँस के अंकुर को करीर कहते हैं।

कन्द – जमीन में रहने वाले अंगीठा आदि को कन्द कहते हैं।

प्रसून – गोभी आदि के फूल को प्रसून कहते हैं।

बीज – गेहूँ, चना आदि को बीज कहते हैं।

(विशेष – यहाँ मूल आदि वनस्पतियाँ जो गिनाई है वह उनकी जातियाँ बतलाने के अभिप्राय से है ये यहाँ लक्षित नहीं है, क्योंकि मूल–कन्द तथा प्रसून स्पष्ट ही बहुघात तथा त्रसघात का कारण होने से अभक्ष्य है, जिसका त्याग पूर्व ही कर चुका है।)[८]

सचित्तत्यागव्रत की परिभाषायें – जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा (कोंपल) करीर (कैर) कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचित्तविरत पद का धारी श्रावक है।[९]

सच्चित्तं पत्त–फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरदो हवे सोदु।।७८।।
जो ण य भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं।
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो जदो को वि।। ७९।।
जो वज्जेदि सचित्तं दुज्जय जीहा विणज्जिया तेण।
दयभावो होदि कओ जिणवयणं पालियं तेण।।८०।।[१०]

जो ज्ञानी पुरुष सचित्त पत्र सचित्त फल, सचित्त छाल, सचित्त मूल, सचित्त कोंपल और सचित्त बीज को नहीं खाता है, वह सचित्तविरत प्रतिमाधारी श्रावक है। जो पुरुष जिस सचित्त वस्तु को स्वयं नहीं खाता है, उसे दूसरे को खाने के लिये देना योग्य नहीं है, क्योंकि खाने और खिलाने में कोई अन्तर नहीं है। जिस पुरुष ने सचित्त वस्तु के खाने का त्याग कर दिया है, उसने अपनी दुर्जय जिह्वा को जीत लिया है। उसने दयाभाव भी प्रकट किया और जिनेन्द्रदेव के वचनों का भी पालन किया है।

दयार्द्रचित्तो जिनवाक्यवेदी न वल्भते किञ्चन यः सचित्तम्।
अनन्यसाधारणधर्मपोषी सचित्तमोची स कषायमोची।।७१।।[११]

जिन वचनों का वेत्ता जो दयालु चित्त पुरुष किसी भी सचित्त वस्तु को नहीं खाता है, वह अनन्य साधारण धर्म का पोषक एवं कषायों

को विमोचक सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है।

जं वज्जिज्जइ हरियं तुय-पत्त-पवाल-कंद-फल-वीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं।।[१२]

जहाँ पर हरित त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कंद, फल, बीज और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है, वह सचित्त-विनिवृत्ति वाला पाँचवाँ प्रतिमास्थान है।

मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम्।
अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही।।१७८।।[१३]
सचित्तभोजनं यत्प्राङ्मलत्वेन जिहासितम्।
व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्वचकितस्तच्च पञ्चमः।।११।।[१४]

प्रथम चार प्रतिमाओं का निर्दोष पालक तथा प्रासुक नहीं किये गये हरे अंकुर, हरे बीज, जल और नमक आदि पदार्थों को नहीं खाने वाला दयामूर्ति श्रावक सचित्त त्याग प्रतिमावान् माना गया है। जो श्रावक प्रयोजनवश पैर से भी हरी वनस्पतियों को छूता हुआ अपनी अत्यन्त निन्दा करता है, वह श्रावक मिले हुये हैं अनन्त निगोदिया जीव जिसमें ऐसी हरी वनस्पतियों को खावेगा क्या? सज्जनों का जिनागमसंबंधी निर्णय तथा इन्द्रियविजय आश्चर्यजनक है क्योंकि ये सज्जन दिखाई नहीं देते हैं, जन्तु जिसमें ऐसी भी हरी वनस्पति को प्राणों का क्षय होने पर भी नहीं खाते हैं। भावार्थ - सचित्त त्यागी श्रावक जिनमें प्रत्यक्ष जीव दिखाई नहीं देते हैं तो भी केवल आगम के कथन के विश्वास से उस सचित्त वनस्पति का प्राण जाने पर भी भक्षण नहीं करते हैं, उनका आगम विश्वास और इन्द्रिय विजय प्रशंसनीय है।

प्रत्येक सचित्त पदार्थ में स्पर्श, रूप, रस, गंध, वर्ण पाया जाता है, और जब इस पदार्थ को अचित्त बनाया जाता है, तो निश्चित ही इसके स्पर्श, रूप, रस, गंध और वर्ण में अंतर आता है।

सचित्त पदार्थ स्वास्थ की दृष्टि से अनुकूल नहीं होते हैं। यदि हम प्रातःकाल कोई भी सचित्त फल या कोई कच्चा फल खाते हैं तो निश्चित ही हमारा पेट इसको स्वीकार नहीं कर पाता है, और उसमें दर्द

होने की संभावनायें बढ़ जाती है। यदि यही पदार्थ प्रासुक करके अचित्त स्थिति में खाया जाता तो स्वास्थ्य को लाभ भी होता और किसी भी प्रकार के रोग उत्पन्न होने की संभावना नहीं होती। वर्षाकाल में सबसे अधिक जीव उत्पन्न होते हैं। इस ऋतु में ही सर्वाधिक बीमारियाँ उत्पन्न होती है। यदि हमारा जल और भोजन दोनों प्रासुक होंगे, तो हम इन बीमारियों से बच सकते हैं। सभी डॉक्टर्स यही सलाह देते हैं कि आप अचित्त अर्थात् प्रासुक जल, प्रासुक फल और सब्जियों को ले, जिससे बीमारियों आप तक नहीं पहुँचेगी।

जिसमें चेतना हो ऐसी हरितकाय वनस्पति को सचित्त कहते हैं। भोगोपपरिमाण व्रतधारी को सचित्त फल, पत्र, शाक आदि का खाना अतिचार माना गया है। पाँचवीं सचित्तत्यागप्रतिमा का धारक श्रावक तो सचित्त वस्तु के खाने का यावज्जीवन के लिये त्याग कर देता है। किन्तु वह अचित्त या प्रासुक बनाकर खा सकता है। सचित्त वस्तु अचित्त या प्रासुक कैसे होती है, इस विषय की प्रतिपादक एक प्राचीन गाथा प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार है –

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिललवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं।।

अर्थात् जो फलादि वस्तु सूर्य के ताप से सूख गई हो, पक गई हो, अग्नि से पका ली गई हो, किसी आम्ल (खट्टे) रस से और नमक मिश्रित कर दी गई हो, जिसे चाकू आदि शस्त्र से छिन्न-भिन्न कर दिया गया हो और कोल्हू आदि यंत्रों से पेल या पीस दिया गया हो, वह सभी द्रव्य प्रासकु कहा गया है।

उक्त गाथा के अनुसार यद्यपि सूर्य के ताप से सूखी या पकी हुई वस्तु प्रासुक हो जाती है, पर यदि उसके भीतर गुठली या बीज आदि हो तो उनको सचित्त माना गया है, अतः उनके निकाल देने पर ही उस फलादि को अचित्त या प्रासुक जानना चाहिये। इसी प्रकार चाकू आदि से काटी गई है, वह अंश या स्थान तो अचित्त हो जाता है, किन्तु उसके सिवाय शेष्ज्ञ अंश तो सचित्त ही बना रहता है। इसी प्रकार जितने अंश

में नमक आदि मिल गया है, उतना अंश अचित्त और शेष अंश सचित्त ही बना रहता है। इसलिये अग्नि से भलीभाँति पकायी हुई वस्तु को ही अचित्त या प्रासुक मानना चाहिये।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वृक्षादि से तोड़ा गया या स्वयं गिरा हुआ फलादि अचित्त है। परंतु उनका यह मानना भ्रमपूर्ण है। जिस वनस्पति फलादि भिन्न हुआ है, उसमें यद्यपि उस वनस्पति का मूलजीव नहीं रहा है, तथापि उसके बीज आदि के आश्रित अनेक जीव तो अभी उसमें विद्यमान ही है, क्योंकि खजूर आदि कुछ अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति रूप वृक्षों के सिवाय शेष वृक्ष, लता आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक ही होते हैं और उनके पत्र, पुष्प, फल, बीज आदि के आश्रित असंख्य निगोदिया वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं। अतः आम, केला, सेव, अंगूरादि फल, तोरई, सेम आदि फलवाले शाक और मैथी पालक आदि पत्रवाले शाक उक्त प्रकार से अचित्त किये विना खाना दोषाधायक ही है।

सचित्त शब्द जैनदर्शन में कहाँ-कहाँ प्रयोग किया गया -

सचित्त - जीव सहित (भोजन के दृष्टिकोण में)

सिद्धपरमेष्ठी को सचित्त कहा।

संसारी जीव सचित्ताचित्त कहा गया है।

सचित्त नव प्रकार की योनियों में **सचित्त योनि** कहलाती है।

पूजन के दो भेद - **सचित्त पूजा** और अचित्त पूजा।

वनस्पति का स्वरूप - जैनदर्शन में वनस्पति को भी एकेन्द्रिय जीव का शरीर माना गया है। वह दो प्रकार की है - प्रत्येक और साधारण। एक जीव के शरीर को प्रत्येक और अनन्त जीवों शरीर को साधारण कहते हैं, क्योंकि उस शरीर में उन अनन्त जीवों का जन्म, मरण-श्वासोच्छ्वास आदि साधारणरूप से अर्थात् एक साथ समानरूप से होता है। एक ही शरीर में अनन्त बसते हैं, इसलिये इस शरीर को निगोद कहते हैं, उपचार से उसमें बसने वाले जीवों को भी निगोद कहते हैं। यह निगोद भी दो प्रकार का है नित्य व इतरनिगोद। जो अनादि काल से आज तक निगोद पर्याय से निकला ही नहीं, यह नित्य निगोद है। और त्रसस्थावर

आदि अन्य पर्यायों में घूमकर पापोदय-वश पुनः पुनः निगोद की प्राप्त होने वाले इतरनिगोद है। प्रत्येक शरीर बादर या स्थूल ही होता है पर साधारण बादर व सूक्ष्म दोनों प्रकार का है।

२. नित्य खाने-पीने के काम में आने वाली वनस्पति प्रत्येक शरीर है। वह प्रकार की है - अप्रतिष्ठित और सप्रतिष्ठित। तहाँ एक-एक वनस्पति के स्कन्ध में एक रस होकर असंख्यात साधारण शरीर होते हैं, और एक-एक उस साधारण शरीर में अनंतानंत निगोद जीव वास करते हैं। सूक्ष्य साधारण शरीर या निगोद जीव लोक में सर्वत्र ठसाठस भरे हुये हैं, पर सूक्ष्म होने से हमारे ज्ञान के विषय नहीं है। सन्तरा, आम आदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है और आलू गाजर मूली आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पत्ते, फल, फूल आदि भी अत्यन्त कचिया अवस्था में सप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं - जैसे कौंपल। पौधे पक जाने अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। अनन्त जीवों की साझली काय होने से सप्रतिष्ठित प्रत्येक को अनन्तकायिक भी कहते है। इस जाति की सर्व वनस्पति को यहाँ अभक्ष्य स्वीकार किया गया है।

सचित्तत्यागव्रत का वैज्ञानिक विश्वलेषण -

१. सबसे पहले यह प्रश्न खड़ा होता है कि जो शाक-सब्जी, फल, बीज आदि है, वे सचित्त रूप ही है या अचित्त रूप भी है। इस विषय में कथन है - जब तक शाकादि अपने पेड़-पौधे से जुड़े हुये हैं तब तक तो सचित्त रूप ही है, अचित्त नहीं है। उससे पृथक् होने के उपरान्त सचित्त भी और अचित्त भी है। जैसे- गेहूँ। गेहूँ बीज रूप है, परन्तु सचित्त नहीं है, अचित्त है। उसका जो शोधन किया जाता है, वह उसकी अशुद्धि को दूर करने के लिये किया जाता है, न कि उसको अचित्त बनाने के लिये।

२. आलू। आलू बीज रूप है, सचित्त है, अनंत जीवों का शरीर है, अनंत जीवों की विराधना उसको छूने मात्र से होती है, इसलिये आलू का निषेध हैं क्योंकि आलू बनाने से अनंत जीवों की विराधना होती है। इसे ऐसे समझ सकते हैं यदि हम १०० वर्ष तक जितने शाक-सब्जी, फल आदि खाते हैं, तो उतनी हिंसा नहीं होती है, जितनी हिंसा एक आलू को

खाने में होती है।

शङ्का – आलू को सुखाकर यदि उसकी चिप्प बनाते हैं, तो क्या वह खाने योग्य है?

समाधान – जब आलू को स्पर्श करने मात्र में अनंत जीवों की विराधना है, तो बनाने में तो होगी है, तो उसकी चिप्स की क्या बात करें? अगर उसको अचित्त भी कह दें, तो उसको बनाने की जो विधि है, वो दोषपूर्ण है। जैसे – लाई शुद्ध है, परन्तु उसको बनाने की जो विधि है, वह दोषपूर्ण है, इसलिये उसको खाने का निषेध कहा गया है।

३. केला, अनार, सेव, तुरई, लोगी सचित्त है, जो हमारे खाने योग्य है, अप्रतिष्ठित वनस्पति है। संख्यात से असंख्यात तक जीव पाये जाते हैं। सेवनीय है।

४. सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का सचित्त अनंत कायिक वाला है, जो अभक्ष्य है, खाने योग्य नहीं, बहुतायत में हिंसा का कारण और बहुत सारे फल आदि खाने से मांस खाने के बराबर दोष लगता है इस कारण से खाने योग्य नहीं है। जैसे – आलू, अदरक, घुइया, ये अनंतकायिक है, अभक्ष्य है। लेकिन इनको खाने से मांस का दोष नहीं लगता है। मांस खाने का दोष बड पीपल आदि फल, जिनमें त्रस जीव पाये जाते हैं, इनको खानों से मांस खाने का दोष लगता है।

५. कोई व्यक्ति १०० साल तक फल सब्जी खाता है उसको उतना पान नहीं लगेगा, एक आलू कोई खाता है तो उसको अनंत गुना पाप लगेगा। क्योंकि आलू में अनंत जीव थे, उनमें संख्यात असंख्यात है।

६. केले आलू लोकी की सब्जी तीनों सब्जियाँ अचित्त है, तीनों में कोई दोष नहीं है, लेकिन जो सब्जी बनाई गई, केले और लोगी की सब्जी में संख्यात जीव मरें, आलू में अनंत जीव मरे। यहाँ प्रधानता अहिंसाधर्म पालन की है।

७. लाई शुद्ध है, लेकिन लाई बनी कैसी है? चावल को पानी में दो तीन दिन फुलाया, चावल सड़ जाता है, सुखाया जाता है भट्टी में, फिर लाई बनती है।

शङ्का – सचित्त को अचित्त कैसे किया जाता है?

समाधान – **१.** इस विषय में आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज सचित्ताचित्त विचार पुस्तक में लिखते हैं – सेव को गर्म पानी में डाल दिया, अंदर तक गर्म हो गया, वह अचित्त हो गया। केला की सब्जी बनायी, वह अचित्त हो गई।

२. थोड़ा–सा मतभेद है इसमें में – कोई आचार्य मानते हैं कि फल पेड से टूटने के बाद अचित्त हो जाता है। उसके चार पीस बनाकर मुनिराज को दे सकते हैं।

३. कोई आचार्य मानते हैं कि वनस्पति कायिक जघन्य अवगाहना घनांगुल (सुई के नोंक से भी छोटा) के असख्यातवें भाग होती है, तो जो सेव असंख्यात जीव हैं।

४. कोई कोई आचार्य लिखते हैं कि लोगी जब इकदम कठोर हो जाती है तब अचित्त होती है।

पानी का विश्लेषण –

१. अनछना पानी पीने में मांस खाने का दोष है। बिना छना पिया तो छन्ने में त्रस जीव निकलते हैं, अनछना सचित्त नहीं है मांसयुक्त है, और छना पानी सचित्त, गर्म करने के बाद अचित्त है।

२. पानी छानने से पानी सचित्त से अचित्त नहीं होता है, पानी गर्म करने के उपरान्त ही सचित्त से अचित्त होता है, उसमें विद्यमान जीव गर्म करने के उपरान्त ही समाप्त होते हैं।

शङ्का – एक बार पानी गर्म कर लिया, फिर मर्यादा उसकी समाप्त हो गई, तो क्या उसको दोबारा गर्म करके उपयोग कर सकते हैं?

समाधान – नहीं, दोबारा गर्म करने से उसकी मर्यादा नहीं बनेगी, क्योंकि उसमें अब भिन्न प्रकार के जीव उत्पन्न हो गये, उसके स्वाद में पुनः परिवर्तन आ जायेगा, जो कि अनुकूल नहीं होगा। जल ही क्या? कोई भी पदार्थ रोटी (रोटी की मार्यादा ६ घंटे की है), दाल, सब्जी द्वारा गर्म करके नहीं खाना चाहिये, इससे उसका स्वाद तो बदलता ही है, साथ–साथ जीवों की विराधना और अधिक होती है।

उदाहरण १ - खाने-पीने की वस्तुओं की मर्यादा के प्रसंग को लेकर अमेरिका देश के कैलियाफोर्निया शहर के एक डॉक्टर ने एक शोध किया - और शोध के परिणामों के उपरान्त उसने लिखा - गेहूँ को पीसा, पीसने के बाद तीन तक उसकी रोटी बनायी और खायी, उन तीन के भोजन की रोग-प्रतिरोधक क्षमता अधिक मिली, परंतु तीन दिन के बाद जब उसी आटे का उपयोग किया तो उसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता हो गयी। उसने आगे लिखा - तीन तक यदि आटा पीसने के बाद उपयोग करते हैं तो वह शरीर का आभा देने वाला, पुष्ट करने वाला होता है और तीन दिन के बाद उपयोग करते हैं तो वो पेट तो भरेगा, लेकिन स्वास्थ्यवर्धक नहीं होगा।

उदाहरण २ (पं. महेश जैन सतना द्वारा बताया गया अनुभव)- अमेरिका देश के कैलियोफोर्निया शहर का है। वे एक श्रावक के घर भोजन के लिये गये। वहाँ भोजन करने उनकी बेटी भी साथ बैठी, आज उसने भी प्रथम बार मर्यादित आटा, मसाला आदि से निर्मित भोजन किया, तब उसके मुख से अनायास ही निकल गया, इतना स्वादिष्ट, मैंने पहले कभी नहीं खाया, माँ इसमें क्या अंतर है आज? तो उसको बताया गया कि ये मर्यादा पूर्वक तैयार किया गया है। ऐसे अनेक उदाहरण है।

शङ्का - सचित्त खाने का निषेध क्यों?

समाधान - **१.** सचित्त फलों में मादकता होती है, जिस कारण से इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है।

२. अहिंसाधर्म का पालन नहीं होता है।

३. रोग पैदा करने वाले जीव बने रहते हैं।

४. प्रमाद उत्पन्न करते हैं।

५. भोजन के प्रति आसक्ति बनी रहती है, इन्द्रियनिग्रह नहीं हो पाता। परंतु सचित्त फलों की एक विशेषता यह है कि सचित्त फलों में रोग-प्रतिरोधक क्षमता पायी जाती है, अचित्त होने पर उनकी क्षमता कम हो जाती है। जैसे - अनार का दाना स्वास्थ्य के लिये लाभकारी है। अनार का जूस बनाया, उसमें थोडा नमक या सोंठ, कालीमिर्च डालने से

अचित्त हो जाता है, मादक तो नहीं होगा परन्तु गैस उत्पन्न करेगा, पेट संबंधी समस्या उत्पन्न कर सकता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है, जब अचित्त खाने से स्वास्थ्य को हानि हो सकती है तो क्यों खाते हैं?

उत्तर- जैनदर्शन में भोजन इन्द्रियसुख के लिये नहीं, अपितु जीवन जीने के लिये आवश्यक कहा है। भोजन करते समय इस बात का भी विशेष ध्यान रखा जाए कि जिस फलादि को खाने से हिंसा कम से कम हो, उसका ही सेवन हो अर्थात् अहिंसा की प्रधानता है, न कि स्वास्थ्य की।

शङ्का - यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि आपने कहा गर्म करने से सचित्त से अचित्त हो जाता है तो क्या मांस को पका लिया जाए, गर्म कर लिया जाए तो वो भी अचित्त हो जायेगा, खाने योग्य हो जायेगा?

समाधान - जिसमें त्रस जीव पाये जाते हैं ऐसे फलादि गर्म करने पर मांस खाने का ही दोष देंगे, तो उसी प्रकार से मांस को गर्म कर ले तो भी सचित्त से अचित्त हो जायेगा क्या? ऐसा नहीं है, क्योंकि मांस कभी भी सचित्त से अचित्त नहीं होता है।

अचित्त पदार्थों का सेवन अहिंसाप्रधान है, हिंसा से निवृत्ति है, प्रमाद का परिहार है, आसक्ति से अनासक्ति की ओर गमन है, इन्द्रियनिग्रह का प्रतिरूप है। अचित्त पदार्थ का सेवन रोगों को उत्पन्न न होने देता है। अनेक स्थानों पर अचित्त पदार्थ स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव डालता है, परन्तु अहिंसा के पालन के लिये स्वास्थ्य की अनदेखी कर दी जाती है, वास्तव में, महान है जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट यह मार्ग जिसने अहिंसा को ही प्रधानता प्रदान की है।

सन्दर्भ-सूची -

१. आदिपुराण पृ. ५१
२. धर्मोपदेशीयपीयूष श्रावकाचार २२६-२२९
३. संस्कृतहिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे पृ. ३८०
४. संस्कृतहिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे पृ. ११
५. जं वज्जिज्जइ हरियं तुय-पत्त-पवाल-कंद-फल-वीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं।। २९५ वसुनंदि श्रावकाचार

६. मूलाचार ८२४
७. गोम्मटसार जीवकाण्ड/जीवप्र./२२४/४८३/१४
८. रत्नत्रय पारिभाषिक शब्दकोष/पृष्ठ ४२०
९. र.क.श्रा. १४१
१०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ७८-८०
११. अमितगति आचार्य कृत श्रावकाचार/७१
१२. वसुनंदि श्रावकाचार/२९५
१३. गुण. श्राव./१७८
१४. सागार धर्मामृत/११

- डॉ. आशीष जैन आचार्य,
कटारे मोहल्ला, शाहगढ़
सागर- 470339, 9329092390
aasheishjain@gmail.com

आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सामायिक का महत्त्व

– सोनल कुमार जैन दिल्ली

वर्तमान का युग विज्ञान का युग है। मानव जीवन का प्रत्येक पहलू विज्ञान और उसके संसाधनों से प्रभावित और अतिरंजित हो रहा है। आज का मानव सुख और शान्ति की कामना में विज्ञान के बल पर प्रकृति और नियति पर नियन्त्रण करना चाहता है। वह प्रकृति को अपने अनुशासन में अनुशासित करते हुये नियति का नियनता बनने का अथक प्रयास कर रहा है। उसका सम्पूर्ण श्रम, सम्पत्ति और समय पर–नियन्त्रण में व्यय हो रहे हैं। परन्तु खेद है कि आत्म–नियन्त्रण के अभाव में स्वयं का अनुशासन स्थापित न कर पाने के कारण उसका जीवन उच्छृंखल हो दु:खी बना हुआ है।

मनुष्यभव का इष्ट लक्ष्य है – भवदु:ख से छूटकर परम सुख को प्राप्त करना। अपने विकारों पर विजय प्राप्त किये बिना तज्न्य दु:=ख से मुक्ति मिलतना असंभव है। विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिये पहले स्वयं पर विजय पानी होगी। भगवान् महावीर ने जीवन के इस रहस्य को समझा/आत्मसात् किया। उनके पास सत्ता, सम्पदा और शक्ति तीनों थे। लेकिन उन्हें ये रास नहीं आए। बाहरी चीजों पर साम्राज्य स्थापित करके हम सत्ता या सम्पदा प्राप्त कर सकते हैं किन्तु जीवन की मूलभूत सम्पदा को नहीं पा सकते हैं।

जीवन की मूल और अनमोल सम्पदा है समता। सत्ता, सम्पदा और शक्ति के व्यामोह से दूर होकर भी व्यक्ति समता को प्राप्त कर सकता है। यही समता ही सामायिक का सशक्त माध्यम या साधन है। प्राय: जैनाचार्यों ने सामायिक को समता के रूप में परिभाषित किया है। आचार्य वट्टकेर के अनुसार स्व व पर में, राग व द्वेष रहित होना, सब

स्त्रियों को माता के समान देखना, शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि में समभाव रखने का सामायिक जानना चाहिये।[१] धवलाकार के अनुसार शत्रु-मित्र-मणि पाषाणा और सुवर्ण-मृतिका में रागद्वेष के अभाव को समता कहते हैं।[२] आचार्य अमितगति महाराज जीवन व मरण में, संयोग व वियोग में, अप्रिय व प्रिय में, शत्रु व मित्र में, सुख व दु:ख में समभाव को सामायिक कहते हैं।[३] भावपाहुड की टीका में 'सामायिकं सर्वजीवेशु समत्वम्'[४] अर्थात् सभी जीवों में समान भाव रखना सामायिक है। का उल्लेख मिलता है।

समय शब्द से सामायिक बना है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अय्' गतौ धातु से समय शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ अय् धातु गमन और ाान दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। इसलिये एक साथ ही जानना और परिणमन करना - ये दोनों क्रियायें जिसमें हो वह समय है। जीव पदार्थ ही एक समय में परिणमन भी करत ाहै और जानता भी है इसलिये वह समय है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी के अनुसार 'सम्' का अर्थ एक रूप है और 'अय्' का अर्थ गमन। अर्थात् समुदायार्थ एक रूप हो जाना समय है और समय ही सामायिक है अथवा समय अर्थात् एक रूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है।[५]

शब्द शास्त्र के दृष्टिकोण से भी समत्व अथवा समता ही समाायिक रूप में परिलक्षित होती है। **समता एव प्रयोजनं यस्य इति सामायिकम्।** समता ही जियका प्रयोजन है वह सामायिक है। **समयम् उद्दिश्य क्रियमाणं कर्म सामायिकम्।** समता अथवा आत्मस्वरूप की प्राप्ति से किया जाने वाला कर्म सामायिक है। **समयेन कृतं सामायिकम्** अर्थात् समत्व बुद्धिपूर्वक किया चिन्तन, मननादि व्यापार सामायिक है। **समयाय आचरितं सामायिकम्** जो समय अथवा आत्मा की उपलब्धि के लिये किया जाए वह सामायिक है। समयात् भवं सामायिकम् अर्थात् विविध विपरीत परिस्थितियों में भी एकत्व/समत्व के चिन्तन से उत्पद्यमान मन:स्थिति सामायिक है। **समयस्य भाव: सामायिकम्** आत्मा के जो मौलिक भाव स्वभाव है उनका चिन्तन सामायिक है। समये जातं

सामायिकम् समत्व/एकत्व के चिन्तन की आधारभूमि पर अङ्कुरित/उत्पन्न होने वाले भावों को सामायिक कहते हैं।

इस प्रकार विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में साम्यभावों का अवलम्बन ही सामायिक है। सामायिक को व्याख्यापित करते हुये श्री समन्तभद्र आचार्य लिखते हैं -

आसमयमुक्तिमुक्तं पंचाधानानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामायिकाः सामायिकं नाम शं सन्ति।।[६]

अर्थात् आगम के ज्ञाता गणधर देवादिक सभी जगह मर्यादा के भीतर और बाहर भी सम्पूर्ण रूप से पाँचों पापों का किसी निश्चित समय तक त्याग करने को सामायिक नाम का शिक्षाव्रत कहते हैं। आय अर्थात् अनर्थ अर्थात् प्राणियों के हिंसा के हेतु भूत परिणाम उस आय या अनर्थ का सम्यक् प्रकार से नष्ट हो जाना है समाय है। अथवा सम्यक् आय अर्थात् आत्मा के साथ एकीभूत होना समाय है। उस समाय में हो या वह समाय ही है। प्रयोजन जिसका वह सामायिक है। तात्पर्य यह है कि हिंसादि अनर्थों से सतर्क रहना सामायिक है।[७] मुनिव्रत में सदा समता भाव धारण करना पड़ता है। इसलिये मुनियों के पंचविध चारित्र में सामायिक शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु गृहस्थ सदा के लिये समता भाव धारण करने में असमर्थ रहता है। अतः दिन में दो अथवा तीन बार, दो घड़ी, चार घड़ी अथवा छः घड़ी के लिये समस्त भावों का परित्याग कर समता भाव धारण करता है। जितने समय की अवधि लेकर वह सामायिक में बैठा है, उतने समय के लिये वह पूर्ण मध्यस्थ रहता है। सुख-दुःख, बन्धुवर्ग, शत्रु, संयोग-वियोगादि इष्टानिष्ट परिणतियों में उसे हर्ष-विषाद नहीं होता है तथा पंच पापों का भी वह उतने समय के लिये वह पूर्ण त्यागी होता है। सामायिक काल की प्ररूपणा में आचार्य लिखते हैं -

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्य्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः।।[८]

आगम के ज्ञाता पुरुष केश, मुट्ठी और वस्त्र के बन्ध के काल को और

पालती बाँधने के काल को अथवा खड़े होने के काल को और बैठने के काल को सामायिक का समय जानते हैं। जब तक चोटी में गाँठ लगी, मुट्ठी बँधी है, वस्त्र में गाँठ लगी है, पालती बाँधकर बैठा हूँ, कायोत्सर्ग मुद्रा से खड़ा हूँ, अथवा पद्मासन से बैठा हूँ, तब तक सामायिक करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामायिक करने वाला करता है। इसलिये इन सबमें जो काल लगता है, वही सामायिक का काल है।

सामायिक निर्मल बुद्धि के धारक श्रावक के द्वारा स्त्री, पशु तथा नपुंसकों से रहित प्रदेश में, चित्त में चंचलता उत्पन्न करने वालों कारणों से रहित स्थान में, वनों में, मकानों में अथवा मंदिरों में भी करना चाहिये।[९] सामायिक को प्रसन्नचित्त होकर करना चाहिये। बेगार समझकर नहीं। और उसके लिये बुद्धिपूर्वक ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जहाँ किसी प्रकार का उत्पाद न हो, या चित्त को चंचल बनाने वाले कारणों का प्रसंग उत्पन्न न हो। बुद्धिपूर्वक निर्द्वन्द्व स्थान में सामायिक के लिये बैठ चुकने पर यदि कोई बाधा उपस्थित होती है तो उसे उपसर्ग समझकर समता भाव से सहन करना चाहिये।

व्यापार–शरीर और वचन की चेष्टा तथा वैमनस्य मन की व्यग्रता अथवा मन की कलुषता से विनिवित्ति होने पर अन्तरात्मा– मानसिक विकल्पों को विशिष्ट रूप से दूर करते हुये उपवास के दिन, एकासन के दिन अथवा अन्य दिनों में भी सामायिक बढ़ाना चाहिये।[१०] सामायिक को पाँच व्रतों की पूर्णता का कारण बताते हुये आचार्य लिखते हैं –

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेनचेतव्यम्।
व्रतपञ्चकपरिपूरण–कारणमवधानयुक्तेन।।[११]

उपवास अथवा एकासन के सामायिक को बढ़ाने का प्रतिपादन किया था। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सामायिक उसी दिन करने के योग्य है, अन्य दिनों में नहीं। सामायिक प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से करना चाहिये। कितने ही लोग आलस्य के वशीभूत होकर बिस्तर पर ही बैठे–बैठे सामायिक करने लगते हैं। तथा खड़े होकर चारों दिशाओं में दण्डवत् आवर्त तथा शिरोनति नहीं करते हैं। कुछ लोग

ऊघंते-ऊघंते सामायिकरते हैं। ऐसे लोगों के लिये सचेत करने के लिये अनलसेन विशेषण दिया है। जिसका अर्थ है सामायिक आलस्य से रहित होकर करना चाहिये। कुछ मालाओं को फेरने को ही सामायिक समझते हैं। अत: वे चित्त की स्थिरता की ओर ध्यान न देकर मात्र चार-छ: मालायें फेरकर ही अपना सामायिक का काल पूरा कर लेते हैं, ऐसे लोगों को सचेत करते हुये आचार्य ने अवधानयुक्तेन विश्लेषण दिया है अर्थात् चित्त की एकाग्रता पूर्वक सामायिक करना चाहिये। सामायिक से हिंसाविरति आदि पाँच व्रतों में पूर्णता आती है। फलत: उनमें महाव्रत जैसा व्यवहार होने लगता है। सामायिक काल में अणुव्रत के महाव्रत पने को प्राप्त होने का प्रतिपादन करते हुये आचार्य लिखते हैं-

सामायिके सारम्भा: परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्।।[१२]

सामायिक के काल में आरम्भ सहित सभी परिग्रह नहीं होते हैं। इसलिये उस समय गृहस्थ उपसर्ग के कारण वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है क्योंकि कहा भी है -

तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणम्।[१३]

अर्थात् सर्व सावद्ययोग निवृत्ति ही सामायिक का लक्षण है। सामायिक में बैठने वाला गृहस्था अमुक निश्चित समय के लिय हिंसादि समस्त पापों तथा सब प्रकार के आरम्भों का त्याग कर चुकता है। उतने समय के लिये वह समस्त परिग्रहों का भी त्याग कर देता है। उतने समय के लिये वह समस्त परिग्रहों का भी त्याग कर देता है। यद्यपि पढ़ के अनुरुप शरीर पर वस्त्र धारण किये हुये हैं तो भी वस्त्रों में उसके ममत्व भाव नहीं रहता है। यदि सामायिक के काल में कोई दुष्ट मनुष्य उसके शरीर पर स्थित उन वस्त्रों को निकालने की चेष्टा करें सो वह सामायिक से विचलित नहीं होता है। उसकी उस समय की अवस्था उस मुनि के समान होती है जिस पर किसी दुष्ट मनुष्य ने उपसर्ग करने के यिले वस्त्र ओढ़ा दिया है। ऐसे मुनि बाह्य में यद्यपि वस्त्र ओढ़े हुये दिखाई देते हैं तथापि वस्त्र के प्रति ममत्व भाव न होने से वे वस्त्ररहित ही माने जाते हैं।

इसी प्रकार गृहस्थ भी सामायिक के काल में यद्यपि वस्त्र सहित है तथापि उन वस्त्रों में ममत्व बुद्धि नहीं रहती। इस प्रकार सामायिक करने वाला गृहस्थ सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होने के कारण मुनि जैसी अवस्था को प्राप्त होता है।

जिन्होंने सामायिक को स्वीकृत किया है ऐसे गृहस्थों को अपने योग–ध्यान में स्थिर रहकर तथा पीड़ाकारक परिस्थिति के आने पर भी अपनी गृहीत प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होते हुये मौन धारण कर शीत, उष्ण तथा तिर्यञ्चकृत आदि उपसर्ग को सहन करना चाहिये।[१४] सामायिक में स्थित मनुष्य इस प्रकार ध्यान करें कि मैं शरणसहित, अशुभ, अनित्य दु:खस्वरूप और अनात्मस्वरूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष उससे विपरीत स्वभाव वाला है।[१५] अपने द्वारा गृहीत कर्मों के वश से चारों गतियों में परिभ्रमण करना भव कहलाता है। मैं जिस भव में रह रहा हुँ उस अशरण है – इसमें मृत्यु से रक्षा करने वाला कोई नहीं है। अशुभ कारणों से उत्पन्न होने तथा अशुभ कार्यों को करने के कारण अशुभ है। चारों गतियों में परिभ्रमण काल नियत होने से अनित्य है। दु:ख का कारण होने से दु:खरूप है और आत्मस्वरूप से भिन्न होने के कारण अनात्मा है। सामायिक में स्थित मनुष्य इस प्रकार संसार के स्वरूप का विचार कर विपरीत स्वरूप अर्थात् शरणभूत, शुभ, नित्य सुखरूप तथा आत्मरूप मोक्ष का चिन्तन करें।

वचन, काय और मन में तीन योग हैं। इनकी खोटी प्रवृत्ति करने को दुष्प्रणिधान कहते हैं। इस तरह तीन योग सम्बन्धी खोटी प्रवृत्ति के कारण तीन अतिचार होते हैं। अनादर का अर्थ है अनुत्साह और अस्मरण का अर्थ एकाग्रता का अभाव है। इस प्रकार सामायिक के पाँच अतिचार है इनसे बचने का प्रयास करना चाहिये।[१६] मनोदुष्प्रणिधान योगमूलक और कषाय मूलक के भेद से दो प्रकार का होता है। मन की जो साधारण चञ्चलता है वह योगमूलक दुष्प्रणिधान है और बुद्धिपूर्वक किसी के इष्ट–अनिष्ट का चिन्तन करने से जो चञ्चलता होती है वह कषायमूलक दुष्प्रणिधान है। सर्वप्रथम इसी को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये

अर्थात् सामायिक में बैठकर किसी के इष्टानिष्ट का विचार नहीं करना चाहिये। तदनन्तर योगमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयास करना चाहिये। सामयिक में बोले जाने वाले मन्त्र या पाठ के अर्थ की ओर लक्ष्य करने से योगमूलक दुष्प्रणिधान भी दूर किया जा सकता है। धर्म्यध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत आदि अनेक भेदों का चिन्तन करने से भी चित्त की एकाग्रता हो जाती है, अतः सामायिक के साथ ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। सामायिक व्रत का लक्षण करते हुये पद्मनन्दी आचार्य लिखते हैं –

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्।।[१७]

अर्थात् सब प्राणियों मे समता भाव धारण करना, संयम के विषय में शुभ विचार रखना तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानों का त्याग करने को सामायिक व्रत कहते हैं।

सामायिकप्रतिमा के लक्षण में आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं –

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी।।[१८]

जो चार बार तीन–तीन आवर्त्त करता है, चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग से खड़ा होता है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी होता है, दो बार बैठकर नमस्कार करता है, तीनों योगों को शुद्ध रखता है और तीनों सन्ध्यायओं में वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।

चारित्र पाहुड़ टीका में आचार्य लिखते हैं कि व्रत प्रतिमा में एक बार, दो बार अथवा तीन बार सामायिक होती है (कोई नियम नहीं है) जबकि सामायिक प्रतिमा में निश्चय से तीन बार सामायिक करने योग्य है ऐसा जानना चाहिये।[१९] सामायिक व्रत का लक्षण करते हुये केवल उसका स्वरूप ही बनाया है जबकि सामायिक प्रतिमा का लक्षण करते हुये उसे तीन बार अवश्य करने का निर्देश किया है। आवर्त आदि कृतिकर्म सहित सामायिक करने का निर्देश सर्वत्र सामायिक प्रतिमा के

प्रकरण में किया है सामायिक नामक शिक्षाव्रत के प्रकरण में नहीं। इस प्रकार सामायिक व्रत और प्रतिमा में भेद जानना चाहिये।

साररूप में सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओं में रागद्वेष में रागद्वेष न करते हुये साक्षीभाव से उनके ज्ञाता दृष्टा बने हुये समता-स्वभावी आत्मा में स्थित रहना, अथवा सर्व सावद्य योग से निवृत्ति होना सामायिक है।

आवश्यक, चारित्र, व्रत, प्रतिमा चारों एक ही प्रकार के लक्षण हैं। अन्तर केवल इतना है कि श्रावक उस सामायिक को नियतकाल पर्यन्त धारकर अभ्यास करना है और साधु का जीवन ही समतामय बन जाता है। श्रावक की उस सामायिक को व्रत या प्रतिमा कहते हैं और साधु की उस सार्वकालिक समता को सामायिक चारित्र कहते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामायिक की महत्ता एवं दिनों दिन बढ़ती जा रही है। मनुष्य जितनी भौतिक उन्नति कर रहा है उतनी ही मानसिक, वैचारिक और आध्यात्मिक अवनति हो रही है। वस्तुत: आज मानव ने शारीरिक सुख को ही सम्पूर्ण सुख और जीवन सर्वस्व मान लिया है जबकि सुख तन का नहीं मन का विषय है। मन, अशान्त और उद्विग्न होने पर शारीरिक अनुकूलताओं में भी व्यक्ति दु:खी रहता है और जिसका मन, शान्त और निर्द्वन्द्व है वह शारीरिक प्रतिकूलताओं में भी सुखी रह सकता है।

आधुनिक विज्ञान को सर्वस्व मानने वाली और विज्ञान के संसाधनों के वर्चस्व वाली आधुनिक जीवन शैली ने व्यक्ति को बहिर्मुखी और परावलम्बित बना दिया है। बहिर्मुखता जहाँ व्यक्ति को स्वयं से दूर ले जा रही है, वहीं दूसरी ओर मानसिक विकृति, वैचारिक दरिद्रता, धैर्य का अभाव, तनाव, अवसाद पारिवारिक कलह, दाम्पत्य जीवन में विखराव और तलाकों की बढ़ती संख्या आदि सामाजिक अभिशाप विज्ञान पर बढ़ती निर्भरता के दुष्परिणाम है यदि व्यक्ति दिन में तीन बार, दो बार या एक बार एकान्त में बैठकर शान्त चित्त से समत्व का चिन्तन-मनन करें तो बहुत-सी परेशानियों से बचते हुये विभिन्न समस्याओं का सहज ही

समाधान कर सकता है।

किसी विचारक ने कहा है कि यदि हम समाधान का हिस्सा नहीं हैं तो हम स्वयं समस्या हैं। व्यस्ततम जीवन जीवन शैली से उत्पन्न समस्याओं के समाधान खोजने और उनके क्रियान्वयन के लिये शान्त मन की आवश्यकता और अपेक्षा होती है। तनाव, अवसाद, कुण्ठा जैसे नकारात्मक भावों के साथ किसी समस्या का समाधान नहीं निकाला जा सकता है। समस्या की पृष्ठभूमि और परिस्थिति के सर्वाङ्गीण पर्यालोचन के लिये भी समत्व अपेक्षित है। शांति, साहस और समत्व का अभ्यास ही सामायिक की आधारभूमि है।

विज्ञान के विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार जीवधारी जिस तत्त्व का उपयोग नहीं करता है, वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है। जैसे - मनुष्य के भी कभी पूँछ हुआ करती थी परन्तु उसने उसका कल्पना करना भी दुष्कर है कि मनुष्य के भी पूँछ होती थी। ठीक उसी प्रकार मानसिक विकृतियों को दूर करके समता की प्रतिष्ठापना के अनन्यभूत उपाय सामायिक का यदि हम अभ्यास नहीं करेंगे तो हो सकता है कि मानसिक शान्ति का यह अभूतपूर्व साधन विस्मृति ही हो जाए। बहुत से लोग कहते हैं कि हमारा मन जाप करने या माला फेरने में नहीं लगता। मन नहीं लगेगा क्योंकि अभ्यास नहीं है। हमारा मन चंचल है, प्रमादी है, हठाग्रही है और इसका निग्रह वायु के निग्रह के समान दुष्कर है किन्तु अभ्यास के बल पर मन को भी वश में किया जा सकता है। मन पर नियन्त्रण का अद्‌भुत साधन है सामायिक। अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित सन्दर्भों में सामायिक का सर्वातिशायी महत्त्व है -

- आधुनिक जीवन शैली जन्य मानसिक असन्तुलन के व्यवस्थापन में।
- अवसादों के निर्मूलन में।
- तनाव रहित मनोवृत्ति के सम्पादन में।
- कुण्ठाग्रस्त मनःस्थिति के समायोजन में।
- तीव्र आवेगों के कारणों टूटते परिवार और विखरते रिश्तों के संजीवन में।

– अहंकार, हठ और दुराग्रह के कारण तार–तार होती सामायिक एकता के संरक्षण में।

– स्वस्थ्य व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में।

वर्तमान में यदि मानव समान, सभ्यता और संस्कृति को जीवित और अक्षुण्ण बनाए रखना है तो मानव के मन और मस्तिष्क में समता का भाव जाग्रत, संरक्षित और संवर्धित करना होगा। समत्व की स्थापना में सामायिक की भूमिका को एक धार्मिक क्रिया के रूप में ही सीमित न रखा जाए अपितु स्वस्थ्यव्यक्तित्व निर्माण, सकारात्मक अभिवृत्ति, सामाजिक समरसता, सहानुभूति एवं सद्भावना जैसे – उदात्त मानवीयमूल्यों की स्थापना के सशक्त साधन के रूप में प्रचारित और प्रसारित किया जाए। सामायिक को सामाजिक परिवर्तन की क्रान्ति के रूप में प्रस्तुत करना चाहिये जिससे मानवमात्र जीवन की असारता–सारता, हेयोपादेयता एवं जीवन के वास्तविक उद्देश्य को समझकर तदनुरूप प्रवृत्ति करते हुये अपना लौकिक एवं परलौकिक दोनों जीवन सफल, सरस और सुखद बना सके.....

सन्दर्भ–सूची –

१. मूलाचार/५२१
२. धवला/८/३,४/१८४
३. अमितगति श्रावकाचार/८/३१
४. भावपाहुड़/टीका/७७
५. सर्वार्थसिद्धि/७/२१/७०३
६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/७
७. राजवार्तिक/९/१८
८. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/८
९. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/९
एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया।।
१०. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/१०

११. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/११
१२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/१२
१३. राजवार्तिक/६/२४
१४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/१३
१५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/१४
१६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/१५
१७. पद्मनन्दि पञ्चविशंतिका/६/८
१८. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/४/१८
१९. चारित्रपाहुड़/टीका/२५

- सोनल कुमार जैन दिल्ली

जैनधर्म में रात्रिभोजनत्यागव्रत एवं उसका वैज्ञानिक पक्ष

– डॉ. पंकज कुमार जैन भोपाल

समग्र भारतीय परम्परा ने विचार से अधिक महत्त्व आचार को प्रदान किया है। भारतीय आचार संहिता में रात्रिभोजनत्याग व्रत का प्रमुख स्थान है। इस व्रत को वैदिक एवं अवैदिक दोनों ही दार्शनिक परम्परायें समानरूप से स्वीकार करती है। शास्त्रीय दृष्टि से इस व्रत की सभी परम्पराओं में समान स्वीकृति होने के उपरान्त भी वर्तमान में व्यावहारिक रूप से इसका अनुपालन मात्र जैन परम्परा में ही अनिवार्य रूप से किया जा रहा है। यही कारण है कि रात्रिभोजनत्याग व्रत को आज जैनत्व की विशिष्टि पहचान माना जाता है। प्रस्तुत आलेख में रात्रिभोजनत्यागव्रत के शास्त्रीय पक्ष और उसके अनुपालन से होने वाले लाभ पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है।

वैदिक परम्परा में रात्रिभोजनत्यागव्रत – वैदिक परम्परा में भी रात्रिभोजनत्याग व्रतको निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। जब हम इस दृष्टि से वैदिक शास्त्रों का अन्वेषण करते हैं तो हमें इस व्रत का समर्थन करने वाले अनेक संदर्भ वैदिक शास्त्रों में प्राप्त होते हैं। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व में रात्रिभोजन को नरक–गमन का प्रथम द्वार माना है।[१] मार्कण्डेय पुराण रात्रि में रात्रि में अनन को मांस तुल्य बतलाया है।[२] ऋषीश्वर भारत ग्रन्थ में कहा गया है कि मद्य, मांस, रात्रिभोजन एवं कंदभक्षण करने वाले के सभी जप–तप एवं तीर्थयात्रायें व्यर्थ चली जाती है।[३]

वैदिक परम्परा में वेदों एवं स्मृतियों में भोजन का समय दिन में ही निर्धारित किया है एवं रात्रिकालीन भोजन को स्पष्ट रूप से वर्जित

किया है। युजर्वेद में उल्लिखित है कि पूर्वाह्न में देवताओं के द्वारा, मध्याह्न में ऋषियों के द्वारा, अपराह्न में पितरों के द्वारा एवं रात्रि में दैत्य-दानवों के द्वारा भोजन किया जाता है।[४] मनुस्मृति में भी केवल दिन में दो समय भोजन ग्रहण करने का विधान है।[५] इस प्रकार विभिन्न संदर्भों के माध्यम से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वैदिक परम्परा के मूलशास्त्रों में किसी भी प्रकार से रात्रिभोजन का समर्थन नहीं किया गया है।

जैनधर्म में रात्रिभोजनत्यागव्रत - जैन आचारशासत्र में रात्रिभोजनत्यागव्रत को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। आचार्य वीरनन्दि ने इस व्रत को अहिंसादि पंच अणुव्रतों की तरह अतिशय श्रेष्ठ व्रत मानते हुये छठवाँ अणुव्रत कहा है।[६] स्वामि कार्तिकेय ने रात्रिभोजनत्यागव्रत का अतिशय फल बतलाते हुये लिखा है कि - रात्रिभोजनत्यागव्रती को एक वर्ष में छः माह के उपवास का फल प्राप्त होता है और वह रात्रि में भोजनादि के बनाने में होने वाले आरम्भ के पाप से भी बचता है।[७] आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने मन-वचन-काय से रात्रिभोजन का त्याग करने वाले को सतत अहिंसा का परिपालक माना है।[८] यही कारण है कि पंडितप्रवर आशाधरजी ने श्रावक के अष्टमूलगुणों में रात्रिभोजनत्यागव्रत को भी स्थान दिया है।[९] आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने निरतिचार रात्रिभोजनत्यागव्रत की गणना श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में छठी प्रतिमा के रूप में की है।[१०] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में प्रारम्भ से ही रात्रिभोजन के त्याग पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि जैन परम्परा ने इस व्रत को इतनी गम्भीरता से क्यों लिया है? इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनदर्शन की दार्शनिक विचारधारा में प्राप्त होता है।

रात्रिभोजनत्यागव्रत के कारण और विधि - जैनधर्म के समस्त आचारशास्त्र की धुरी अहिंसा है। रात्रिभोजन निषेध का मूल कारण भी अहिंसा ही है। महान् जैनाचार्य उमास्वामी ने द्वितीय शती में अहिंसाव्रत की भावनाओं पर प्रकाश डालते हुये 'आलोकितपानभोजन' को भी अहिंसा की एक भावना कहा है।[११] आशय यह है कि अहिंसा की रक्षा

के लिये सूर्य के प्रकाश में अर्थात् दिन में ही भोजन पान करना चाहिये।[१२] आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी के अनुसार रात्रिभोजन करने वाले को अनिवार्य हिंसा होती है। इसलिये हिंसा से बचने के लिये रात्रिभोजन का अवश्य त्याग करना चाहिये।[१३] रात्रिभोजन करने में सूक्ष्म जीवों की अपरिहार्य हिंसा होती है जिसे सूर्य के प्रकाश के अभाव में दीपक आदि के प्रकाश में टाला नहीं जा सकता है।[१४] इस प्रकार यह भलीभाँति सिद्ध है कि जैनधर्म के प्राण तत्त्व अहिंसा का परिपालन रात्रिभोजन के त्याग के बिना असंभव है।

दिन के भोजन की समयावधि – जैनाचार्यों ने अहिंसा के परिपालन हेतु रात्रिभोजनत्यागियों को उपदेश दिया है कि उन्हें रात्रिभोजनत्यागव्रत का उत्कृष्ट पालन करने हेतु सूर्य के उदय का अस्तकाल की तीन–तीन घड़ियों में भोजन नहीं करना चाहिये।[१५] ज्योतिष शास्त्र के अनुसार एक घड़ी लगभग २४ मिनिट की होती है। इस प्रकार सूर्योदय के समय के उपरान्त ७२ मिनिट बाद से सूर्यास्त के ७२ मिनिट पूर्व तक ही दिन में भोजन करना चाहिये। पंडित आशाधरजी ने इस संदर्भ में लिखा है कि श्रावक को दिन के अंतिम और प्रथम मुहूर्त में भोजन करना अतिचार (दोष) है।[१६] इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि दिन में प्रातःकाल और सायंकाल जो संक्रमणकाल होता है उसमें भोजन नहीं करना चाहिये। इसका कारण यह है कि इस संक्रमण काल में वातावरण में अत्यधिक सूक्ष्म जीवराशि की उत्पत्ति होती है और इन सूक्ष्मजीवों के सद्भाव में किया जाने वाला भोजन रात्रिभोजन जैसा ही है। इसलिये आजकल रात्रिभोजन त्यागियों में जोशाम तक भोजन करने प्रवृत्ति जा रही है वह शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा अनुचित है।

रात्रिभोजनत्यागव्रत के पूर्णरूपेण पालन हेतु जैनाचार्यों का उपदेश है कि जिस श्रावक के हृदय में अन्य जीवों के प्रति दया, करूणा और संवेदना रहती है वह रात्रि में अनन, खाद्य, पेय एवं लेप सभी प्रकार के आहार का त्याग कर देता है।[१७] इसके संबंध में पण्डित आशाधरजी ने देश काल की परिस्थितियों के अनुरूप अशक्य लोगों को रात्रि में औषधि,

पानी एवं पान इलायची आदि ग्रहण करने का भी निर्देश दिया है।[१८] इससे यह स्पष्ट है कि आजकल जो रात्रि में मात्र अन्न के त्याग का प्रचलन बढ़ रहा है वह शास्त्रीय दृष्टि से अनुचित है। शास्त्रानुसार रात्रिभोजनत्यागियों को अनन के साथ-साथ मेवा, मावा एवं मिष्ठान्नादि का भी रात्रि में त्याग करना चाहिये। तभी निर्दोष रीति से रात्रिभोजनत्यागव्रत का परिपालन संभव होगा।

रात्रिभोजनत्यागव्रत के इस शास्त्रीय पक्ष से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म में भोजन के सभी पक्षों का विस्तृत विवेचन किया गया है। जिससे यह भलीभाँति स्पष्ट होता है कि जितना महत्त्वपूर्ण यह है कि हम क्या खाऐ? उतना ही महत्त्वपूर्ण यह भी है कि हम कब खायें? यदि हम भोजन के संदर्भ में प्रज्ञप्त जैन शास्त्रीय निर्देशों का अनुपालन अपने व्यावहारिक जीवन में करते हैं तो नि:संदेह हमारा शाीररिक, मानसिक एवं आत्मिक उत्थान होगा। धर्म की सार्थकता उसे धारण करने में है। यदि धर्मशास्त्रों के नियमों का अनुपालन अपने जीवन में नहीं किया ज ात ाहै तो शास्त्रों में निबद्ध मानवीय उत्थान के अमिट सूत्रों से मानव जाति निश्ति ही वंचित रह जायेगी। इसलिये मानवीय कल्याण एवं प्रकृति के संरक्षण की दृष्टि से यह अनिवार्य है कि रात्रिभोजनत्यागव्रत का अनुपालन समुचित रीति से किया जाए।

रात्रिभोजनत्याग की वैज्ञानिकता - रात्रिभोजन के त्याग के विधान के पीछे जैनाचार्यों की मूल भावना अहिंसा के परिपालन की है, स्वास्थ्य रक्षा का उद्देश्य उनके लिये सदैव गौण रहा है। इसलिये जैनशास्त्रों में इस व्रत के वर्णन में शीरीरिक स्वास्थ्य की विशेष चर्चा न करके आत्मोत्थान या आत्मिक बल के संवर्द्धन पर विशेष्ज्ञ बल दिया है, परन्तु आज के भौतिकता प्रधान युग में अधिकांश लोगों की दृष्टि स्वास्थ्य प्रधान है। इस कारण आज धर्म और धर्माचरण को भी वैज्ञानिक चश्मे से देखने की जरूरत पड़ रही है। इन्हीं परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुये यहाँ आयुर्वेद एवं चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से रात्रिभोजनत्यागव्रत के विविध लाभदायक पक्षों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

सूर्य के प्रकाश और विद्युत के प्रकाश में अन्तर – अहिंसा के समर्थक भी आज यह प्रश्न करते हैं कि जिस तरह दिन में सूर्य के प्रकाश में भलीभाँति शोधन करके भोजन किया जा सकता है उसी तरह रात में विद्युत-प्रकाश में भी शोधन करके भोजन किया जा सकता है। आज तो नई-नई तरह की लाइट्स आ गई है और उनमें सब कुछ साफ-साफ देखा जा सकता है। आज क इस तर्क के खण्डन हेतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह जानना आवश्यक है कि सूर्य के प्रकाश और विद्युत के प्रकाश में क्या अन्तर है?

आधुनिक विज्ञान के प्रयोगों से यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि सूर्य के प्रकाश में जो अदृश्य अल्ट्रावायलेट और इन्फ्रारेड किरणें होती है उनमें यह विशेषता रहती है कि उनमें सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये जब तक सूर्य का प्रकाश आता रहता है तब तक वातावरण में कीट-पतंगें आदि उत्पनन नहीं होते। आजकल पानी का प्यूरिफाई करने वाली कंपनियाँ जो प्यूरिफायर उपकरण बना रही हैं, उनमें भी पानी के सूक्ष्म जीवों को नष्ट करके के लिये अल्ट्रावायलेट किरणें का प्रयोग हो रहा है। विद्युत के प्रकाश में यह विशेषतायें नहीं रहती। विद्युत के प्रकाश में सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा असंख्यात गुना जीवोत्पत्ति होती है। विद्युत के प्रकाश में हजारों कीट-पतंगों के साथ-साथ लाखों-करोड़ों अदृश्य सूक्ष्म जीव उत्पनन होते हैं। सूर्य के प्रकाश में निष्क्रिय रहने वाले अनेक जीव विद्युत प्रकाश में सक्रिय होकर हमारे भोजन में मिल जाते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि जैसे-जैसे रात्रिकाल बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अलग-अलग समय पर अनेक तरह के फंजाइ वैक्टीरिया उत्पन्न होते रहते हैं।

सूर्य के प्रकाश में एक विशिष्ट तापमान और ऊर्जा होती है जो विद्युत के प्रकाश में नहीं रहती है। यही कारण है कि सूर्य के प्रकाश में ही कमल जैसे पुष्प खिलते हैं और प्रकाश संश्लेषण की अभिक्रिया संपन्न होती है। प्रकाश संश्लेषण के कारण ही दिन में ऑकसीजन गैस प्रचुर मात्रा में वातावरण में विद्यमान रहती है। जो मनुष्य ही नहीं सभी प्राणियों

के स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य है। सूर्य के प्रकाश की अद्‌भुत विशेषताओं का अंदाज हम इसी बात से लगा सकते हैं कि वर्षा ऋतु में जब कुद दिन के लिये सूर्य का प्रकाश नहीं निकलता तब उन दिनों में घर सीलन, फफूँद और सूक्ष्म जीवों से भर जाता है। कपड़ों में अलग तरह की दुर्गन्ध आने लगती है जिसे विद्युत के तीव्र प्रकाश से भी दूर नहीं किया जा सकता है। इसलिये सूर्य के प्रकाश में भोजन करने से अहिंसा का स्वभावतः पालन होता है, परन्तु विद्युत के तीव्र प्रकाश में भी भोजन करने पर जीव हिंसा से नहीं बचा जा सकता है। यही कारण है कि रात्रि का भोजन शाकाहार जैसा होकर भी मांसाहार जैसा हो जाता है।

आयुर्वेदशास्त्र में रात्रिभोजनत्याग – आयुर्वेद शास्त्र में नाभि और हृदय को कमल की संज्ञा दी है। ये कमल सूर्योदय के साथ खिलते हैं और सूर्यास्त के साथ बंद हो जाते हैं। आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व महर्षि वाग्भट ने आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टांग हृदयम् लिखा था। इस ग्रन्थ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि सूर्योदय के एक प्रहर या ढाई-तीन घंटे के बाद जठराग्नि सबसे तेज होती है और उसके बाद सायंकाल तक जठराग्नि शांत हो जाती है। इसलिये वाग्भट जी के निर्देशानुसार सुबह नाश्ता न करके नाश्ते के स्थान पर पूर्ण भोजन ग्रहण करना चाहिये। उसके बाद दोपहर का भोजन सुबह के भोजन से थोड़ा कम ग्रहण करना चाहिये। सायंकाल का भोजन सबसे कम ग्रहण करना चाहिये और रात्रिभोजन आयुर्वेद की दृष्टि से पूर्णतः निषेध है।

पाचन तन्त्र और रात्रिभोजनत्याग – पाचनतन्त्र की क्रियाशीलता के आधार पर आज चिकित्सकों की यह सर्वमान्य मान्यता है कि रात्रि में सोने के पूर्व किया जाने वाला भोजन शयन करने से कम से कम तीन घंटे पूर्व ग्रहण करना चाहिये। आशय यह है कि हमारा पाचनतन्त्र दिन में ग्रहण किये गए भोजन को पचाने में ही समर्थ है। क्योंकि दिन में इसकी क्रियाशीलता सर्वाधिक रहती है। दिन में भोजन पचाने के लिये शरीर से पर्याप्त एंजाइम एवं अन्य रसायनों का स्राव होता है। सायंकाल देर से ग्रहण किये गए और रात्रि में किये गए भोज के ठीक प्रकार से

पाचन न होने से गैंस्टिक, एसीडिटी और चयापचय के असंतुलन की समस्यायें उत्पन्न होती है।

रात्रिभोजन से मोटापा - अमरीका के उत्तर पश्चिम के इलिनॉय विश्वविद्यालय के एक शोध दल ने चूहों पर प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि मोटापा और भोजन के समय में गहरा सम्बन्ध है। इस प्रयोग पर आधारित रिपोर्ट की लेखिका डियाना आर्बल का कहना था कि इस अध्ययन के केन्द्र में वे लोग रहे, जो रात की शिफ्ट में काम करते हैं और उनका वजन दिन में काम करने वालों के मुकाबले ज्यादा होता है। यही देखकर हमें लगा कि देर रात को खाने से वजन बढ़ने का सम्बन्ध हो सकता है।

इस प्रयोग में छः सप्ताह तक चूहों के दो दलों पर प्रयोग किये गए। वैज्ञानिकों ने एक दल को रात्रि में वसायुक्त भोजन दिया और दूसरे दल को वसायुक्त भोजन सबेरे दिया गया। उसके बाद दोनों दलों के चूहों को व्यायाम करने के बराबर अवसर दिये गये। परीक्षण के अंत में देखा गया कि रात में खाने वाले चूहों ने सही समय पर खाने वाले चूहों से दोगुना वजन बढ़ाया था।[१९]

जैविक घड़ी और रात्रिभोजन त्याग - आधुनिक विज्ञान के अनुसार हमारा शरीर एवं अन्य पशु-पक्षियों का शरीर एक जैविक घड़ी (बायोलॉजिकल क्लॉक) के अनुसार चलता है। इस घड़ी को सर्केडियन क्लॉक भ कहते हैं। इस जैविक घड़ी के समयानुसर हमारे शरीर में भिन्न-भिन्न हार्मोन्स औश्र रसायन निकलते हैं। जैसे - रात्रि ९ बजे से सुबह ७.३० बजे तक मेलाटॉनिन हार्मोन निकलता है। इस हार्मोन के स्राव से हम निद्रा महसूस करते हैं। सुबह ९ बजे से शीरी में टेस्टोस्टेरॉन हॉर्मोन निकलता है। यह हॉर्मोन हमें दिन में क्रियाशील बनाए रखता है। रात्रि १०.३० पर हमारी ऑतें कार्य करना बंद कर देती है या मंद पड़ जाती है।[२०] आशय यह है कि जब आँतों की क्रियाशीलता मंद पड़ने लगती है तब हमें इस क्रियाशीलता के मंद होने के कम से कम पाँच घंटे पूर्व भोजन ग्रहण कर लेना चाहिये। आँतों के मंद पड़ने के बाद जो

भोजन ग्रहण किया जाता है वह अमाशय में पड़े-पड़े शरीर में जहरीले तत्त्व छोड़ता रहता है। इसलिये जैविक घड़ी के अनुसार हमें दिन में ही भोजन ग्रहण करना चाहिये। वस्तुत: जैविक घड़ी के अनुसार हमें दिन में ही भोजन ग्रहण करना चाहिये। वस्तुत: जैविक घड़ी हमारे शरीर और सूर्य के मध्य का अन्त: सम्बन्ध है। सूर्य ऊर्जा का अनन्त स्रोत है और हमारा शरीर निरन्तर सूर्य से जीवन ऊर्जा ग्रहण करता रहता है। इसी कारण हमारे शरीर की अन्त:ग्रन्थियाँ भी सूर्य की क्रियाशीलता के आधार पर हॉर्मोन और रसायन स्रावित करने लगी है। वैज्ञानिकों ने सूर्यमुखी के पौधे और फूल में भी एक ऐसे जैविक घड़ी की खोज की है। इस बॉयो क्लाँक को वैज्ञानिकों ने कॉर्केडियन रिदम कहा है। यह रिदम यह बतलाती है कि चौबीस घंटों में सूर्यमुखी के पौधे का जीन सूर्य के प्रकाश के प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया करता है। किस कारण सर्यूमुखी के फूल का मुख निरन्तर सूर्य की ओर घूमता रहता है। प्रो.यू.सी. डेविस का यह शोध साइंस पत्रिका में भी प्रकाशित हुआ है।[२१]

मेरी दृष्टि में जैविक घड़ी मूलत: शरीर के माध्यम से व्यक्त होने वाली जाग्रत चेतना है। हमारी आत्मा की मूल चेतना भी हमारे शरीर को आत्मोत्थान के अनुकूल संचालित करती है।

निष्कर्ष - रात्रिभोजनत्यागव्रत के संदर्भ में अध्ययन किये गए विविध संदर्भों और प्रमाणों से यह पूर्णत: प्रमाणित होता है कि रात्रिभोजन के त्याग की अवधारणा जैनधर्म का वह आकट्य सत्य है जिसका समर्थन आधुनिक विज्ञान ने भी पूर्णरूपेण किया है। इस नियम के अनुपालन में प्राणिमात्र का कल्याण निहित है। इसलिये इस नियम का प्रचार-प्रसार जैनों के साथ-साथ जन-जन में होना चाहिये। स्वास्थ्य मंत्रालय को इसका प्रचार-प्रसार आम लोगों मं करना चाहिये। इससे निश्चित ही पाचन सम्बन्धी बीमारियों में कमी आयेगी।

जैन जीवन शैली का मूलमंत्र, जिओ और जीने दो माना जाता है, परन्तु मेरी दृष्टि में इसमें संशोधन अपेक्षित है। जैनधर्म की अहिंसा का ध्येय है सभी जीवों की रक्षा करना। जैनधर्म अन्य जीवों के प्राणों पर

अपने जीवन की आधार शिला रखने की अनुमति नहीं देता। जैनधर्म अपने जीवन से अधिक दूसरों के जीवन की रक्षा को प्राथमिकता देता है। इसलिये जैनधर्म की अहिंसा का प्रतिनिधित्व करने वाला सूत्र है – जीने दो और जिओ।

आज हम सभी की यह चिंता है कि हमारी वर्तमान युवा पीढ़ी से रात्रिभोजनत्याग के नियम को स्वीकार करें? इसके समाधान के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि हम सभी इसका अनुपालन करे। शिक्षाशास्त्र का यह नियम है कि नई पीढ़ी अनुकरण से सीखती है। इसलिये हम सभी को व्यक्तिगत और सामूहिक सभी रूपों में रात्रिभोजन का पूर्णत: परिहार करना चाहिये। इससे अवश्य ही हमारे शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य की रक्षा होगी।

सन्दर्भ-सूची –

१. श्वभ्रद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनम्।
परस्त्री गमनं चैव संधानानन्तकायकम्।। शान्तिपर्व, महाभारत-महर्षि वेदव्यास
२. रात्रौ अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा। मार्कण्डेय पुराण
३. मद्यमांसाशनं रात्रौभोजनं कंदभक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथास्तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तप:।। ऋषीश्वर भारत (महाभारत)
४. देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्ने, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा।
अपराह्ने तु पितृभि सायाह्ने दैत्यदानवै:।।
यजुर्वेद, आह्निक२४ श्लोक १९
५. नोच्छिष्टं कस्यचिद्द्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्ट: क्वचिद् व्रजेत।। मनुस्मृति २/५६
६. व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वभान्नान्निवृत्ति त्योक्तषष्ठमणुव्रतम्।। आचारसार५/७०७१ आचार्य वीरनन्दि
७. जो णिसि भुत्ति वज्जदि, सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मच्झे आरंभमुयदि रयणीए।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा/३८३
८. किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायै:।

परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसा स पालयति।। पु.सि.उ./१३४
९. मद्यपलमधुनिशाशन पंचफलीविरति पंचकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।। सागारधर्मामृत/२/१८
१०. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/५/२१
११. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच।
तत्त्वार्थसूत्र/७/४
१२. पानञ्च भोजनञ्च पानभोजने आलोकिते सूर्यप्रत्यक्षेण पुनः पुनर्निरीक्षते ये पानभोजने ते आलोकितपानभोजने। तत्त्वार्थवृत्ति/७/४-श्रुतसागरसूरि
१३. रात्रौ भुञ्जनानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि।। पु.सि.उ./१२९
१४. अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीयपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्।। पु.सि.उ./१३३
१५.उदयत्थमणे कालेणालीतियवज्जिय मज्झम्हि...। मूलाराधना/३५
१६. मुहूर्तेऽन्त्ये तथाद्येऽह्नो वलभानस्तमिताशिन। सागारधर्मामृत३/१५
१७. अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेषु अनुकम्पमानमनाः।। र.क.श्रा.५/२१
१८. भृत्वाश्रितानवृत्यार्तान्कृपयानाश्रितानपि।
भुञ्जीतान्ह्नम्बुभैषज्य ताम्बूलैलाविदनिश्यपि।। सागारधर्मामृत२/७६
१९. बीबीसी डॉट कॉम (९ सितम्बर २९९०)
२०. पत्रिका समाचार पत्र (भोपाल संस्करण ३१ जुलाई २०१६)
२१. पत्रिका दैनिक समाचार पत्र (भोपाल संस्करण १० अगस्त २०१६)

- डॉ. पंकज कुमार जैन
असिस्टेंट प्रोफेसर, जैनदर्शन
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान,
भोपाल परिसर, भोपाल म.प्र.

भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थ - वैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ. अशोक कुमार जैन, ग्वालियर

प्रकृति में अनेक प्रकार के पदार्थ पाये जाते है। उन पदार्थों मे से अनेक ऐसे हैं जो कि भक्षण करने योग्य होते हैं एवं अनेक खाने योग्य नही माने गये हैं। ज्ञानी एवं धार्मिक मनुष्य किसी भी खाद्य पदार्थ का भक्षण अत्यन्त सोच विचार कर करते हैं। जबकि अज्ञानी बिना सोचे-समझे किसी भी प्रकार के पदार्थों का भक्षण करते हैं। कुछ ऐसे मनुष्य भी हैं जो जानते समझते हुये भी न खाने योग्य पदार्थों का भक्षण करते हैं।

जैनाचार्यों को पदार्थों की वैज्ञानिकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। अत: उन्होंने समस्त पदार्थों को अत्यंत ही सावधानीपूर्वक निम्न श्रेणियों में विभक्त किया -

अ- भक्ष्य

ब - अभक्ष्य

अ) भक्ष्य - वह खाने योग्य पदार्थ हैं जिनके ग्रहण करने से न केवल अन्य जीवो की रक्षा होती है अपितु मनुष्य का स्वयं का शरीर एवं मन भी स्वस्थ रहता है। एवं मनुष्य तन एवं मन दोनों से ही धर्म परायण बना रहता है। यहाँ भी आचार्यों ने भक्ष्य पदाथों की मर्यादा आदि को लेकर अत्यन्त सावधानी पूर्वक पालन करने का निर्देश दिया। अन्यथा भक्ष्य भी अभक्ष्य में परिवर्तित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, बरसात के मौसम में पिसा हुआ गेहूँ का आटा तीन दिन के पश्चात् अभक्ष्य हो जाता है अथवा छाने हुये जल की मर्यादा भी कुछ ही समय की होती है। लगभग प्रत्येक खाद्य पदार्थ की मर्यादा का वर्णन जैनागम में प्राप्त होता है।

ब) अभक्ष्य पदार्थ -जो पदार्थ खाने योग्य नही होते उन्हें अखाद्य

अथवा अभक्ष्य कहा गया है। हिंसाजन्य और दोष युक्त पदार्थ भी अभक्ष्य कहलाते हैं। अभक्ष्य पदार्थ पांच प्रकार के होते हैं।

१. त्रसधात – जिन पदार्थों के सेवन में बहुत त्रस जीवों की हिंसा होती है। जैसे कि मांस, मदिरा, शहिद इत्यादि !

२. प्रमाद वर्धक – जिन पदार्थों के सेवन से नशा या मादकता उत्पन्न होती है। जैसे– शराब, गांजा, भांग, अफीम, चरस आदि।

३. बहुघात – जिन पदार्थों के सेवन से फल थोड़ा मिलता है पर जीव हिंसा बहुत होती है। जैसे कि मूली, गाजर, आलू, फूलगोभी, उदुम्बर फल आदि।

४. अनिष्ट कारक – जिन पदार्थों के सेवन से शरीर वात, पित्त, कफ आदि कुपित हो, रक्त विकार आदि दोष हों, जैसे दमा के रोगी को दही, जुकाम, के रोगी को शीतल पेय आदि पदार्थ, विष, मिट्टी आदि पदार्थ।

५. अनुपसेव्य – जो पदार्थ सज्जन, सात्त्विक पुरुषों के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं माने गये हैं। जैसे कि लार, कफ, जूठन, गोमूत्र, स्वमूत्र, शंख, सीप आदि।

अनुपसेव्य क्या हैं ?

अत्यंत सुंदर तरीके से आचार्यों ने अनुपसेव्य पदार्थों का वर्णन किया है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने अपने महान ग्रंथ श्री र:कखण्ड श्रावकाचार के चतुर्थ गुणव्रत अधिकार में अनुसेव्य पदार्थों की चर्चा की है और उनके त्यागने में मनुष्य को लाभ बताया है।

यद निष्टं तदवृत येद्यच्चानुपसव्य मेतदपि ।
अभिसन्धिक्रता विज्ञातिः विषयाद योग्याद व्रतं भवति । ।

अर्थात् जो अपने लिये अनष्टि हैं उनका त्याग कर देना ही उचित है। यद्यपि अनिष्ट अनुपसेव्य के सेवन का कोई प्रयोजन ही नही है, का त्याग करना भी व्रत कहलाता है। कितनी ही वस्तयें अपने कुल को, व्यवहार को, धर्म को मलिन करने वाली हैं वे सेवन योग्य नही हैं। अतः अनुपसेव्य हैं। जैसे कि उटनी का दूध, गधी का दूध, गाय का मूत्र, मल, लार, जूठन, शंख, हाथी का दंता, केश, मृगमद, कस्तूरी, गोलोचन

आदि। इन पदार्थों से स्पर्शित भोजन एवं जल भी सेवन योग्य नहीं है। म्लेच्छ, भील, अस्पृश्यों का स्पर्श किया हुआ भोजन अनुपसेव्य है।

अशुद्ध भूमि पर गिरा हुआ, चमड़े से छुआ हुआ, बिल्ली कुत्ता आदि से तथा मांस, मक्षी, मद्यपायी द्वारा स्पर्श किया हुआ, बनाया हुआ भोजन तथा लोकनिंध भोजन (अधोरचना), जिन धर्मियों के भक्षण योग्य नहीं है। बुद्धि को विपरीत करने वाला है मार्ग से धृष्ट करने वाला है, धर्म से भृष्ट करने वाला है। श्री राजवर्तिक जी में भी पांच प्रकार के पदार्थ बताये।

अन्य अनुपसेव्य – आचार्यों ने न केवल खाद्य पदार्थों को ही अनुपसेव्यों की श्रेणी में रखा है अपितु ऐसे वस्त्राभूषण भी अनुपसेव्य की श्रेणी में आते है जिनसे स्वयं के अथवा पर के मन में विकार उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ – वैश्या अथवा विट पुरूषों के पहिनावे, सिपाहियों तथा म्लेच्छी के पहिनावे, जोगी, फकीर, भांडो की पहिनावे वस्त्र–आमरण परिणाम विगाड़ते हैं।

अत: कुलीन एवं धार्मिक मनुष्यों को ऐसे वस्त्राभूषण धारण नही करना चाहिये।

अनुपसेव्यों की वैज्ञानिकता – वर्तमान युग में वैज्ञानिक खोजो से कई रहस्यों पर से पर्दा उठा दिया है। दिन प्रतिदिन नये–नये आविष्कारों ने धर्माचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की पुष्टि की है। सूक्ष्म जीव बहुत बल मिला है। यहाँ लेखक का यह कदापि मत नही है कि यदि आधुनिक सूक्ष्म जीव विज्ञान में शोध न होते तो जैन धर्म के सिद्धांत निराधार अथवा दुर्बल होते अपितु ऐसे मनुष्यों को, जो कि आधुनिकता का लवादा ओड़े हुये है एवं जैन आहार संहिता पर प्रश्न खड़ा करते हैं, के लिये ऐसे आधुनिक शोध एवं जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में उनकी उपादेयता से अवगत कराना है।

शंख समुद्र अथवा नदी के जलो में पैदा होता है शंख के अंदर एक अकशेरूकी वर्ग का जन्तु पैदा होता है जिसे पाइला कहते हैं। इसी प्रकार सीप में भी यूनियो नामक जन्तु निवास करता है। इन वस्तुओं के

भक्षण अथवा उपयोग से उक्त जन्तुओं की हिंसा होती है।

हाथी का दांत विज्ञान की भाषा में कार्बनिक पदार्थों का बना हुआ होता है। कार्बनिक पदार्थों का एक विशेष गुण यह होता है कि उनमें सूक्ष्म जीवों का संक्ळमण तुरंत ही होने लगता है। इसमें केल्शियम अवयव भी काफी मात्रा में होते हैं।

अध्ययनों से पाया गया कि हाथी दांत पर लगभग 20 प्रकार की फफूदी पाई जाती हैं। कुछ प्रमुख फफूदियों के नाम हैं – एस्परजिलस, पेनिसिलियस, अल्टरनेरिया वाइस्पोरा, हेल्मिन्थोस्पोरियम, कीटोमियम इत्यादि ।

केश – केशों को वास्तव में सही रूप में अनुपसेव्य बताया गया हैं केशों में एक विशेष वर्ग की फफूदी जन्म लेती है जिन्हें केरोटेनिक फफूंद कहा जाता है। यह फफूदी धीमे–धीमे केशों एवं त्वचा पर आक्ळमण करके उसे नष्ट करती रहती है। हमारे देश के कई विश्वविद्यालयों जैसे कि कानपुर, आगरा, भागलपुर, गोरखपुर आदि में इस प्रकार फफूदियों पर शोध कार्य हो रहा है।

उटनी का दूध – इसका अत्यंत गाढ़ा दूध होता है। इसमें कार्बोहाइड्रेटस एवं वसा भी बहुत अधिक होते हैं। शर्करा की अधिक मात्रा होने से इसमें कुछ ही समय उपरांत बैक्टीरिया, फफूंदी एवं कई प्रकार के त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अतः उप्टनी का दूध अभक्ष्य ही है।

कस्तूरी – कस्तूरी केवल न कस्तूरी मृग से ही प्राप्त किया जाता है। कस्तूरी नाभि के पास स्थित एक ग्रन्थि में उत्पन्न होता है। यह ग्रन्थि वास्तव में त्वचा के फोल्ड होने से बनती है। कस्तूरी का स्त्राव इस ग्रन्थि की आंतरिक सतह से होता है। कस्तूरी की मात्रा प्रत्येक ग्रन्थि में लगभग 8–60 ग्राम तक होती है। नर मृग को मार कर ही कस्तूरी को निकाला जाता है। बाजार में लगभग चार प्रकार की कस्तूरी पाई जाती है–

1 ढोन्सिन कस्तूरी ङ्क यह सर्वोत्तम मानी जाती है ।

2 यूनान

3 आसाम/नेपाल

4 रूसी

अच्छी कस्तूरी गहरे गुलाबी रंग की होती है। इसमें एक वाष्पशील तेल पाया जाता है जिसे मस्कोन कहा जाता है। यह मस्कोन एक प्रकार का कीटोन होता है। इसको कृत्रिम रूप से भी प्रयोगशाला में बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। माथुर एवं भट्टाचार्य (1964) ने इस प्रकार का कृत्रिम मस्कोन तैयार किया गया था। चूंकि कस्तूरी पशु का वध करने के उपरांत ही प्राप्त किया जाता है अत: प्रथम दृष्टया ही अभक्ष्य है। जिन डिब्बो में कस्तूरी को संग्रहित किया जाता है। उन्हें 'केडी' कहते हैं। जिसमें लगभग 630 ग्राम कस्तूरी रखी जाती है। एक केडी की प्राप्ति हेतु 22 मृग मारे जाते हैं।

चमड़ा - प्रथम दृष्टया ही चमड़े से स्पर्श की गई वस्तुयें अभक्ष्य हैं। क्योंकि चमड़े की उत्पत्ति पशुओं से होती हैं। द्वितीय, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति चमड़े पर अतिशीघ्र होती है। जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर में एक शोध परियोजना की रिपोर्ट के अनुसार चमड़े की सतह पर लगभग 50 प्रकार की फफूदियां उत्पन्न होती हैं। इसके अलावा कई प्रकार के वेक्टीरिया भी संक्ळ मण करते हैं। चमड़े के स्पर्श में जो भी वस्तु आती है वह शीघ्र ही सवंमित हो जाती है। कुछ प्रमुख फफूदी के नाम हैं - एस्परजिलस, अल्टरनेरिया, राइजोपस, हेल्मिन्थोस्पोरियम, वाइस्पोरा आदि।

चमड़े के शोधन में जो प्रमुख कार्य होता है। वह इन्ही फफूदियों को हटाने से संबंधित होता है। शोधन के उपरांत जो पानी बाहर बहाया जाता है उसमें इन फफूदियो की बहुतायत होती है। कानपुर के पास गंगा नदी में प्रमुख प्रदूषण इन्ही चमड़ा उद्योगों से है।

मूत्र - वर्तमान में गो-मूत्र अथवा स्वमूत्र का चिकित्सा पद्धति में उपयोग हो रहा है। परन्तु मूत्र शरीर से निकला हुआ अवशिष्ट पदार्थ ही होता है। आवश्यक पदार्थों का संचयन करने के उपरांत जिन पदाथों की शरीर को आवश्यकता नही होती है। उन्ही को शरीर बाहर छोड़ता हैं। यदि मूत्र

आवश्यक होता तो प्रकृति के नियम के अनुसार शरीर उसे कदापि कहर नही छोड़ता। अतः सद्ग्रहस्थों को इसका उपयोग कदापि नही करना चाहिये। मूत्र में प्रमुख रूप से यूरिक अम्ल पाया जाता है इसी वजह से दुर्गन्ध आती हैं इसके अलावा केल्शियम के ऑक्जेलेट एवं कई रासायनिक अवयव पाये जाते हैं।

कफ-लार-थूक - चिकित्सा विज्ञान के अनुसार मनुष्य के थूक में अनेक प्रकार के हानिकारक वैक्टीरिया पाये जाते हें। यह वैक्टीरिया स्वाभाविक रूप से ही मुख, आंत, फेफड़ो की नलिकाओं में होते है। कुछ वैक्टीरिया बाहय माध्यम से भी शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं एवं रोग उत्पन्न करते है। अभी कुछ ही समय पूर्व सार्स नामक रोग, थूक आदि के माध्यम से फैला था। इसी प्रकार टीवी के वेक्टीरिया भी थूक के माध्यम में फैलते हैं। इन्हें टयूवरकुली कहा जाता है। अनेक प्रकार के श्वास संबंधी रोग भी थूक, लार में मौजूद वैक्टीरिया से फैलते हैं। अतः मूत्र पदार्थ अनुपसेव्य ही हैं।

जैन आहार की मर्यादायें - जैनाचार्यों ने प्रत्येक खाद्य वस्तु की खाने की मर्यादा निर्धारित की है। जैसे के आटे की मर्यादा गर्मी में 5 दिन, ठंड में 7 दिन एवं वर्षाकाल में 3 दिन है। इसी प्रकार खिचड़ी, दाल, सब्जी की मर्यादा 6 घण्टे है। रोटी, चावल, हलुआ आदि की अवधि 12 घण्टे है। घी, गुड, तेल आदि की अवधि स्वाद न बिगड़ने तक मानी गई है। जल को उबालने पर उसकी मर्यादा 24 घंटे है। सामान्य रूप से गर्म करने पर 12 घण्टे और मात्र छानने पर 45 मिनट है। उक्त अवधि के पश्चात यह खाद्य पदार्थ अभक्ष्य की श्रेणी में आ जाते हैं।

वाईस अभक्ष्य पदार्थ - निम्न पद्य में वाईस अभक्ष्यों का वर्णन है :-

ओला घोर बड़ा निशि भोजन, बहुबीजा बैगन संधान।
बड़, ऊमर, पीपर, कठ, पाकर फल जो होय अजान ।
कदमूल, माटी विष अभिष मधु, माखन अरू मदिरापान।
फल अर्तो तुच्छ तुषार चलित रस ये जिनमत वाईस बखान।

आधुनिक सूक्ष्मजीव विज्ञान की दृष्टि से अभक्ष्य - बीसवीं सदी के

प्रारंभ से वैज्ञानियों ने सूक्ष्म जीवों के अध्ययन में अत्यंत रूचि लेना प्रारंभ कर दिया था। आज सूक्ष्मजीव विज्ञान (माइक्रोबायलॉजी) एक अति महत्वपूर्ण विषय है। इसके अंतर्गत विभिन्न प्रकार के जीवाणु (बैक्टीरिया), विषाणु (वायरस) फफूदी (फजाई) इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। यह सूक्ष्म जीव एक मिली मीटर के भी कई हजार गुना छोटे होते हैं एवं इन्हे माइक्रोन में मापा जाता है। यह सूक्ष्मजीव प्रकृति के प्रत्येक भाग में ठसाठस भरे हुये हैं। अतः थोड़ा भी अनुकूल वातावरण मिलने पर यह खाद्य पदार्थों पर आक्छमण कर देते हैं एवं उन्हीं के आश्रित अपना जीवन चक्र पूर्ण करते हैं। मिट्टी एवं पानी में भी यह सूक्ष्म जीव बहुतायत में पाये जाते रहें।

सूक्ष्मजीव विज्ञानियों ने सिद्ध कर दिया है कि बरसात में नमी एवं उचित तापक्छम होने से एस्परजिलस, म्यूकर, राइजोपस, सेक्छोमाइसिस आदि कबकों के बीजाणु आटे आदि में आसानी से वृद्धि करने लगते है। ग्रीष्म ऋतु में अधिक ताप होने से एवं शीत ऋतु में कम ताप होने पर इनकी वृद्धि एवं अंकुरण क्रमशः 5 एवं 7 दिन बाद हो पाते हैं।

दूध एवं उससे बने पदार्थों में तो बैक्टीरिया का अत्यंत प्रभाव होता है। दूध में निम्न चार वर्ग के बैक्टीरिया पाये जाते हैं :-

१. साइक्राफिलिक
२. मीजोफिलिक
३. थर्मोफिलिक
४. थर्मोक्यूरिक

मर्यादित एवं अभक्ष्य दही - दूध दुहने के उपरान्त उसे तुरन्त 45 मिनिट से पहले छानकर गरम करने के उपंरात जामन डालकर दही जमने के लिये रख दिया जाता है। दूध से दही बनने की क्रिया के प्रारम्भ में दूध में उपस्थित लेक्टोज और ग्लूकोज नामक शर्कराओं के अणु ग्लाइकोलिसिस द्वारा पाइरूविक अम्ल बनाते हैं जो अपचयित होकर लेक्टिक एसिड बनाता है। इसी कारण दूध में खट्टापन आने लगता है।

जिससे दूध के प्रोटीन और वसा तत्व अवक्षेपित होकर दही के रूप में जम जाते हैं। इस दही की मर्यादा अधिकतम 24 घण्टे की होती है। उक्त अवधि के पश्चात दही में अन्य कई प्रकार के जीवाणु सक्रिय हो जाते हैं। जैसे – जैसे खट्टापन बढ़ता जाता है वैसे वैसे वेसिलस, क्लोस्ट्रीडियम, स्यूडोमोनास जाता है।

अभक्ष्यों की वैज्ञानिकता :- लगभग सभी श्रावकचारों में उदुम्बर फलों को अभक्ष्यों की श्रेणी में रखकर उनके सेवन का निषेध किया गया है। वनस्पति विज्ञान के अनुसार उदुम्बर फल वास्तव में फल न होकर फूलों का समूह है जो कि एक ही खोखले, प्यालीनुमा पुष्पासन में रहते हैं। इसी के भीतर सैकड़ों पुष्प समूह रूप में विद्यमान रहते हैं। इन उदम्बर फलों में परागण की क्रिया सम्पन्न कराने के लिये अनेक सूक्ष्म कीड़े प्रवेश करते हैं। कहीं मादा कीट अपने सैकड़ों अण्ड़े देता है जो कि बाद में परिपूर्ण कीटों में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार उदम्बर फल कीड़ों का जन्म स्थान और शवग्रह दोनों ही हैं।

सभी प्रकार के जमीकन्द सीधे मिट्टी के सम्पर्क में रहते हैं। एवं अत्यंत सूक्ष्म जीवों से घिरे रहते हैं। इन जीवों में प्रोटोजोआ, आर्थोपोडा, मौलस्का, शैवाल, फफूद आदि प्रमुख हैं। जब जमीकन्द को खाने के लिये उखाड़ते हैं तो इन जीवों का स्वाभाविक रूप से नाश होता है। वैज्ञानिक प्रयोगों के लिये आलू का जो धोल तैयार किया जाता है उसे पी.डी.ए. मीडिया कहा जाता है एवं इस पर तीन दिनों के अन्दर ही फफूदियों एवं वैक्टीरिया की उपलब्धि होने लगती है। आलू में पाया जाने वाला स्टार्च जीवाणुओं की उत्पत्ति में सहायक है।

अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों की भक्षण की मर्यादा जैनाचार्यों द्वारा बताई गई है। जैसे कि आटे की मर्यादा वर्षाकाल में 3 दिन, गर्मी में 5 दिन एवं जाडे में 7 दिन की है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी उक्त अवधि के पश्चात इसमें जीवों की उत्पत्ति प्रारम्भ में हो जाती है। उक्त अवधि के पश्चात आटा असेवनीय की श्रेणी में आ जाता है।

प्रासुकीकरण को वर्तमान विज्ञान के संदर्भ में 'पाश्चुरीकरण' या

'पाश्चेराइजेशन' प्रक्रिया के समकक्ष माना जा सकता है। पाश्चर नामक वैज्ञानिक ने अपने प्रयोग में पाया कि अगर दूध को कुछ समयावधि के लिये अधिक ताप पर रख दिया जावे तो वह फटता नहीं है एवं अधिक अवधि तक के लिये उपयोग किया जा सकता है उक्त प्रक्रिया वास्तव में जैन श्रावकों द्वारा प्राचीन काल से ही अपनाई जाती रही है। जैन श्रावक दूध के अलावा पानी, तापक्रम पर गर्म कर लिया जाता है। प्रासुकीकरण की क्रिया में पदार्थों में अवस्थित जीव निष्क्रिय हो जाते हैं। एवं अन्य सूक्ष्म जीवों का प्रभाव भी नहीं हो पाता है। एक निश्चित

अवधि तक ही इन प्रासुक वस्तुओं का सेवन किया जा सकता है इसके पश्चात इनमें पुनः जीव राशि पैदा हो जाती हैं।

जैन आहार में दूध, घी और दही इन तीनों को गोरस माना गया है। दूध दुहने के उपरांत उसे तुरत लगभग 45 मिनट से पहिले छानकर गर्म कर लेना आवश्यक बताया है। ऐसा दूध एवं उसी से निर्मित दही, घी, खोया इत्यादि खाने योग्य है। दूध और घी से निर्मित सभी पदार्थों में जीवाणुओं का प्रभाव अतिशीघ्र होता है। साइक्रोफिलिक, मीजोफिलिक, थर्मोफिलिक एवं थर्मोडयूरिक – इन चार वर्गों के सूक्ष्म जीवाणु इन दुग्ध निर्मित पदार्थों को शीघ्र ही दूषित कर देते हैं। दही को मर्यादा के पश्चात खाने का निषेध है क्योंकि इसके पश्चात इसमें अन्य जीवाणुओं की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। जैन श्रावक सूखे हुये नारियल की नरेटी (ऊपरी कढ़ा छिलका) अथवा चांदी के सिक्के से दही में डालकर सुखाई गयी है) में लेक्टोवेसिलस जीवाणु जो कि दही जमाने में सहायक होते हैं, की उपस्थिति की संभावना ही हो सकती है अन्य जीवाणुओं एवं त्रस जीवों की नहीं।

हिंसाजन्य एवं दोषयुक्त पदार्थों को भी जैन दर्शन में अभक्ष्य की श्रेणी में रखा गया है। मांस मदिरा एवं शहद तो साक्षात् ही अभक्ष्य हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मांस में अत्यंत जीव उत्पन्न हो जाते हैं। मदिरा एवं शहद भी त्रस जीव राशियों के भण्डार हैं।

मदिरा का निर्माण किण्वन (फर्मेन्टेशन) विधि से होता है जिससे

यीस्ट नामक फफूंदी के संयोग से किण्वन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। अनेक दिनों तक अनेक पदार्थों के सड़ाने से इसमें अनेक प्रकार के त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

नशीले अथवा मादक पदार्थ भी अभक्ष्य हैं इनमें अनेक प्रकार के एल्कलॉइड होते हैं। यह एल्कलॉइड्स मनुष्य के शरीर के तंत्रिका तंत्र को नुकसान पहुंचाते हैं। अति संवेदनशील कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं। वायु में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव मौजूद रहते हैं। इन जीवों का प्रकार वहाँ की परिस्थितिकी, वातावरण एवं जलवायु पर निर्भर करता है। यह जीव अल्प समय में ही किसी वस्तु पर आक्रमण कर उसे सवंमित कर देते हैं। वायु में उपस्थित इन जीवों की अवधारणा जैन धर्म में प्राचीनकाल से ही बनाई गयी है। शायद इसी अवधारणा के कारण ओला सेवन को वर्जित किया गया है।

प्रासुक जल की मर्यादा 12 से लेकर 24 घंटे तक होती है जबकि अप्रासुक जल की 45 मिनट ही है। जल में इश्चिरिशिया कोलाई एवं क्लोस्ट्रोडियम नामक जीवाणु अधिसंख्य मात्रा में पाये जाते हैं। प्रासुक करने के पश्चात ही यह निष्क्रिय हो पाते हें।

आधुनिक वैज्ञानिक मिट्टी में उपस्थित सूक्ष्म जीवों का गहन अध्ययन कर रहे हैं। इस विज्ञान को 'मृदा सूक्ष्म जीव विज्ञान' कहा जाता है। प्रयोगों से निष्कर्ष निकला है कि एक सुई की नोंक के बराबर मिट्टी को यदि उचित माध्यम में डाला जावे तो उसमें अनेक प्रकार की फफूदियों एवं जीवाणु प्रकट हो जाते हैं। इसके अलावा त्रस जीवों की बहुलता तो मिट्टी में रहती है। इसलिये जैनचार्यों ने 'माटी' को अभक्ष्यों की श्रेणी में रखा है।

अति तुच्छ प्रकार के फलों का निर्माण एक कोष्ठिक स्त्रीधानी से न होकर अनेक कोष्ठिक एवं अनंत स्त्रीधानियों से होता है। इन कोष्ठों के सन्धि स्थानों पर अनेक फटाव एवं छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं जिसमें से अति सूक्ष्म जीव इन फलों में प्रविष्ट कर जाते हैं।

कुछ सूक्ष्म जीव तो इन फलों के बनने की प्रारम्भिक अवस्था

से ही अन्दर प्रवेश कर, वृद्धि करते रहते हैं। सीताफल, अन्नास, कटहल आदि अनंत फलों के समूह कहे जा सकते हैं। इन्हें 'इटेरियो' फल भी कहा जाता है। इसमें अनंत प्रकोष्ठ होते हैं एवं सूक्ष्म जीवों के प्रवेश हेतु पर्याप्त स्थान होता है। अत: यह अभक्ष्य ही है। अचार तो फर्मेन्टेशन की प्रक्रिया के पश्चात ही बनता है अत: इसमें तो सूक्ष्म जीवों की उपस्थिति की पूर्ण संभावना है। चलित रस (जिनका स्वाद विगड़ गया हो) जैसी वस्तुयें सर्वथा अभक्ष्य हैं। क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसमें पहिले वैक्टीरिया एवं फफूदियों का आक्रमण होता है तत्पश्चात त्रस जीवों की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार सभी प्रकार के अभक्ष्यों में जीवाणुओं, विषाणुओं, फफूदियों एवं सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अत: सद-ग्रहस्थों एवं श्रावकों द्वारा सर्वथा त्याज्य होते हैं।

लगभग सभी श्रावकाचारों में प्रासुक, भक्ष्य एवं अभक्ष्यों का वर्णन किया गया है। कुछ उपासकाध्ययन, अमितगति श्रावकाचार, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, लाटी संहिता, कुन्द-कुन्द श्रावकाचार आदि में अभक्ष्यों के अनेक रूपों को स्पष्ट व्याख्या की गई है। अनेक श्रावकाचारों में 'सचित्त त्याग प्रतिमा' कर स्पष्ट उल्लेख कर सचित्त त्याग का उपदेश है।

श्री मच्चामुण्डराय प्रणीत चारित्रसार में सचित्ताहार आदि पांच अतिचारों का स्पष्ट उल्लेख है। धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार में भक्ष्यों की मर्यादा के साथ-साथ जलगालन एवं प्रासुकीकरण विधियों का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में भी जल के प्रासुकीकरण का विस्तृत विवरण दिया गया है। कुन्द कुन्द श्रावकाचार में ताम्बूल के सेवन को इलाइची, लौंग, कपूर आदि सुगंधित वस्तुओं के साथ करना, सेवनीय बताया गया है जबकि ताम्बूल का उपयोग जैनधर्म के अनुसार लगभग बर्जित ही प्रतीत होता है। चूंकि यहाँ कत्था का उपयोग नहीं लिखा गया है।

अत: हो सकता है इस कारण से अ सेवनीय बताया गया हो क्योंकि कत्थे में ही 'टेनिन' नामक पदार्थ होने से उसमें अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। जैनाचायों ने तो प्राचीनकाल में ही अपने ज्ञान

चक्षुओं से जान लिया था कि हमारे पर्यावरण के प्रत्येक अवयव अर्थात् – भूमि, जल, वायु, वनस्पतियों, जन्तुओं एवं मानव शरीर के अंदर–बाहर अनेक प्रकार के सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों का वास है। जबकि विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार की खोजों का इतिहास लगभग दो शताब्दी पूर्व का ही है। जैनधर्म आत्मपरक एवं आध्यात्मपरक धर्म है सात्विकता एवं संयम ही आत्मानुभूति की ओर ले जा सकते हैं।

सन्दर्भ–सूची –

1 श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार – आचार्य श्री समन्तमद्र कृत टोडरमल स्मारक भवन प्रकाशन जयपुर।

2 एरोवायलॉजी – ए.के.जैन रिसर्च पिरीओडिकल एण्ड बुक प्रकाशन, यू.एस.ए. 1999

3 फार्मेकोडायनेमिक्स ऑफ मस्क – सेठ आदि सी.सी.आर. आई. एम. एस प्रकाशन नई दिल्ली 1975

4. जनरल माइक्रोबायलॉजी (भाग–2) पवार एवं डागिनवाला हिमालय पब्लिशिंग हाउस – 1991

5 जैन आहार विज्ञान और कला – डॉ. नेमीचंद जैन हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर 1993

6. फण्डामेन्टल्स ऑफ फूड माइक्रोबायलॉजी – एम.एम. फील्ड फूड ट्रेड प्रेस, 1879

7. माइक्रोबायलॉजी ऑफ फूड फरमेन्टेशन – सी.एस. फीडरसन, ए.बी.आई. यूएस.ए. 1871

8. फूड बोर्न इन्फेक्शन्स एण्ड इन्टॉक्सिकेशन्स – एच. रीमेन, एकेडमिक प्रेस, यू.एल.ए. 1969

–डॉ. अशोक कुमार जैन
प्रोफेसर, वनस्पति शास्त्र
जीवाजी विश्वविद्यालय,
ग्वालियर (म0 प्र0)

जैन दर्शन में षड्द्रव्यों का स्वरूप और उसकी वैज्ञानिकता

-श्रीमती नीतू जैन

सम्पूर्ण जैनागम को चार विभागों में विभक्त किया गया है - १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग, ४. द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग में पुराणों, चरितों, ६३ शलाका महापुरुषों की कथाओं से संबंधित ग्रन्थों का समावेश किया जाता है, करणनुयोग में सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप और कर्म सिद्धान्त संबंधी गणित और ज्योतिष विषयक ग्रन्थों का, चरणानुयोग में मुनियों और गृहस्थों के पालने योग्य नियम विषयक ग्रन्थों का और द्रव्यानुयोग में छः द्रव्यों, सात तत्त्वों, नौ पदार्थ और पंचास्तिकाय से संबंधित दार्शनिक ग्रन्थों का वर्णन हैं। जैनागमों में द्रव्युानयोग संबंधित ग्रन्थ आधुनिक विज्ञान के भौतिक विज्ञान से, चरणानुयोग संबंधित ग्रन्थ आधुनिक विज्ञान के चिकित्सा विज्ञान से तथा करणानुयोग से संबंधित ग्रन्थ ब्रह्माण्डीय विज्ञान से काफी समानता रखते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जैनागम एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखता है।

यहाँ हमारे शोधपत्र का विषय जैन धर्मानुसर षड्द्रव्यों का वैज्ञानिक अध्ययन है। अतः जैनधर्मानुसार यह विश्व मुख्यतया दो द्रव्यों से मिलकर बना है। १. जीव, २. अजीव। अजीव पुनः पाँच भागों में विभक्त किया गया है - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जैन दर्शन के अनुसार काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश 'बहुप्रदेशी' अस्तिकाय हैं। आचार्य सिंहसेन के अनुसार 'अस्ति' शब्द का अर्थ शाश्वत और 'काय' शब्द का अर्थ शरीर। अस्तिकाय शब्द से द्रव्य प्रदशों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की अभिव्यक्ति होती है। आचार्य कुंदकुंद के अनुसार अनेक गुण और अनेक पर्यायों के साथ

जिनका अस्तित्व सुनिश्चित हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं। विज्ञान भी यही कहता है कि सभी द्रव्य मूलतः 'ऊर्जा अथवा एनर्जी' है। जिसका अस्तित्व क्वाटम फील्ड के रूप में है। ऊर्जा अमूर्त अरूपी है परन्तु उसकी प्रतीति परमाणु रूप में होती है जो 'अविनाशी' और 'शाश्वत' है।

आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य के प्रकारों को बताते हुये कहा है –

अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्गलाः।[१]

द्रव्याणि।[२]

जीवाश्च।[३]

कालश्च।[४]

सम्पूर्ण दृश्यमान भौतिक विश्व पौद्गलिक है। संसारी जीव के लिये पुद्गल की आवश्यकता सर्वोपरि है। आचार्यश्री उमास्वामी के अनुसार पुद्गलों के चार उपकार है – शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छवास।[५] पुद्गल की विभाव पर्यायें – ध्वनि, रूप, अंधकार, प्रकाश, ताप आदि हैं। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार अधिकांशतः पौद्गलिक ही है। सुपर सोनिक विमान, सुपर कम्प्यूटर, मिसाइल, राडार, यन्त्र मानव (रोबोट), अणुबम, शक्तिशाली दूरबीन, परमाणु विखण्डन से विद्युत् ऊर्जा, सूक्ष्मदर्शी इत्यादि जड़ भौतिक/पौद्गलिक हैं।

द्रव्य का लक्षण – सद्द्रव्यलक्षणम्।[६] अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् हैं। असत् स्वरूप द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है और सत् स्वरूप द्रव्य का विनाश भी नहीं होता हैं। यह विश्व शाश्वत है और इसमें स्थित समस्त द्रव्य भी शाश्वत हैं आधुनिक विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त भी यह सिद्ध कहता है कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है और वस्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती है केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है। परमाणु अविनाशी है क्योंकि वह द्रव्य है कोई भी उसका विनाश नहीं कर सकता है। सत्ता समस्त पदार्थों में स्थित हैं, अनंतपर्यायात्मक हैं, व्यय, उत्पाद व ध्रौव्यात्मक है ऐसा प्रवचनसार में बताते हुये कहते हैं –

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सागपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्य सव्वकालं उप्पादव्ववयधुवत्तेहिं।।[७]

अर्थात् अनेक प्रकार के गुण और अनेक प्रकार के अपने पर्यायों से और उतपाद, व्यय, ध्रौव्य से सर्वकाल में द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।।[८]

जैनधर्मानुसार 'संसार का सत्' जीव और अजीव इन दो द्रव्यों में समाविष्ट है सत् पर्याय रूप में उत्पन्न होता है और नष्ट भी होता है परन्तु उसका मूल स्वरूप 'जड़' अथवा 'चेतन' ध्रौव्य रहता है अर्थात् सभी पर्यायों में परमाणु व आत्मा ध्रौव्य रहते हैं न उनका कभी नाश होता है न ही कभी उनकी उत्पत्ति होती है। किसी भी अपेक्षा से सत्, असत् नहीं हो सकता है। जीव से अजीव की अथवा अजीव से जीव की उत्पत्ति कभी नहीं होती है। द्रव्य शाश्वतता के इस नियम को आगमों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का सिद्धान्त कहा गया है जैसे - तितली का जन्म अण्डे से होता है अण्डा पहले लट् अथवा केटरपिलर में बदलता है लट् अपनी मुलायम त्वचा को त्यागकर उसके स्थान पर कठोर कवच बना लेती है कुछ दिनों बाद उस कठोर कवच से तितली बाहर निकजली है वह फूलों का रस चूसकर उसे प्रोटोन में बदलती है जो कुछ समय के पश्चात् अण्डे में बदल जाता है। इस प्रकार अण्डा-लट्-तितली-अण्डा का चक्र चलता रहता है, इन सभी में चेतना और इन सभी के शरीरों का परमणु का स्वरूप नहीं बदलता है।

जैनदर्शन में विश्व के निर्माता, संचालक और संहारक ईश्वर के रूप में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को स्वीकार करत हौ। वैाानिक इस सिद्धान्त को Law of conservation of mass and energy कहते हैं। इसके अनुसार सभी प्रकार की भौतिक और रासयनिक क्रियाओं में जीव तत्त्व जीव ही हरहता है और परमाणु-परमाणु ही रहता है, वे आपस में एक दूसरे में परिवर्तित नहीं होते।

वैज्ञानिक लेवाईजर Law of indestructivity of matter में

इस कथन की पुष्टि करते हुये कहते हैं कि

nothing can be created in every process. Threre is only change of modification of matter.

गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।[९]

आचार्य उमास्वामी महाराज के अनुसार गुण और पर्याय वाला द्रव्य है, द्रव्यों में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं अर्थात् जो द्रव्य के प्रत्येक भाग में और उसकी प्रत्येक अवस्था में पाया जाता है उसे गुण कहते हैं गुण अन्वयी होते हैं। द्रव्य एवं गुणों के कार्य विशेष को पर्याय कहते हैं या प्रतिसमय परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। पर्याय व्यतिरेकी होती हैं।

द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होते। द्रव्य और गुणों को एक-दूसरे से विभक्त नहीं किया जा सकता। द्रव्यों में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं सामान्य गुण और विशेष गुण, जिन्हें लक्षण भी कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, द्रव्यों के सामान्य गुण हैं। जीव का विशेष गुण है उपयोग अर्थात् ज्ञान और चेतना की क्षमता, विज्ञान इसको consciousness के रूप में स्वीकार करता है। पुद्गल द्रव्य का विशेष गुण है पूरण, सड़न-गलन और जड़त्व, विज्ञान के द्वारा इसको Inertia और Quantum states के रूप में स्वीकार किया गया है। धर्म और अधर्म द्रव्यों के विशेष गुण गति सहायक और स्थिति सहायक द्रव्य का विज्ञान भी समर्थन करता है। आकाश द्रव्य के विशेष गुण अवगाहन को विज्ञान गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र के रूप में मानता है और काल द्रव्य के विशेष गुण वर्तना परिणमन को विज्ञान change of state के रूप में मानता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से षड्द्रव्यों का स्वरूप -

जीव - जैन दर्शन में जीव और आत्मा इन दो शब्दों का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है। आत्मा जीता था, जीता है और भविष्य में भी सदाकाल जीता रहेगा अतः इसे जीव कहते हैं। यथा **पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।**[१०] अर्थात् जो चार प्राणों - इन्द्रिय,

बल, आयु, श्वासोच्छवास से जीता है, जीएगा और पहले जीता था वह जीव है। वृहद् द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थों में जीव की परिभाषा इस प्रकार लिखी गई है कि जो व्यवहार से इन्द्रियादि प्राणों से जीता है और निश्चय से अपने चैतन्य प्राणों से जीता है वह जीव है। जीव ज्ञान का विषय है, अध्ययन का विषय हैं परन्तु आत्मा ध्यान का विषय है, अनुभूति का विषय है। वास्तव में जीव तो हम सभी है परन्त आत्मा सिर्फ स्वयं के जीव को ही कहते हैं।

उपयोगो लक्षणम्।[११]

चेतना लक्षणो जीवः।[१२]

अर्थात् जीव उपयोगमय है। पारिभाषिक रूप से उपयोग का अर्थ चेतना ही है जैनाचार्यों ने उपयोग या चेतना को जीव का वास्तविक लक्षण कहा है क्योंकि यह संसारी से लेकर सिद्ध तक सभी जीवों में हर अवस्थ में अनिवार्यतः पाया जाता है कभी भी किसी भी जीव में इसका पूर्णतः अभाव नहीं होता है तथा अजीव पदार्थों में कदापि नहीं पाया जाता है। द्रव्यसंग्रह में आचार्यश्री नेमिचन्द्रजी ने कहा है –

तिक्काले चदु पाणा, इंदियबल माउ आणपाणो य।
ववहारो सो जीवो, णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।।[१३]

जीवात्मा ज्ञान और दर्शन रूप उपयोगमय है अमूर्त है एवं मूर्त रूप भी है, निज शरीर के बराबर है, कर्त्ता, भोक्ता है। संसार में स्थित है तथा सिद्ध है, तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, निश्चयनय से जीव में पुद्गल के मूल गुणों स्पर्श रसादि का अभाव होने से जीव अमूर्त है परन्तु कर्मबन्ध की अपेक्षा से वह मूर्त है, काय के समान बहुप्रदेशों को धारण करने से यह अस्तिकाय रूप है, जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशी होता है, इन प्रदेशों में संकोच या विस्तार गुण होने से यह निज शरीर रूप हो जाता है। लोकाकाश में जीवों की संख्या अनंत है।

वर्तमान में विज्ञान की अनेक शाखायें मुख्य रूप से मूर्तिक वस्तुओं के विषय में शोध कर रही है, परन्तु विज्ञान की मनोविज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान जैसी महत्त्वपूर्ण शाखाओं में अमूर्तिक

वस्तुओं के बारे में अध्ययन किया जा रहा है, ये सभी प्राणियों की विविध मनोदशाओं और जैविक क्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करती ही है जो कहीं न कहीं आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है आधुनिक विज्ञान का इस ओर थोड़ा ध्यान अपेक्षित है। आधुनिक विज्ञान के द्वारा पदार्थों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया गया है–

१. सजीव पदार्थ, २. निर्जीव पदार्थ।

उपरोक्त वर्गीकरण भी जीव या आत्मा के के अस्तित्व को अनिवार्यतः सिद्ध करता है। महान् वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र वसु (१८५८–१९३७) ने अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों से पेड़–पौधों में जीव के अस्तिव को सिद्ध किया।

२. पुद्गल द्रव्य – जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल एक लोक व्यापी द्रव्य है, जो शाश्वत है, अनादि है और मूर्त है आचार्य कुंदकुंद कहते हैं –

उवभोज्जमिंदिये हि य इंदिय काय मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे।।[१३]

अर्थात् इन्द्रियों द्वारा भोगने–जानने योग्य, मन, कर्म और भौतिक वस्तुयें सभी पुद्गल हैं।

पुद्गल जैन दर्शन का मौलिक शब्द है जो पुद्+गल शब्दों से बना है। पुद् का अर्थ है पूर्ण, जुड़ना, संघटन अथवा मिलना। गल का अर्थ है गलना, विघटन, अथवा टूटना आदि, अर्थात् वह द्रव्य जिसका मिलना टूटना संभव हो, वह पुद्गल है। जिन पदार्थों में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाये जायें अर्थात् जिन पदार्थों का इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान होता है वह पुद्गल है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट रूप से पुद्गल के दो भेद किये हैं – **अणवः स्कन्धः।**[१५] अर्थात् पुद्गल के दो रूप है अणु और स्कन्ध। कर्म अथवा कार्माण परमाणु भी एक विशेष प्रकार का सूक्ष्म पुद्गल है, जो राग, द्वेष, मोह, माया और कषाययुक्त आत्मा से बन्ध जाता है और संसार की रचना करता है। विज्ञान में कार्माण परमाणु को फोनॉन कहते हैं। वैज्ञानिकों ने आत्मबंध को भी फोटोन–फोनॉन की परस्पर क्रिया के रूप में प्रस्तुत किया है।

लोक की नित्यता पुद्गल की गति के कारण है। सम्पूर्ण पुद्गल परमाणु यदि एक साथ स्थिर हो जाये तो विश्व में महाप्रलय हो सकत हैै। जैनदर्शन के अनुसार सम्पूर्ण पुद्गल परमाणु को स्थिर करना असंभव है। अतः महाप्रलय जैसी घटना इसको अस्वीकार्य है विज्ञान के अनुसार भी महाप्रलय अहमेव है। विश्व की कोई शक्ति परमाणु को स्थिर नहीं कर सकती है। यह केवल ब्लैक होल के क्षेत्र में संभव है। पूर्ण लोक या यूनिवर्स में ब्लैक होल नहीं बन सकता, अतः महाप्रलय असंभव है। तम, छाया, आतप, उद्योत पुद्गल की पर्याय है जैनदर्शन के अनुसार 'तम' प्रकाश की अभाव नहीं है, अपितु कृष्ण वर्ण के पुद्गल है। जो हमारी आँखें नहीं देख सकती है, परन्तु निशाचर जैसे उल्लू आदि उन्हें देख सकते हैं। जहाँ प्रकाश नहीं है, वहाँ पर प्रकाश होता है जिसे विज्ञान में इंट्रा रेड रिडियक्शन कहते हैं कुछ प्राणियों को आई.आर. प्रकाश में दिखाई देता है।

जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल द्रव्य का शुद्ध स्वरूप परमाणु हैं। जीव के साथ मिलकर परमाणु सृष्टि की रचना करता है। जैनाचार्यों ने परमाणु को सृष्टि के मूल तत्त्व और विश्व निर्माता के रूप में प्रस्तुत किया है।

जैन परमाणु विज्ञान के vector atom अथवा auantum atom के समान है। जैन परमाणुओं के सभी गुण विज्ञान के परमाणु में पाये जाते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य - तत्त्वार्थसूत्र में आचार्यश्री उमास्वामी महाराज कहते हैं -

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकारः।[१३]

अर्थात् धर्मास्तिकाय का उपकार गति है और अधर्मास्तिकाय का उपकार स्थिति है। जीव और पुद्गल गति है और हलन-चलन में जो उदासीन सहायक होता है, वह धर्मास्तिकाय है। जैसे मछली की गति में पानी उदासीन सहायक होता है। जीव और पुद्गल के स्थिर होने में जो उदासीन सहायक होता है वह अधर्मास्तिकाय है। धर्म द्रव्य स्पर्श,

रस, गंध, वर्ण से रहित एक अखण्ड द्रव्य है जो लोक में व्याप्त है। सर्वप्रथम माइकेलसन नाम के वैज्ञानिक ने प्रकाश का वेग ज्ञात करते समय एक पूर्ण प्रत्यास्थ (Perfectly elastic) पूर्ण लचीला, अत्यन्त हल्का और प्रकाश के कणों को चलाने में सहायक माध्यम की भाँति व्यवहार करने वाले एक ऐसे ही अखण्ड द्रव्य की परिकल्पना की थी, जिसका नाम 'ईधर' दिया। ईधर के गुणों और धर्म द्रव्य के गुणों में काफी समानता पाई गई। न्यूटन के नियमानुसार क्रियाबल के बराबर विपरीत दिशा में एक प्रतिक्रिया बल अवश्य कार्य करता है। विज्ञान के इस नियम से अधर्मास्तिकाय की सिद्धि स्व्मयं ही हो जाती है।

आकाश द्रव्य - जैन दर्शन के अनुसार आकाश भी एक स्वतंत्र द्रव्य है जो जीव और अजीव द्रव्यों को अवगाहना देता है आकाश के दो भाग है - १. लोकाकाश, २. अलोकाकाश। जिसके अन्तर शेष पाँच द्रव्य अनुपस्थित रहते हैं। अलोक में केवल एक आकाश द्रव्य ही रहता है। विज्ञान आकाश को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है। आकाश के विषय में Dr. Hansa का statement विचारणीय है- These four elements-space, metter, time and medium a motion are all seperate and we can not imaging that one of them. could depend on another or converter into another.

आइन्सटीन के विश्व विषयक सिद्धान्त में समस्त आकाश अवगाहित है इसका कोई अंश रिक्त नहीं है डच वैज्ञानिक डी सीटरका मानना है कि समस्त आकाश सम्पूर्ण रूप शून्य है जो अलोकाकाश की ओर संकेत करता है।

इन दोनों कथनों को मिलाने पर जैनदर्शन में वर्णित आकाश की पुष्टि होती है।

काल द्रव्य - आचार्यश्री उमास्वामी महाराज काल को स्वतन्त्र द्रव्य निरुपित करते हुये कहते हैं-

कालश्च।[१७]

अर्थात् काल द्रव्यों के परिणमन में उदासीन निमित्त होता है। जैन दर्शन में काल के दो भेद किये गये हैं –

१. व्यवहार काल।

२. निश्चय काल।

लोकाकाश के प्रदेशों में रहने वाले कालाणु निश्चय काल हैं और वे ही पदार्थों के परिणमन में निमित्त बनते हैं।

वैज्ञानिक हेरिसन ओएन ने ब्रेड के बासीपन से उठती फफूंद, गंदे पानी में पनपते जीवाणुओं के Behavioral Expression को भी जैविक छड़ी माना।

दिल्ली के प्रो. वीनादास ने 'स्मृति ही समय के अस्तित्व को दर्शाती है यह बतलाया।'

इस विषय में आधुनिक विज्ञान की और अधिक शोध अपेक्षित है विज्ञान के अनुसार काल पृथ्वी पर अथवा मनुष्य लोक में स्वतंत्र द्रव्य है। विश्व के अन्य भागों मं काल आकाश से भिन्न नहीं है, और अउसका अनुभव स्पेस टाइम के रूप में होता है। चार सौ वर्ष पूर्व न्यूटन ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में प्रतिपादित किया था।

सन्दर्भ-सूची –

१. तत्त्वार्थसूत्र/५/१
२. वही/५/
३. वही/५/३
४. वही/५/३९
५. वही/५/१९
६. वही/५/२९
७. प्रवचनसार/९६
८. तत्त्वार्थसूत्र/५/३०
९. वही/५/३८
१०. वही/२/२८
११. सर्वार्थसिद्धि/१/४

१२. द्रव्यसंग्रह/३
१३. पंचास्तिकाय/८२
१४. प्रवचनसार/१४७
१५. तत्त्वार्थसूत्र/५/२५
१६. वही/५/१७
१७. वही/५/३९

श्रीमती नीतू जैन
सी-२७४/४, अर्जुननगर,
सफदरगंज एन्क्लेव,
नईदिल्ली७१००२९
9013834113
email - nitujain0901@gmail.com

जैन पदार्थ विज्ञान - एक अनुशीलन

-डॉ. जयकुमार जैन

सामान्यत: लोक में भौतिकी को पदार्थ विज्ञान कहा जाता है, किन्तु जैन दर्शन में पदार्थ एक पारिभाषिक शब्द है, जिसमें बाह्य शरीर आदि से लेकर अन्त:करण के साथ जीव तत्त्व भी अन्तर्भूत है। अत: जैन पदार्थ विज्ञान के अन्तर्गत जीवन और जगत् के गूढ़ रहस्यों का अध्ययन विवेचनीय है। किसी भी धर्म-दर्शन में तीन विषय विचारणीय होते हैं - मानव का स्वभाव क्या है? मानव का कर्त्तव्य क्या है? और कौन-सा कर्म क्या फल प्रदान करता है? इनमें स्वभाव का सम्बन्ध पदार्थ से है। अत: स्वभाव की जानकारी के लिये पदार्थ विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

जगत् में जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है या दृष्टिगोचर न होने पर भी हमारे उपयोग में आ रहा है उसे हम वस्तु या पदार्थ कहते हैं। वस्तुत: लोकालोक में जिसकी सत्ता है, वह पदार्थ है। इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जिसकी वास्तविक सत्ता है, वही सत्, द्रव्य, वस्तु या पदार्थ कहलाता है। यथार्थत: पदार्थों के समूह का नाम लोक या विश्व है और इकाई का नाम पदार्थ है। लोक में द्रव्य, गुण, पर्यायें जो भी ज्ञेय हैं, वे पदार्थ हैं। प्रवचनसार की टीका में कहा गया है -

इह किल य: कश्चन परिच्छिद्यमान: पदार्थ: स सर्व एव द्रव्यमय:.....गुणात्मक:....पर्यायात्मक:।[१]

अर्थात् इस विश्व में जो जानने में आने वाला पदार्थ है, वह समस्त द्रव्यमय, गुणमय और पर्यायमय है। यद्यपि एक समय में एक पदार्थ में एक ही पर्याय रहती है, किन्तु ज्ञान में अनन्त गुणों एवं पर्यायों का पिण्ड ही दिखलाई पड़ता है।

मुख्यतया पदार्थ के दो भेद हैं – जीव और अजीव। अजीव के ५ भेद हैं – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। भेद विवक्षा में जीव और पंचविध अजीव मिलाकर छः द्रव्य कहे गये हैं। आचार्य कुंदकुंद जी ने सत्ता, द्रव्य एवं पदार्थ को पर्यायवाची माना है। इस विषय में कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं –

सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।।[२]

जिसने जीवादि पदार्थ और उनके प्रतिपादक शास्त्र को अच्छी तरह जान लिया है, जो संयम और तप से सहित हैं, जिसका राग नष्ट हो चुका है और जो सुख-दुःख में समता परिणाम रखता है, ऐसा श्रमण मुनि शुद्धोपयोग का धारक है।

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेषु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा।।[३]

जिन्होंने सम्यक् रूप से पदार्थों को जान लिया है और जो बहिरंग एवं अंतरंग परिग्रह को छोड़कर पंचेन्द्रिय विषयों में लीन नहीं है, वे मुनि शुद्ध कहे गये हैं।

पंचास्तिकाय में मोक्षमार्ग के कथन की प्रतिज्ञा करते हुये आचार्य कुंदकुंद ने भगवान् महावीर स्वामी की वंदना करके सात तत्त्वों में पुण्य-पाप जोड़कर नौ पदार्थ कहे हैं –

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा।।[४]

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पदार्थ है।

इन नौ पदार्थों में वास्तविक सत्ता वाले पदार्थ तो दो ही हैं – जीव और अजीव। शेष्ज्ञ तो इन दो के संयोग या वियोग से होने वाले हैं, अतः उनकी यथार्थ सत्ता नहीं है।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने छक्खंडागम की धवला टीका में सत्ता और पदार्थ को एक मानते हुये एक गाथा दो जगह उद्धृत की है –

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरुवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पायधुवत्ता सव्पडिवक्खा हवदि एक्का।।[५]

सत्ता सब पदार्थों में स्थित है, सविश्वरूप है, अनंत पर्याय वाली है, व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य से युक्त है, सप्रतिपक्षरूप है और एक है।

नय के अनुसार एक पदार्थ में उत्पाद, व्यय एवं ध्रुवत्व की संगतता के लिये उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है -

उप्पजंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्य।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं।।[६]

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती है और पूर्व-पूर्व पर्यायों पर नाश होता है। किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वे सदा ही अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाव वाले हैं। उनका न कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है। वे सदाकाल स्थिति स्वभाव वाले रहते हैं।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्।।[७]

कोई भी वस्तु न सामान्य रूप से उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है, क्योंकि इनमें सामान्य रूप से अन्वय देखा जाता है। किन्तु वही विशिष्ट रूप से उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी होती है। अतः एक ही वस्तु में तीनों एक साथ रहते हैं। तीनों से युक्त वस्तु को सत् कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त को सत् तथा सत् को द्रव्य का लक्षण कहा गया है -

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।
सद्द्रव्यलक्षणम्।[८]
गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।[९]

कहकर गुण एवं पर्यायों वाले को द्रव्य कहा है। फलितार्थ यह निकला कि सत्ता, द्रव्य एवं पदार्थ पर्यायवाची हैं तथा जीवादि सात तत्त्वों में पुण्य-पाप को मिलाकर नव पदार्थ भी माने गये हैं। पदार्थ का स्वरूप

निर्धारित हो जाने के पश्चात् विज्ञान का स्वरूप जानना भी अपिरहार्य है, ताकि जैन दर्शन में कथित पदार्थों को आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखा जा सके।

आज वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम है। विज्ञान भौतिक सत्य का अनुसन्धान है। अवलोकन, विश्वलेषण, प्रयोग और व्याख्या ये चार वैज्ञानिक आचार संहिता के अंग है। यद्यपि एक वैज्ञानिक में तन्मयता, एकाग्रता एवं अपने कार्य के प्रति निष्ठा एक दार्शनिक के समान ही पाई जाती है तथापि यह आवश्यक नहीं कि उसका चिन्तन एक दार्शनिक के समान मानव कल्याणकारी ही हो। केवल विज्ञान की शक्ति घातक भी हो सकती है। अतः उसे नियाजित करने के लिये नैतिक मूल्यों का आधान आवश्यक है। वास्तव में विज्ञान वही है जिस विशिष्ट ज्ञान के द्वारा स्वहित एवं लोकहित हो। भगवतीसूत्र में कहा गया है – विज्ञान वह है जो जानने योग्य त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य की व्याख्या करने में समर्थ हो।[१०] आचार्य वादीभसिंह सूरि ने क्षत्रचूड़ामणि में भी हेय–उपादेय के विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान परिभाषित करते हुये कहा है कि यदि हेय–उपादेय का विज्ञान नही हैं तो शास्त्र में परिश्रम करना व्यर्थ है –

'हेयोपादेयविज्ञानं नो चेत् शास्त्रे वृथा श्रमः।'[११]

विज्ञान में नैतिक मूल्यों को अनिवार्य मानते हुये सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने कहा है कि प्रिन्सीपल ऑफ रिलेटेविटी विज्ञान का मूल सिद्धान्त होना चाहिये। यतः पदार्थों का आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन वैज्ञानिकों को ना क्षेत्र तो देगा ही, नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था उनके प्रयोगों को सही दिशा भी प्रदान करेगी। अतः जैनदर्शन के अनुसार पदार्थों का स्वरूप विवेच्य है।

१. जीव – जीव चेतना लक्षण वाला है –

चेतनालक्षणो जीवः।[१२]

अर्थात् जो चेतन है, वह जीव है। संसारी दश में प्राण धारण करने के कारण आत्मा को ही जीव कहा जाता है। आत्मा एवं जीव

कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है। प्रवचनसार में जीव का सामान्य लक्षण करते हुये कहा गया है –

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पुग्गलदव्वेहि णिव्वत्ता।।[१३]

जो न्यूनतम चार प्राणों से जीता है, जीयेगा या जिया था, वह जीव है। प्राण तो पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न है।

जीव संकोच–विस्तार स्वभावी होने से संसारी दशा में जब जैसा शरीर धारण करता है, तब वैसे ही आकार का अर्थात् स्वशरीरप्रमाण हो जाता है। जीव के संसारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद हैं। संसारी जीव के स्थावर और त्रस की अपेक्षा दो भेद, स्थावर के पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक की अपेक्षा पाँच भेद, त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय एवं पंचेन्द्रिय की अपेक्षा चार भेद तथा पंचेन्द्रिय के समनस्क और अमनस्क की अपेक्षा दो भेद है। पहले वैज्ञानिक स्थावरों में जीव नहीं मानते थे, किन्तु वनस्पति में प्रत्यक्ष रूप से भय संज्ञा की मान्यता प्रबल होती जा रही है।

सुख–शान्ति के लिये आधुनिक विज्ञान ने यद्यपि बड़ी–बड़ी खोजें कर ली हैं, किन्तु अपनी प्रयोगशाला में उसे नहीं खोज पाया है, जिसमें सुख–शान्ति का वास है। जैसे – गुम हो गई सुई को प्रकाश में वहाँ खोजा जाये जहाँ वह गुमी नहीं थी, या अन्धकार में वहाँ खोजी जाये, जहाँ गुमी थी, दोनों ही स्थितियों में सुई का मिलना संभव नहीं है, वैसे ही वैज्ञानिक सुख–शान्ति को या तो जड़ पदार्थों में खोज रहे हैं या अज्ञानान्धकार में जीव में खोजने का प्रयास कर रहे हैं। दोनों ही जगह सुख–शान्ति का मिलना संभव नही है। वैज्ञानिकों को यह जानने की आवश्यकता है कि सम्पूर्ण विज्ञान जहाँ से निःसृत है, उस जीव पदार्थ को ज्ञान के प्रकाश में खोजने की आवश्यकता है। आश्चर्य तो यह है कि विज्ञान जीव को पदार्थ मानता ही नहीं है। वह शरीर और जीव को एक समझ रहा है, जबकि वे दो अलग–अलग पदार्थ हैं। भले ही वे दोनों दूध–पानी की तरह एकाकार होकर रह रहे हो। शरीर जड़ है और जीव

चेतन है। कभी-कभी प्राणों को धारण करने के कारण उस शरीर को जीव कह दिया जाता है, किन्तु शरीर जीव नहीं है। क्योंकि शरीर मूर्तिक है और जीव अमूर्तिक है।

चेतना लक्षण वाले जीव से जो विपरीत है, वह अजीव है –

तद्विपर्ययोऽजीवः।[१४]

यह ज्ञान-दर्शन से रहित है। यद्यपि अजीव में जीव सदृश गुण नही है, तथापि इसके अपने गुण हैं। क्योंकि कोई भी पदार्थ गुणों से हीन हो ही नहीं सकता है। अजीव दो प्रकार के हैं – मूर्तिक और अमूर्ति। लोक में दृष्टिगोचर होने वाले सभी मूर्तिक हैं। क्योंकि वे पुद्गल के ही विधि रूप हैं। पुद्गल के अतिरिक्त शेष चार धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्तिक हैं।

२. पुद्गल – रूपी जड़ पदार्थ को पुद्गल कहा जाता है, क्योंकि इसका स्वभाव पूरण और गलन है। नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है–

गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः।[१५]

अर्थात् जो गलन और पूरण स्वभाव से युक्त है, वह पुद्गल है। पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाये जाते हैं, इसलिये उसे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाला कहा जाता है –

स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः।[१६]

यतः स्पर्शादि चारों नियम से एक साथ पाये जाते हैं, अतः यदि केवल रूपी कहा जाये तो भी पुद्गल का बोध हो जाता है। इसलिये पुद्गल की परिभाषा कहते हैं –

रुपिणः पुद्गलः।[१७]

पुद्गल के दो भेद है – अणु और स्कन्ध। अणु एक प्रदेशी है और स्कन्ध संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी है। यद्यपि सूक्ष्मता के कारण अणु चक्षु का विषय नहीं बन पाता है, तथापि वह है मूर्तिक और सभी मूर्तिक स्पर्श, रस, गंध एवं वर्ण वाले होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत पुद्गल द्रव्य की पर्यायें है –

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमस्छायातपोद्योतवन्तश्च।[१८]

जैनेतर दार्शनिक पहले इन्हें पुद्गल न मानकर अन्य रूप कहते हथे। यहाँ तक कि नैयायिक तो शब्द को आकाश का गुण मानते थे। किन्त आधुनिक विज्ञान ने इन्हें वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा ग्रहण करके पुद्गल सिद्ध कर दिया हैं। क्योंकि जो ग्रहण किया जा सकता है, वह पुद्गल ही है। जीव की तरह पुद्गल में भी अपनी अनंत शक्ति है। पंचाध्यायी में कहा है –

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि, पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।[१९]

कहकर पुद्गल को अनंतशक्तिमान् प्रतिपादित किया गया है।

३.-४. धर्म-अधर्म – यह दृश्यमान सम्पूर्ण सृष्टि जीव एवं पुद्गल का परिणाम है, शेष चारों अमूर्तिक अजीव पदार्थ मात्र उपकारी है। उनका अन्य कोई स्वतंत्र कार्य नहीं है। धर्म पदार्थ जीव एवं पुद्गलों में गति में उपकारी बनता है तो अधर्म पदार्थ उनकी स्थिति में। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।[२०]

कहकर इसी बात को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि धर्म और अधर्म दोनों अमूर्ति हैं तथापि लोकाकाश के समान यह असंख्यात प्रदेश वाला है। विज्ञान ने ईथर के रूप में धर्म पदार्थ को स्वीकार किया है, जो शब्द, प्रकाश आदि पुद्गल की पर्यायों की गति में सहायता करता है। वैज्ञानिकों ने स्थिति में सहकारी अधर्मस्थानापन्न किसी पदार्थ को पृथक् स्वीकार नहीं किया है किन्तु उन्होंने जब **ईथर** को गति में सहायक माना है तो उन्हें स्थिति में सहायक की सत्ता भी स्वीकार करना ही पेड़गी। अन्यथा गमन करता हुआ पदार्थ कभी रुक ही नहीं सकेगा।

५. आकाश – इन्द्रियगोचर न होने पर भी अमूर्तिक पदार्थ के रूप में आकश की सत्ता सर्वस्वीकृत है। यह सर्वत्र व्याप्त है। जहाँ सभी छः द्रव्य पाये जाते हैं, वहाँ तो आकाश है ही, जहाँ अन्य आकाशेतर पाँच द्रव्य/पदार्थ नहीं पाये जाते हैं, वहाँ भी आकाश हैं। जहाँ षड् द्रव्य पाये जाते हैं, उसका नाम लोक हैं और वहाँ का आकाश लोकाकाश कहलाता

है। जहाँ आकाशेतर द्रव्य नहीं पाये जाते हैं, वहाँ का भाग अलोक और वहाँ का आकाश अलोकाकाश कहलाता है। यह नित्य एवं निर्लेप पदार्थ है। नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानकर शब्द गुण वाले पदार्थ को आकाश कहते हैं –

शब्दगुणकमाकाशम्।[२१]

किन्तु उनकी यह मान्यता असमीचीन है। शब्द आकाश का गुण नहीं है, शब्द तो पुद्गल की पर्याय है। ध्वनियों का आकश में स्थिर होना तथा विद्युत्–तरंगों के माध्यम से उनका अन्यत्र गमन शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करता है।

अवगाहनत्व अर्थात् अन्य पदार्थों को जगह देना आकाश का कार्य है –

लोकाकाशेऽवगाहः।[२२]

अर्थात् आकाश लोक में अन्य पदार्थों को अवगाह देता है। एक परमाणु आकाश का जितना भाग घेरता है, वह एक प्रदेश कहलाता है। आकश अनंतप्रदेशी है। एक, संख्यात, असंख्यात एवं अनंत प्रदेशी पौद्गलिक अणु एवं स्कन्ध इसी आकाश में आश्रित है। यद्यपि आकाश खाली जगह वाला है, तथापि सत्तावान् होने से अन्य धर्मादि अमूर्त पदार्थों की तरह उसे भी पदार्थ माना गया है। विज्ञान ने vaccum or space के रूप में आकाश की सत्ता को स्वीकार किया है।

६. काल – काल भी एक पदार्थ है। जैनेतर भरतीय दर्शनों में यद्यपि काल को स्वीकार किया गया है, किन्तु वे इसे प्रदेशात्मक नहीं मानते हैं। सत्तावान् पदार्थ नियम से से प्रदेशात्मक तो होता ही है, भले ही वह एक प्रदेशात्मक ही क्यों न हो। जैन दर्शन काल पदार्थ को परमाणु के आकार का एकप्रदेशी मानता है। यह अन्य पदार्थों के भावात्मक परिवर्तन में सहायक होता है। यह किसी पदार्थ में परिवर्तन कराता नहीं है, किन्तु परिवर्तित हो रहे पदार्थ में सहायक बनता है।

काल के दो भेद हैं – निश्चय काल एवं व्यवहार काल। कालाणु निश्चय काल है तथा घड़ी, घण्टा, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि

व्यवहार काल है। अमूर्तिक होने से काल भी अन्य अमूर्तिक पदार्थों की तरह इन्द्रियग्राह्य नहीं है।

उक्त षड्द्रव्यों या पदार्थों के विवेचन से स्पष्ट है कि पुद्गल को छोड़कर चार अजीव पदार्थ एवं जीव पदार्थ अमूर्तिक है। जीव एवं पुद्गल में स्थान परिवर्तन रूप क्रिया पाई जाती है, शेष चार पदार्थ निष्क्रिय है। षड्द्रव्यों में मात्र पुद्गल द्रव्य स्कन्ध बनाते हैं, कालाणु सदा अलग-अलग रहते हैं। आकाश, धर्म और अधर्म व्यापक हैं और जीव, पुद्गल तथा कालाणु व्याप्य हैं। पदार्थों का ज्ञान जैसे श्रेयोमार्ग में अनिवार्य हैं, वैसे ही आधुनिक पदार्थ विज्ञान भी प्रेयमार्ग अर्थात् लौकिक कल्याण में महत्त्वूपर्ण बन सकता है।

सन्दर्भ-सूची -

१. प्रवचनसार, त.प्र. टीका, गाथा ९३
२. वही, ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार, गाथा १४
३. वही, चारित्राधिकार, गाथा ७३
४. पंचास्तिकाय/१०८
५. धवला उद्धरण/९/५६,१४/१८
६. वही, गाथा१/८
७. वही, गाथा१५/१०
८. तत्त्वार्थसूत्र/५/२८-२९
९. वही/५/३८
१०. द्रष्टव्य, विज्ञान का आचारशास्त्र आलेख, राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर की शोध पत्रिका, जनवरी-दिसम्बर २०१५
११. क्षत्रचूड़ामणि, द्वितीय लम्ब, श्लोक
१२. सर्वार्थसिद्धि/१/४
१३. प्रवचनसार/१४७
१४. सर्वार्थसिद्धि/१/४
१५. नियमसार/९ की तात्पर्यवृत्ति टीका
१६. तत्त्वार्थसूत्र/५/२३

१७. वही/५
१८. वही/९/२४
१९. पंचाध्यायी, उत्तरार्ध/९२५
२०. तत्त्वार्थसूत्र
२१. तर्कभाषा
२२. तत्त्वार्थसूत्र

विशेष – इस आलेख के लेखन में श्री ब्र. जिनेन्द्र वर्णी द्वारा लिखित जैनदर्शन में पदार्थ विज्ञान पुस्तक की पर्याप्त सहायता ली गई है।

– डॉ. जयकुमार जैन
पूर्व उपाचार्य एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
एस.डी. पी.जी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर उ.प्र.

भोगोपभोगपरिणामव्रत की वैज्ञानिकता

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बडौत

मानव जीवन की सार्थकता पदार्थों के संग्रह और उपभोग में नहीं है। इसमें भोग-उपभोग के साथ त्याग की अनिवार्यता है। सांसारिक जीवन में भोग और उपभोग तो है किन्तु उनके परिमाण और त्याग में सुख है। परिमाण करने में गृहस्थ या श्रावक को दु:ख का अनुभव नहीं करना पड़ता है अपितु उसके जीवन में पदार्थों के परिमाण से और उनके भोगोपभोग की मर्यादा से आन्तरिक प्रसन्नता बढ़ती है और बाहरी प्रभाव भी पड़ता है। परिवार समाज का ख्याल रखते हुये व्यक्ति यत्किंचित् अनिवार्य वस्तुओं का उपयोग करता है, तो उसका जीवन सुखपूर्व चल सकता है और उसके साथ-साथ अनेक लोगों का जीवन भी आनन्द से व्यतीत हो सकता है। जो पुरुष घर में विद्यमान भी भोग और उपभोग की वस्तुओं का परित्याग करता है, उसके व्रत की देवेन्द्र भी स्तुति-प्रशंसा करते हैं।[१] आचार्य सोमदेव का कहना है कि जो इस व्रत का पालन करता है, वह मनुष्य और देव पर्याय में जन्म लेकर बिना चाहे ही लक्ष्मी का स्वामी बनता है और मुक्ति भी उसे मिलती है। जो अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति से भोग और उपभोग की संख्या का नियम करते हैं, वे पुण्यशाली होते हैं।

यशस्तिलकचम्पूकार भोगपरिभोग नामक तृतीय शिक्षाव्रत कहते हैं। परिभोगशब्द उपभोग के अर्थ में और कहीं-कहीं भोगोपभोगपरिमाणव्रत के स्थान पर उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत का उल्लेख है। शब्द भेद होने पर अर्थ भेद नहीं हैं दोनों एकार्थवाची है। भोग और उपभोग के निमित्त से हिंसा होती है। अन्य किसी निमित्त से नहीं होती। अत: भोग और

उपभोग की वस्तुओं के त्याग का उपदेश है।[२]

भोगोपभोगपरिमाणव्रत को आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने तीसरा गुणव्रत कहते हैं। इसके विषय में उन्होंने कहा है – जो पुरुष अपने वित्त और शक्ति के अनुसर भोजन, ताम्बूल आदि भोगों वाली वस्त्र, भवन आदि उपभोगों वाली वस्तुसम्पदा की मर्यादा करता है, उसके भोगोपभोगपरिमाणव्रत होता है।[३] चित्त के फैलाव को रोकने के लिये भोग और उपभोग का परिमाण आवश्यक है और जो कुछ प्राप्त है और मात्र होने के साथ जो सेवन करने के योग्य है, उसमें भी अपनी इच्छानुसार परिमाण कर लेना चाहिये।[४] आचार्यश्री समन्तभद्र ने इस व्रत को गुणव्रतरूप से स्वीकार किया है उनका कहना है कि विषयों के परिमाण के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आसक्तियों को कृश करने के लिये प्रयोजन भूत भी इन्द्रिय विषयों का परिसंख्यान करना भोगोभोगपरिमाणव्रत है।

आचार्यश्री वसुनन्दि ने भोगपरिभोग नामक शिक्षाव्रत स्वीकार किया है और इसे दो शिक्षाव्रतों के रूप में माना है उनका कहना है –

जं परिमाणं कीरइ मंडण-तंबोलगंधपुप्फाणं।
तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्तं।।

वसुनंदिश्रा.२१७/३

सगएत्ती ए महिला वत्थाहरणाण जं तु परिमाणं।
तं परिभोयणिवुत्ती विदियं सिक्खावयं जाण।।

वसुनंदि श्रा.२१८/४

अर्थात् मण्डन-शारीरिक श्रंगार, ताम्बूल, गन्ध और पुष्पादिक का जो परिमाण किया जाता है उसे भोग विरति नाम का प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है और अपनी शक्ति अनुसार स्त्री सेवन तथा वस्त्र-आभूषणों का जो परिमाण किया जाता है उसे परिभोगनिवृत्ति नाम का द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिये।

प्राय: सभी श्रावकाचारों में भोगोपभोग नाम का एक ही शिक्षाव्रत या गुणव्रत कहा गया है किन्तु वसुनन्दि सोमदेव के अनुसार भोग और

परिभोग नामक शिक्षाव्रत को मानते हैं और इस व्रत को दो व्रतों के रूप में स्वीकार करते हैं। एक भोगशिक्षाव्रत और दूसरी परिभोग शिक्षाव्रत। उन्होंने सामायिक को शिक्षाव्रत के रूप में ही नहीं स्वीकार किया। अनेक आचार्य भोागोपभोग को गुणव्रत के रूप में मानते हैं।

भोगोपभोग परिमाणव्रत को तत्त्वार्थसूत्रकार और उनकी परम्परा ने गुणव्रत के रूप में स्वीकार किया है किन्तु रत्नकरण्डकश्रावकाचार में एवं अन्य अनेक श्रावकाचारों में शिक्षाव्रत के रूप में श्रमण धर्म की शिक्षा देने वाला माना गया है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में कहने में किसी प्रकार का विशेष अन्तर नहीं है।

भोग और उपभोग दोनों ही मानव जीवन में अशान्ति के कारण हैं। भोग ही द्वैत पैदा करने वाले हैं, असन्तोष के कारण हैं। यह व्रत शिक्षा के देता है कि क्या मेरा जीवन यों ही भोगों में विता देने के लिये है? भोगों का फल तो मैं भोग ही रहा हूँ। भविष्य में अब और अधिक भोगों में लिप्त होकर फिर अपने लिये क्यों पीड़ा मोल ले रहा हूँ? वस्तुतः '**भोगे रोगभयम्**' भोग में रोग का भय निहित है। भोग इस लोक में ही कष्ट देते हैं, सो बात नहीं, परलोक में भी और वे जन्म-जन्मान्तर तक दुःख देते हैं। भोग नरक तक की यात्रा करा देते हैं। ऐसा चिन्तन शरीर में एक रासायनिक परिवर्तन लाता है और आत्मा में विरक्ति का भाव जागता है। मानव के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आता है। भोगों से छुटकारा पाना सर्वश्रेष्ठ है। यदि भोग-उपभोग को पूरी तरह से नहीं छोड़ने में समर्थ होते हैं, तो भोगोपभोग परिमाणव्रत ग्रहण करके भोग और उपभोग की मर्यादा उचित है। इन्द्रिय मन के अधीन न होकर जितेन्द्रिय बनने से विशेष परिवर्तन जीवन में आता है यह वैज्ञानिक अवधारणा है। अब भोग क्या और उपभोग क्या है? इसी पर विचार किया करता है।

जो पदार्थ एक बार भोगकर छोड़ दिये जाते हैं, फिर से काम में नहीं आते ऐसे भोजन, गन्ध, विलेपन आदि पदार्थ भोग कहलाते हैं और जो पहिले भोगकर फिर से भोगने में आते हैं ऐसे वस्त्र तथा आभूषण

आदि उपभोग कहलाते हैं उनकी सीमा निश्चित करना ही भोगोपभोग परिमाण व्रत है।[५]

भोगोपभोग के प्रकरण में कभी-कभी भोग्य वस्तु भी त्यागने योग्य होती है जैसा कि कहा गया है - बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा अपनी शक्ति को देखकर अविरुद्ध भी भोग त्याग करने योग्य है। उचित भोग और उपभोग का त्याग न किया जा सके तो उनमें भी एक दिन-रात की उपभोग्यता से मर्यादा करनी चाहिये।

भोग और उपभोग की वस्तुयें यम[६] और नियम[७] रूप से परिमाण की जाती है त्रसघात, बहुघात, प्रमाद, अनिष्ट और अनुसेव्य ये सभी वस्तुयें अभक्ष्य की कोटि में आते हैं ये जीवन पर्यन्त के लिये त्याग करना चाहिये किन्तु जो वस्तुयें अभक्ष्य कोटि में नहीं आती है, उन्हें देशकाल की योग्यता देखते हुये नियम और यम दोनों रूप से त्याग किया जाता है। जिनका नियम रूप से त्याग किया जाता है वे भोजन, सवारी, शयन, स्नान, पवित्र अङ्गलेपन, पुष्प, पान, वस्त्र, आभूषण, कामसेवन, संगीत और गीत के विषय में आज एक दिन, एक रात अथवा एक पक्ष, एक माह और एक ऋतु (दो माह) अथवा छह माह इस प्रकार समय के विभागपूर्वक त्याग करना नियम होता है।[८]

गृहस्थों या श्रावकों को ऐसा नियम लेना चाहिये कि मैं आज एक बार या दो बार भोजन करूँगा। सवारी पर नहीं बैठूँगा। आज तेल नहीं लगाऊँगा। आज फूलों की माला नहीं पहनूँगा। आज पान नहीं खाऊँगा। आज दो या चार-पाँच वस्त्र पहनूँगा। आज गर्मवस्त्र का त्याग है। आज आभूषण नहीं धारण करूँगा अथवा पन्द्रह दिन, एक माह तक आभूषण नहीं पहनूँगा/पहनूँगी। संगीत-गीत आदि नहीं सुनेंगे। इस प्रकार से नियम जो लेता है वह भोगोपभोग परिमाणव्रत को पालन करने वाला होता है।

भोगोपभोग के पदार्थों की गई सीमा के अन्दर अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन दूसरी सीमा भी करनी चाहिये।[९]

भक्ष्य पदार्थों को भी अग्नि के संयोग करने के उपरान्त खाने से

आहार विज्ञान का विशिष्ट लाभपक्ष है। जिसे बिना अग्नि संसर्ग के भी खाया-पीया जा सकता है, उसे भी यदि हम प्रासुक करके काम में लावें तो वह अत्यन्त निरापद हो जायेगा। वह मेडिकल साइंस के स्ट्रलाइजेशन जैसा है। जैसे अस्पताल के कोई उपकरण स्ट्रलाइज्ड किये बिना काम में नहीं लाये जाते, उसी प्रकार श्रावक और श्रमण का आहार बिना प्रासुक किये ग्रहण योग्य नहीं होता है।

चारित्रसार में भोग के अर्थ में उपभोग और उपभोगशब्द के अर्थ में परिभोग शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु शब्दों के अर्थ पूर्ववत् ही है। यथा - **उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपयोगः,** अशनपानगन्धमाल्यादि जो अपने पास लाकर एक बार भोगा जाये, उसको उपभोग कहते हैं। भोजन पीने की चीजें, गन्ध, माला आदि सब उपयोग हैं। **सकृद् भुक्त्वा पुनरपि भुज्यत इति परिभोग, आच्छादनप्रावरणालंकार-शयनाशनगृहयानवाहनादि** एक बार भोग करके भी फिर पुनः पुनः उपभोग जिसको किया जाए उसको परिभोग कहते हैं ओढ़ने-बिछाने-पहिनने के कपड़े, आभूषण, शय्या, आसन, घर, रथ, पाली आदि सवारी, घोड़े, हाथी आदि सवारी के जानवर ये सब परिभोग के अन्तर्गत आते हैं। **तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्** इन दोनों का परिमाण करना उपभोगपरिभोगपरिमाण कहलाता है।

इन वस्तुओं के परिमाण से संग्रह परिग्रह की वृत्ति पर निमंत्रण होता है उससे आत्मिक शान्ति मिलती है और दूसरे लोगों को भी वस्तुयें सुलभ होती है। आत्मनियंत्रण बहुत अधिक प्रभाव डालता है जो वैज्ञानिक रूप से परिवर्तन कराने वाला है।

उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के पालन हेतु भोगों का त्याग त्रस घात प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट और अनुपसेव्य रूप से प्रतिपादित किया गया है। त्रसवध, किसी भी वस्तु के भोग-उपभोग करने के पूर्व श्रावक द्वारा यह विचार आवश्यक है कि यह भोग या उपभोग की जाने वाली वस्तु चलते फिरते त्रस प्राणियों के नाश से तो तैयार नहीं हुई है। अगर त्रस जीवों के घात से तैयार हुई है, तो उसका भोग-उपभोग तुरंत त्यागना चाहिये।

जैसे – मांस, चर्बी पशुओं को मारकर तैयार किया हुआ चमड़ा, रेशमी वस्त्र जो शहतूत के कीड़ों के वध से तैयार हुआ है, वह दवाई जो मछली या अन्य जीवों के अवयवों से तैयार हुई है। जैसे कॉडलिवर आइल हेमोग्लोविन आदि।

बहुवध – जो पदार्थ त्रस जीवों का संहार करके तो निष्पन्न नहीं हुआ किन्तु उसके बनाने में त्रस जीव पैदा हो जाते हैं अथवा जिसमें बहुत से स्थावर जीवों का घात हो ऐसे बहुवध जन्य पदार्थों का त्याग भोग और उपभोग व्रत के पालन कर्त्ता को आवश्यक है।

कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं। जिनमें फल तो अल्प है किन्तु बहुत जीवों का घात होता है जैसा कि आचार्य श्री समन्तभद्र ने कहा है –

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि श्रृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्।।[१०]

अर्थात् अल्पफल[११] और बहुत जीवों का विद्यात होने से मूली, गीला अदरक, गाजर, आलू, मक्खन, नीम के फूल और केतकी–केवड़ा के फूल तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी श्रावकों द्वारा छोड़ने योग्य हैं।

जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द या स्कन्ध हैं या जो बीज से उत्पन्न होती है अथवा जो सम्मूर्च्छन हैं, वे सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती है। यहाँ सभी सप्रतिष्ठित भूत प्रत्येक शरीरियों के त्याग का उपदेश नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से सभी शाक–फलों के त्याग का प्रसंग आ जायेगा। केवल अनंतकाय के त्याग का विशेष कथन है। अनंतकाय को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि मूली, गाजर, कच्ची हल्दी, कच्ची अदरक, आलू, प्याज, अरबी आदि में अनंत निगोदिया जीवों का वास होता है अतः वे अनंतकाय है। निगोद जीवों से युक्त पदार्थ त्याज्य इसलिये हैं क्योंकि अंगुल के असंख्यातवें भाग बराबर अवगाहना के धारक एक निगोद जीव के शरीर में सिद्धों तथा समस्त भूतकाल से अनंत गुणित जीवों का निवास है।[१२] निगोद जीव के निवासभूत मूली गाजर आदि के खाने पर अनंत जीव

खाने का दोष लगता है। वैज्ञानिक मानते हैं कि एक मूली की उत्पत्ति से ९०० पौधों की उत्पत्ति की क्षमता पृथ्वी की कम होती है। आलू आदि अनंत जीवों का पिण्ड होने से त्याज्य है।

वनस्पति विज्ञान को जानने वालों का मानना है कि कन्दमूल जाति के पौधे मूल अर्थात् जड़रूपी कन्द के रूप में अपनी भोजन सामग्री एकत्रित करते हैं और उसी पर जीवित रहते हैं किन्तु बाह्य वातावरण के कारण ये पौधे यदि नष्ट भी हो जाये तो उस जड़ रूपी कन्द से दूसरे पौधे निकल आते हैं और यह क्रम चलता रहता है। जो एक भी अनंत काय खाता है, वह अनंत जीवों को मार डालता है। इसलिये अनंतकाय वाले सर्व पदार्थों के त्यागने का उपदेश दिया गया है। जैसा कि कहा गया है कि तिल के समान छोटे से कन्दमूल में भी अनंत जीवों का निवास रहता है। जो मिथ्यादृष्टि उन कन्दमूलों को खाते हैं, वे उन सब जीवों को खा जाते हैं।[१३] इसी प्रकार जो जीव मांस भक्षण के दोषों को जानने वाले हैं, उन्हें सभी प्रकार के पत्ता वाली शाक-भाजी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये अर्थात् मैथी, पालक, धनिया पत्ती, चना की शाक, बथुआ, चौराई आदि पत्ते वाले शाक कभी भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि उस पत्ते वाले शाक में सूक्ष्म त्रस जीव अवश्य होते हैं, उनमें से कितने ही जीव तो दृष्टिगोचर होते हैं, और कितने ही दृष्टिगोचर नहीं होते हैं परंतु वे जीव किसी समय में भी उस पत्ते वाले शाक का आश्रय थोड़ा-सा भी नहीं छोड़ते इसलिये अपने आत्मा का कल्याण चाहने वाले धर्मात्मा जीवों को पत्ते वाले सब शाक तथा पान तक छोड़ देना चाहिये।[१४]

अनंतकाय पदार्थों का त्याग शरीर पर जबरजस्त वैज्ञानिक प्रभाव डालता है। व्यक्ति नाना प्रकार के रोगों से बचा रहता है। देखने में आता है कि पत्ता गोभी और पत्ते वाले शाक में विषैले जीव पाये जाते हैं। जिनका कदाचित् भक्षण कर लिया जाता है तो असाध्य रोग हो जाते हैं और कभी-कभी मानस में ऐसा विकार उत्पन्न होता है कि मनुष्य विक्षिप्त भी हो जाता है अत: मानव शरीर पर कुप्रभाव डालने वाली वनस्पतियों के खाने से बचना ही चाहिये।

अभक्ष्य पदार्थों में चलित रस पदार्थ भी आते हैं। जिनका स्वाद विगड़ गया हो वे पदार्थ भी त्यागना आवश्यक है। जिह्वा इन्द्रिय संबंधी अल्प सुख के लिये त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से बचना ही श्रेयस्कर है। दूध-दही को मथकर निकाला हुआ नवनीत होता है इसमें अन्तर्मुहूत में असंख्य जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। जैसा कि आचार्यश्री अमृतचन्द्रजी भी पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में कहते हैं -

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूत जीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धयभिधीयते किंचित्।।६३।।

अर्थात् अनेक जीवों का उत्पत्ति स्थान रूप नवनीत त्याग करने योग्य है अथवा आहार की शुद्धि में जो कुछ वस्तु विरुद्ध कही गई वह भी त्याग करने योग्य है।

प्रमाद - जिस वस्तु के सेवन से प्रमाद बढ़ता है, शरीर में स्फूर्ति और कार्यक्षमता के बदले आलस्य, निद्रा, सुस्ती कार्य करने की अक्षमता, आसक्ति एवं कार्य करने से जी चुराने की वृत्ति बढ़ती हो उसे भी श्रावक भोग-उपभोग के योग्य नहीं समझता है। गरिष्ठ एवं तामसी भोजन तीखा-तमस खाने वाला आहार कामोत्तेजक एवं आलस्य वर्द्धक होते हैं अतः श्रावकों को इन से दूर रहना चाहिये। शयन आसन अत्यन्त लचीले मोटे गुदुगुदे विकारवर्द्धक होते हैं। अतः मोटे गद्दे आदि पर सोने से बचना चाहिये।

अनिष्ट - जो वस्तु अपने शरीर या जीव के लिये हानिकर है, वह अनिष्ट है जैसे विषभक्षण शरीर के लिये अनिष्ट है।[१५] जिन पदार्थों के सेवन से स्वास्थ्य बिगड़ता हो, जो अपने स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो। वे पदार्थ भी अनिष्ट होने से भोग और उपभोग के योग्य नहीं होते हैं। अधपकी या अधिकपकी वस्तुयें भी भोग करने योग नहीं मानी गई हैं। जो क्रीम साबुन आदि त्वचा की खराब करने वाली वस्तुयें हैं वे भी त्याज्य हैं। इन्द्रियजन्य भोग अनिष्ट कारक ही हैं यो गहराई से सोचा जाये तो भोगों से जो सुख मिलता है, वह विद्युत् की तरह चंचल और क्षणिक है, जबकि त्याग का सुख सूर्य क प्रकाश के समान स्थिर होता है। कई

पदार्थों का उपभोग तो मनुष्य को प्राप्त हो, वहाँ तक रमणीय एवं आकर्षण लगता है, प्राप्त हो जाने के बाद उसे उसमें ग्लानि एवं अरुचि होने लगती है। उदाहरण के तौर पर स्पर्शनेन्द्रिय का कामजन्य सुख ले लीजिये। खुजली को खुजलाने की तरह कामजन्य भोग प्रारंभ में बड़े सुखकर प्रतीत होते हैं लेकिन उसका परिणाम दु:खकर आता है, कामभोगों से मनुष्य की अरुचि होने लगती है।

भोग क्षणमात्र ही सुखकारक हैं किन्तु बाद में बहुत कालतक दु:खदायी है। ऐसा समझकर क्षणिक सुखदायी भोगों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। जो मनुष्य विलासी होता है, वह दु:ख का शिकार बनता है। योग वृत्ति जब प्रबल होती है, तब सद्गुणों का नाश हो जाता है। भोग जब जीवन में अपना आसन जानता है तब सद्गुणों की कब खोदने लगती है। जैसे फूलों को तोड़ लेने पर सुंदरता क्षण भर में समाप्त हो जाती है उसी प्रकार विषयोपभोग अप्राप्त दशा में अच्छे लगते हैं किन्तु प्राप्त होने पर अत्यधिक अनिष्ट कर होते हैं अत: जिनेन्द्र भगवान ने इन अनिष्टकारी भोगों से निवृत्ति का उपाय बताया है[१६] और संयमधारण कर सुख पूर्वक जीने का संदेश दिया है। भोग भोगने वाला स्वयं ही भोग लिया जाता है।[१७] अत: भोग यहा अनिष्टकारी होने से त्याज्य हैं।

अनुपसेव्य – जिन वस्तुओं का सेवन शिष्ट सम्मत नहीं है, घृणित है, वह अनुपसेव्य हैं। गोमूत्र ऊटनी का दूध, शंखचूर्ण, पान का उगाल, लार, स्वमूत्र, पुरीष, कफ आदि वस्तुयें अनुपसेव्य हैं। अनुपसेव्य पदार्थों का सर्वथा त्याग आवश्यक है। भोग और उपयोग में जो अभक्ष्य अथवा अनुपसेव्य पदार्थ है, उनका तो जीवन पर्यन्त के लिये त्याग होता है और जो भक्ष्य तथा उपसेव्य हैं, उनका जीवन पर्यन्त के लिये अथवा कुछ काल के लिये परिगणन किया जाता है।

वनस्पति विज्ञान का मानना है कि उदुम्बर फल और जो फूल जैसे होते हैं उनमें मादा-कीट ऊपरी छिद्र द्वारा अंदर प्रवेश करती हैं, वहाँ उन्हें अण्डे, देने का सुरक्षित स्थान मिल जाता है। वे असंख्यात जीव पैदा हो जाते हैं और सम्मूर्च्छन भी।

जैनाचार्यों ने भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थों पर जैन आहार विज्ञान को समझकर विचार किया है। रसोई में उन पदार्थों के सेवन का निषेध किया है जिनसे विशेष हिंसा होती है प्रमुख रूप से २२ अभक्ष्य पदार्थों को बताया है –

ओला, घोखड़ा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैंगन सन्धान।
बड़ पीपर, ऊमर कठूमर पाकर फल जो होय अजान।।
कन्दमूल माटी विष आमिष मधु माखन, अरु मदिरापान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस ये अभक्ष्य वाईस बखान।।

ये २२ अभक्ष्य त्रसघात, बहुघात, प्रमाद, अनिष्ट, अनुपसेव्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनमें जो अजान फल का भक्षण रोका गया वह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जिसके गुण धर्म नहीं जानते उनके खाने से कोई व्याधि हो सकती है इसलिये श्रावकधर्म प्रदीप में कहा भी है –

सावद्येषां फलानां तु गुणधर्मो न ज्ञायते।
न तावद्भक्षणं तेषां कार्यं तत्त्वार्थवेदिभिः।।

अर्थात् जिस फूल का भक्ष्य-अभक्ष्य का निर्णय नहीं किया जा सकता है वह कभी भक्ष्य नहीं होता है, तत्त्वार्थ के जानकारों द्वारा वह नहीं खाया जाता है।

सभी प्रकार के पदार्थों के विषय में यह नियम है कि जिसके विषय में जानकारी न हो, उसे नहीं खाना चाहिये।

भक्ष्य पदार्थों को मर्यादा के भीतर ही खाना चाहिये। मर्यादा समाप्त होने पर या स्वाद बिगड़ने पर भक्ष्य पदार्थ भी अभक्ष्य हो जाता है। भोगोपभोगपरिमाणव्रत का फल यह है कि जो परिमाण किये गये भोगों से सन्तुष्ट होता हुआ बहुत से भोगों को छोड़ देता है, उसके बहुत ही हिंसा के छूटने से विशेष अहिंसा हाती है।[१७] इसी के साथ अन्य व्रत भी पलते हैं। आत्मशक्ति का सच्चा विकास पदार्थों के उपभोग में नहीं त्याग में है। त्याग की शक्ति जितनी बढ़ेगी, उतना ही पदार्थों की पराधीनता से छुटकारा मिलेगा इसलिये भोग और उपभोग करते हुये जो दोष लगते हैं, उनको दूर करने के लिये अतिचारों पर विचार किया जा रहा है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं। भक्ष्य पदार्थों के सेवन में असवाधानी करने से दोष लग जाते हैं, वही अतिचार संज्ञा से अभिहित हैं। पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धीहार, सचित्तसम्मिश्राहार, अभिषवाहार, दु:पक्वाहार।[१८]

सचित्ताहार – जिसमें चेतना हो ऐसे हरिकाय वनस्पति आदि द्रव्यों को सचित्त कहते हैं। ऐसे सचित्त पदार्थों का ग्रहण करना सचित्ताहार है।

सचित्तसम्मिश्राहार – जिस भोजन में सचित्त द्रव्य मिल गया हो, उसे सचित्तसम्मिश्राहार कहते हैं।

सचित्तसम्बन्धाहार – जिस भोजन का सचित्त द्रव्य के साथ सम्बन्ध व संसर्ग हो गया हो उसे सचित्त सम्बन्धाहार कहते हैं।

सचित्त संबंध और सम्मिश्रव इन दोनों में यह भेद है कि जिसके साथ केवल सचित्त का संबंध हुआ हो, वह तो सचित्त संबंध है और जिसमें सूक्ष्म जीव ऐसे मिल गये हो कि जिन्हें कभी अलग नहीं कर सकते ऐसे भोजन को सचित्त सम्मिश्र कहते हैं।

अभिषवाहार – जो सौ वीर आदि पतले व पौष्टिक पेय होते हैं वे अभिषवाहार हैं।

दु:पक्वाहार – जो पककर भी चावल जैसे बने रहते हैं अथवा अधिक पककर गल जाते हैं। जिस भोजन का पाक ठीक न हुआ हो, वह दु:पक्वाहार है।

उक्त प्रकार के भाजन में दोष इसलिये है कि इस प्रकार के भोजन करने से अपना उपयोग सचित्त रूप होता है। इन्द्रियों का मद बढ़ता है वायु आदि दोषों का प्रकोप होता है, उनके प्रतिकार करने में पाप का लेप होता है इसलिये व्रती इस प्रकार का भोजन नहीं करते हैं।

आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने प्रकारान्तर से अतिचारों पर विचार किया है कि विषयरूपी विष ये उपेक्ष्य नहीं होना अर्थात् उसमें आद रखना, भोगे हुये विषयों का बार–बार स्मरण करना, आगमी विषयों की अधिक तृष्णा रखना और वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना ये पाँच अतिचार भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रत के हैं।[१९]

इस भोगोपभोगपरिमाणव्रत का आत्मा पर विशेष प्रभाव पड़ता है इन्द्रियों का नियन्त्रण इस व्रत के माध्यम से होता है। इसकी वैज्ञानिकता है कि आहार शुद्ध सात्त्विक एवं न्याय प्राप्त हो तो सत्त्वशुद्धि या अन्तःकरण शुद्धि होती है। अन्तःकरण निर्मल होने पर स्मृति लाभ होता है। आत्मस्मरण सदा होने लगता है। उससे हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती है अर्थात् अज्ञान की गाँठे नष्ट हो जाती है। यह व्रत जबरजस्त वैज्ञानिक प्रभाव डालता है। इससे आत्ममुखी होने में सहायता मिलती है।

सन्दर्भ-सूची -

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा/५०

२. भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यो।। पु.सि./१६१

३. जाणित्ता संपत्ती भोयणतंबोलवत्थमादीणं।
जं परिमाणं कीरदिभोउवभोयंवयं तस्स।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा/४९

४. यशस्तिलकचम्पू/७२८

५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/८१

६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/८३

७. अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमवेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशापभोग्यतया।। पु.सि./१६४

८. जो व्रत जीवन पर्यन्त के धारण किये जाते हैं वह यम है।

९. जो व्रत काल के परिमाण के लिये धारण किये जाते हैं वे नियम हैं।

१०. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/८८

११. पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य, तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमान्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्यम्।। पु.सि./१६५

१२. त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार/८४

१३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार/८५

१४. केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्ब-कुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति

तत्परिहारः श्रेयात्।

१५. एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण।। गोम्मटसार जीवकाण्ड

१६. तिलमात्रसमे कन्दे चानन्तजीवसंस्थितिः।
तस्य भक्षणतो युक्ताः सर्वे जीवा कुदृष्टिभिः।। धर्मप्रश्नोत्तर१७/९८

१७. शाक पत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन।
श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः।। लाटीसंहिता प्रथमसर्ग/३५
तत्रावश्यं त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः।
न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक्।। लाटीसंहिता प्रथमसर्ग/३६
तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता।
आतम्बूलं दलं त्याज्यं श्रावकैः दर्शनान्वितैः।। लाटीसंहिता प्रथमसर्ग/३७

१८. जिनके सेवन से वात-पित्त-कफ आदि विकार पैदा होते हैं वे पदार्थ अनिष्टकर होने से त्याज्य हैं।
यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्। र.क.श्रा./८६

१९. बालाभिरामेषु दुहावहेषु न तं सुहं कामगुणे सराया।
विरत्तकामाण तं बोधणाणं जं भिक्खुणं सीलगुणे दयाणं।। उत्तराध्ययन सूत्र/१३

२०. भोगा न मुक्ता वयमेव मुक्ताः।

२१. इति यः परिमितभोगैः सनतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसा विरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा स्यात्।। पु.सि.१६६

२२. चारित्रसार पृष्ठ२४

२३. विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतित्षाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाणाव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते।। र.क.श्रा.७७

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन
अध्यक्ष - अ. भा. दि. जैन शास्त्रि-परिषद्
बडौत उ.प्र.

पंच अणुव्रतों की वैज्ञानिकता

-डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

१. अहिंसाणुव्रत - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनका एकदेश पालना करना पञ्च अणुव्रत धारण करना है। इन सबको धारण करने की आवश्यकता सदैव से रही है और आगे भी रहेगी। इसकी आज के युग में अत्यधिक उपयोगिता है। उदाहरणार्थ अहिंसाणुव्रत को लें। आज मानव हिंसा की चरम दशा पर है, प्रतिदिन आतंकवादी निर्दोष लोगों को मार रहे हैं और स्वयं भी विस्फोटकों से मर रहे हैं। यह सब धर्म की रक्षा के नाम पर हो रहा है, जबकि इसका वास्तविक धर्म से कोई संबंध नहीं है।

बाजारों में खुले आम मांस, मछली, अण्डों की विक्री से और इनका सेवन करने से हमारा जीवन बदतर होता जा रहा है। चौराहों-चौराहों पर शराब की दुकानें खुल गई हैं। विश्व में परमाणु हथिहारों का इतना बड़ा भण्डार एकत्रित हो गया है कि पृथ्वी का २१ बार ध्वंस किया जा सकता है। देश में नए-नए बूचड़खाने खुल रहे हैं। जिस देश में घी, दूध की नदियाँ प्रवाहित होती थीं, आज उसी देश में पशुओं के खून की नदियाँ प्रवाहित हो रही है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध की गणना पाँच अतिचारों में की है। ये सब दोष पशुओं के प्रति किये गए अत्याचार से सम्बन्धित हैं। पशु बेचारे मूक प्राणी है, ये अपनी-सीमाओं के कारण अपने प्रति किये गए अत्याचारों का प्रतिकार नहीं कर सकते। अतः मनुष्य उन पर निर्दय होकर आचरण कर रहा है, इससे सह-अस्तित्व की भावना खतरे में पड़ गई है और पर्यावरण पर

प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। वनों की अन्धाधुंध कटाई होने के कारण वर्षा प्रभावित हुई है। कहीं सूखा पड़ रहा है तो कहीं जलप्लावन का दृश्य उपस्थित हो रहा है। भूमि का क्षरण हो रहा है और वायुमण्डल प्रदूषित हो रहा है। इन सब दोषों से बचने के लिये हमें अहिंसा अणुव्रत अपनाना होगा। सागार धर्मामृत में गृहस्थ को युक्ताहार विहारी कहा है।[१] मधु, मांस और मद्यरहित आहार ही युक्ताहार लेने से अंतरंग शुद्धि होती है। मांसाहार हिंसायतन होने से उपलक्षण है, इसिलये समस्त हिंसायतन शून्य आहार ही युक्ताहार है।

रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है। क्योंकि वही अन्तरंग शुद्धि से सुन्दर है। अहिंसादि पाँच व्रतों का पालन करने के लिये रात्रिभोजन का त्याग छठा व्रत है।[२] दीपक और बिजली का प्रकाश में पदार्थ अच्छी तरह दिखाई नहीं देते, अपितु उस समय सम्मूर्च्छन जीव अधिक मात्रा में पैदा हो जाते हैं। सूर्य का प्रकाश पाचन शक्ति दाता है। निर्बल पाचन शक्ति वाले मध्याह्न में ही भेजन करते हैं। रात के समय हृदय और नाभिकमल संकुचित होने से खाया हुआ पदार्थ ठीक तरह से नहीं पच पाता है। भोजन करके सो जाने से पाचनशक्ति घट जाती है। सूर्य के प्रकाश में आकाश में सूक्ष्म कीटाणु स्वतः नष्ट हो जाते हैं, उनका प्रसार रात को होता है, तथा बढ़ता है। तेज से तेज प्रकाश में वे दिखाई नहीं देते हैं, भोजन में गिर जाते हैं। इससे हिंसा का दोष तो लगता ही है, अनेक असाध्य रोग भी हो जाते हैं। सूर्य के प्रकाश में इन्फ्रा रेड अल्ट्रावायलेट किरणें होती हैं। अल्ट्रावायलेट किरणों में एक्स-रे की तरह पुद्गल के भीतर घुसकर कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति होती है, उनके कारण ही दिन में कीटाणु नहीं निकलते हैं। इस प्रकार विज्ञान से भी सिद्ध है कि दिवा भोजन स्वास्थ्यवर्द्धक है।

वैज्ञानिकों ने यह देखा है कि मनुष्य के आमाशय में पाचक तत्त्व सोने के बाद नहीं बनते हैं। नींद आ जाने के बाद आमाशय की पाचन क्रिया पूर्णतया बंद हो जाती है। आँतों की कार्य करने की क्षमता भी कम हो जाती है। लीवर और अमाशय में बने हुये पाचक तत्त्व नींद

में कम हो जाते हैं, क्योंकि आमाशय में भोजन पाचन की क्रिया सात्त्विक भोजन के लिये लगभग चार घण्टे होती है। गरिष्ठ भोजन के लिये वह लगभग ६ से ९ घण्टे तक होती है।[३] अतः यह आवश्यक हो जाता है कि सोने से चार घण्टे पूर्व ही भोजन कर लिया जाये। आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी कहते हैं –

रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसा विरतेस्तस्माद् त्यक्तत्या रात्रिभुक्तिरिप।। पु.सि.१२९

रात्रि को भोजन करने वाले के अनिवार्य रूप से हिंसा होती है, अतः हिंसा छोड़ने वाले को रात्रिभोजन भी छोड़ देना चाहिये।

भोज्य पदार्थों में कीड़े, मकोड़े आदि गिर जाने के कारण वे विषाक्त हो जाते हैं। भोजन विषाक्त हो जाने के कारण बहुत से व्यक्तियों की मृत्यु तक हो जाती है। अधिकांश भोजन विषाक्तता के मरीज रात्रिभोजन के बाद ही आते हैं।[४]

मधु प्रत्यक्ष रूप से मधुमक्खियों का वमन है। उसमें असंख्यात सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। छत्ता तोड़ते समय भी बहुत-सी मधुमक्खियाँ मर जाती है, अतः मधु का त्याग श्रेयस्कर है।

जिसके पीने से सम्पूर्ण रस में उत्पन्न होने वाले जीवों का समूह शीघ्र ही मर जाता है तथा निन्दा व पाप के साथ काम, क्रोध, भय, भ्रम आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, उस मद्य का त्याग करने वाला आपत्ति को प्राप्त नहीं होता है। मद्यदायी दुराचार करता हुआ दुर्गति में डूबता है।[४]

मद्यपान से प्रतिवर्ष हजारों लोगों की मौत हो जाती है, लाखों घर बरबाद हो जाते हैं। मनुष्य के शरीर को मद्य खोखला बना देता है। अतः मद्य अवश्य ही त्याज्य है।

आचार्य कुंदकुंद ने मांस के दोषों के विषय में कहा है –

पक्केसु अ आमेसु अ विसच्चमाणासु मांसपेसीसु।
संतत्ति य ुक्कादो तज्जादीणं णिगोदाणि।।
जो पक्कमपक्कं वा पेसी खाददि पासदि वा।

सो किल णिहणदिपिउं जीवाणमणेगकोडीणं।।

प्रवचनसार-२२९(१-२)

पके हुये, कच्चे तथा पकते हुये मांस के खण्डों में उस मांस की जाति वाले निगोद अर्थात् लब्ध्यपर्याप्तक जीवों का निरन्तर जन्म होता है। जो कोई पक्की या कच्ची मांस की कली को खाता है, अथवा स्पर्श करता है, वह अनेक रोड़ जीवों का निश्चित रूप से घात करता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से मांसाहार ठीक नहीं है, क्योंकि मांसाहार में अनेक दोष हैं। मांसाहार कैंसर आदि असाध्य रोगों को जन्म दकर आयु क्षीण कता है और शाकाहार अधिक पौष्टिकता तथा रोगों से लड़ने की क्षमता प्रदान कर आरोग्य व दीर्घायु प्रदान करता है। पशुओं को मारने से पूर्ण उनके शरीर के रोगों की जाँच नहीं की जाती और उनके शरीर में पल रहे रोग मांस खाने करने के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

जिस त्रास व दु:खपूर्ण वातावरण में पशुओं की हत्या की जाती है, उस वातावरण से उत्पन्न तनाव, भय, छटपटाहट, क्रोध आदि पशुओं के मांस को जहरीला बना देता है।

प्रकृति ने मनुष्य शरीर की रचना शाकाहारी जीवों जैसी बनाई है। जैसे मांसाहारी प्राणियों की जीभ खुरदी होती है, ये जीभ बाहर निकालकर उससे पानी पीते हैं। शाकाहारियों की जीभ चिकनी होती है, वे पानी पीने के लिये जीभ बाहर नहीं निकालते। मांसाहारी जीवों की लम्बाई कम, करीब-करीब उनके शरीर की लम्बाई के बराबर और धड़ की लम्बाई से छ: गुनी होती है। आँत छोटी होने के कारण वे मांस के सड़ने और विषाक्त होने से पहले ही उसे शरीर से बाहर फेंक देती हैं। शाकाहारी जीवों की आँतों की लम्बाई अधिक करीब-करीब इनके शरीर की लम्बाई से चार गुनी व धड़ की लम्बाई १२ गुनी होती है। इस कारण वे मांस को शीघ्र बाहर नहीं फेंक पाती।

शाकाहार अधिक पौष्टिक व गुणकारी है। शाकाहारी पदार्थों में प्रोटीन व अन्य स्वास्थ्यवर्द्धक तत्त्वों की कमी नहीं है।[५]

आर्थिक दृष्टि से शाकाहार ही श्रेष्ठ है। मांस द्वारा एक किलोग्राम

प्रोटीन प्राप्त करने के लिये पशु को ७ से ८ किलोग्राम तक प्रोटीन खिलाना पड़ता है। एक पशु मांस कैलोरी प्राप्त करने के लिये सात वनस्पति कैलोरी खर्च होती है। जितनी भूमि एक औसत पशु को चराने के लिये चाहिये, उतने से औसत दर्ज के पाँच परिवारों का काम चल सकता है। एक औसत अमेरिकी करीब १२० किलो मांस प्रतिवर्ष खाता है। इसे प्राप्त करने के लिये एक टन अनाज खर्च होता है। यदि वह सीधा १२० किलो अनाज खाए तो वर्ष भर आठ व्यक्तियों का काम चल सकता है। मानव की उन्नति के लिये पशु सृष्टि की उपयोगिता है। एक गाय औसत १० किलो दूध प्रतिदिन के हिसाब से वर्ष में औसत १० माह तक दूध देती है तो एक वर्ष में औसत १० माह तक दूध देती है तो एक वर्ष में ३००० किलोग्राम दूध देकर करीब ३०० दूध दे तो अपनी उम्र में ९० हजार व्यक्तियों को एक बार तृप्त कर सकती है। यदि उसका मांस ग्रहण किया जाए तो उससे होने वाली तृप्ति नगण्य है।

हैल्थ एज्युकेशन काउंसिल के अनुसार विषाक्त भोजन से होने वाली ९० प्रतिशत मौतों का कारण मांसाहार है। इंलैंड के डॉ. आर.जे. विलियम का निष्कर्ष है कि संभव है अण्डा खााने वाले शुरू में अधिक चुस्ती का अनुभव करें, किन्तु बाद में उन्हें हृदय रोग, एग्जीमा, लकवा जैसे भयानक रोग हो जाते हैं। मांसाहार से व्यक्ति क्रूर और हिंसक स्वभाव का हो जाता है।

आजकल अण्डों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। कृषि विभाग फ्लोरिडा (अमेरिका) हैल्थ बुलेटिन अक्टूबर १९६७ में छपा है कि १८ माह के वैज्ञानिक परीक्षण के बाद ३० प्रतिशत अण्डों में डी.डी.टी. नामक विष पाया गया। डॉ. केथेराइन निम्मी, डी.सी.आर.एस. कैलोफोर्निया अपनी खोजों के आधार पर लिखती है कि अण्डों के सेवन से निम्मलिखित रोग शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं – १. दिल की बीमारी, २. हाई ब्लड प्रेसर, ३. गुर्दो की बीमारी, ४. पित्ताशय की पथरी।[६]

बढ़िया से बढ़िया अण्डों की जर्दी में भी कोलेस्ट्रोल की मात्रा

अत्यधिक होने के कारण उपर्युक्त रोग उत्पन्न होते हैं। फलों, सब्जियों और वनस्पति तेलों में कोलेस्ट्रोल बिल्कुल नहीं होता है। उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त धमनियों में जख्यम, एक्जिमा, लकवा, पेचिश, अम्लपित्त, और बड़ी आँत में सडाँध पैदा करते हैं, जिससे मनुष्य का हाजमा खराब हो जाता है।

पशु चिकित्सा सेवा के भारतीय निर्देशक डॉ. एस. बरहिंगम ने यह प्रमाणित किया है कि मुर्गा खाने से आदमी का पौरुष खतरे में पड़ता है। मुर्गों में बजन बढ़ाने वाले हार्मोन्स होने के कारण पुरुषों में स्त्रियोचित्त विकास संभव है। जो आदमी मुर्गों का मांस खाते हैं, उनमें स्तनवृद्धि के लक्षण प्रायः देखे जाते हैं।[७]

जैनों में जल छानकर पीने की परम्परा है। पण्डित प्रवर आशाधर जी ने मद्य, मांस, मधु, तथा रात्रिभोजन त्याग, पंच उदुम्बर फलों का त्याग, पंच परमेष्ठी की स्तुति, जीव दया और जल छानकर पीना इन्हें प्रकारान्तर से अष्ट मूलगुण कहा है।[८] मनुस्मृति में कहा है –

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिवेज्जलम्।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत्।।

अर्थात् देखकर कदम रखे, जल छानकर पिये, सत्य से पवित्र वाणी बोले और मन की पवित्रता पूर्वक आचरण करें।

स्वास्थ्य विज्ञान के अनुसार छने पानी के उपयोग से निम्नलिखित बीमारियों से छुटकारा पाया जा सकता है –

१. पेट के कीड़े –

अ) एकसेरियासिड या राउण्ड वर्म,

ब) थ्रेडवर्म,

स) हुक वर्म,

द) गिनी वर्म– नीहरु रोग या बाला।

२. प्रोटोजोअल बीमारियाँ – एकेन्द्रिय जीवों से ऊपर वाले जीव।

अ) अमोबाइसिस (संग्रहणी),

ब) जी.आर.डियासिस।

३. दस्तों की बीमारियाँ (डायरिया) –
अ) बेसीलरी डिसेण्ट्री,
ब) कोलेरा या हैजा।
४. टायफाइड एवं पेराटाइफाइड बुखार (मोतीझरा)। जिन रोगों से पाक्षिक छुटकारा मिल सकता है, उनमें प्रमुख रोग हैं –
अ)पोलियोमाइलाइट्स –पोलियो लकवा,
ब) इन्फेक्टिव हिपेटाइट्स – पीलिया रोग,
स) चमड़े की बीमारियाँ व फोड़े, फुन्सी तथा एलर्जी,
द) कजन्कवटीवाइटीस (आँख दुःखना)।
बरसात के दिनों में गन्दे पानी की सप्लाई और उसके उपयोग से पूरे भारत में ही नहीं, पूरे एशिया में डायरिया, डिसेन्ट्री व हैजा जैसी बीमारियाँ की बाढ़ आ जाती है। इस पर करोड़ों रुपये व्यय होते हैं। इन बीमारियाँ से छुटकारा छना पानी पीने से हो सकता है। जैन साधु एवं त्यागीगण उबला हुआ जल ही ग्रहण करते हैं। वे जीवन पर्यन्त संग्रहणी, दस्त, अतिसार, पेट के कृमि तथा अन्य रोगों से बचे रहते हैं।[९]

जहाँ तक सम्भव हो कुयें का पानी पीना चाहिये। कुयें के धरातल पर जो पानी आता है, वह पृथ्वी के अंदर अनेक ऐसे तत्त्वों से होकर आता है, जहाँ किसी तह में कंकड, किसी में रेत, किसी तह में चूना आदि अनेक पदार्थ पाये जाते हैं। यह क्रिया नितान्त प्राकृतिक है। नल में जो फिल्टर्ड वाटर आता है, उसकी सफाई की प्रक्रिया कृत्रिम है, जिसमें पवित्रता नहीं रह पाती इसके अतिरिक्त पाइप गन्दे स्थानों से आते हैं। इनमें चमड़े का वाशर लगा रहता है। इन सब कारणों से कुयें का जल सर्वोत्तम है, किन्तु यह आवश्यक है कि नऐ कुयें के जल का परीक्षण करा लियो जाये।

उपर्युक्त समस्त आचार अहिंसाणुव्रत में आता है, अतः इसका पालन करना चाहिये। जैनधर्म में अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन प्रापत होता है। रागादि भावों का न होना अहिंसा है और रागादि भावों की की उत्पत्ति होना हिंसा, यही जैन सिद्धानत का सार है।[१०] एक जीव थोड़ी

हिंसा करने पर भी अपने तीव्र कषाय भावों के कारण बहुत फल पाता है।[११] दूसरा जीव बहुत हिंसा करने पर भी कषायों की मन्दता के कारण थोड़ा फल पाता है। कोई जीव यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति कर रहा है, कदाचित् उसके द्वारा किसी प्राणी का विद्घात हो जाये तो राग-द्वेष आदि के अभाव के कारण उसे हिंसा का दोष नहीं लगेगा। यदि कोई जीव प्रमादपूर्वक आचरण करता है तो जीव मरे अथवा नहीं, वह हिंसा के फल का भागी अवश्य होता है।[१२]

२. सत्याणुव्रत - जो वचन दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में कारण है, वह असत्य है। सत्य इससे विपरीत होता है।[१३] आचार्यश्री जिनसेन के अनुसर जिसमें राग, द्वेष, मोह से प्रेरित होकर दूसरे के लिये पीड़ा देने वाले असत्यवचन से विरति होती है, वह सत्याणुव्रत है।[१४] जो व्यक्ति हिंसा रूप वचन, कर्कशवचन और निष्ठुरवचन नहीं बोलता है और दूसरे की गुप्त बात को प्रकाशित नहीं करता है। इसके विपरीत धर्म के प्रकाशक, सब जीवों को संतोष उत्पन्न करने वाले हित, मित वचन, वचन बोलता है, उसके सत्याणुव्रत होता है।[१५] असत्य भाषण कषाय के कारण होता है। जहाँ कषाय होती है, वहाँ हिंसा अवश्य होती है। अतः असत्यभाषण में हिंसा मानकर उसे छोड़ देना चाहिये।

३. अचौर्याणुव्रत - जो बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में न ले तथा क्रोध, मान, माया और लोभ के वशवर्ती हो दूसरे की वस्तु न ले, ऐसे दृढ़ और शुद्ध चित्त वाले व्यक्ति के अचौर्याणुव्रत होता है।[१६] जैसे संसारी जीवों के इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास आदि अंतरंग प्राण होते हैं, उसी प्रार धन, धन्यादि सम्पदा बाह्य प्राण होते हैं। उस सम्पदा का हरण करने पर प्राणों के हरण जैसा दुःख होता है, अंतः जो दूसरे के धनादिक का हरण करता है, वह उसके प्राणों का ही हरण करता है।[१७] आजकल अचौर्याणुव्रत का पालन न करने से चोरी, डकैती, धनापहरण हेतु हत्या, लूट आदि की घटनायें बढ़ती जा रही हैं। इन्हें दूर करने हतु अचौर्याणुव्रत का पालन करना श्रेयस्कर है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत - जो श्रावक स्त्री की देह को अपवित्र और दुर्गन्धमय

मानता हुआ उसके रूप, लावण्य को मोह पैदा करने वाला मानता है तथा मन, वचन और काय से अपने से बड़ी परस्त्री को माता, समान वय की परस्त्री को बहिन और छोटी अवस्था वाली को पुत्री के समान मानता है, उसके ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है।[१८] इस व्रत का दूसरा नाम स्वदारसंतोष व्रत भी है। इस व्रत को न मानने के कारण आजकल बलात्कार जैसी घटनायें बढ़ती जा रही हैं और इसके कारण जघन्य अपराध हो रहे हैं।

५. अपरिग्रहाणुव्रत – आचार्य उमास्वामी ने '**मूर्च्छा परिग्रहः**' कहकर मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। पर पदार्थों के प्रति तीव्र आसक्ति को मर्च्छा कहते हैं। मूर्च्छा या रागभाव बन्धन का कारण है। जितने अंश में रागभाव है, उतने अंश में बन्ध है? जितने अंश में सुदृष्टि या विवेदृष्टि होती है। उतने अंश में बन्ध नहीं होता है। धर्मपालन में चित्त की विशुद्धता आवश्यक है और वह परिग्रही मनुष्य के नहीं होती है।[१९] अतः अपनी इच्छा का परिमाण करना चाहिये। इच्छा पर यदि अंकुश नहीं लगाया गया तो वह महादुःख देती है।[२०] जैनधर्म की यह विशेषता है कि उसमें जैसे गाय, घोड़ा, मोती आदि बाह्य चेतन, अचेतन परिग्रह माने गये हैं, उसी प्रकार रागादि रूप अंतरंग विकारों को भी परिग्रह माना गया है।[२१] अतः श्रावक को अपनी आवश्यकता के अनुसार परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिये।

जो व्यक्ति जितना दरिद्र होता है, उतनी ही सम्पत्ति की खोज करता है। सम्पत्ति की खोज दरिद्र का लक्षण है। जो व्यक्ति बीमार होता है, वह स्वास्थ्य की खोज करेगा। स्वास्थ्य की खोज बीमार का लक्षण है। जो व्यक्ति अंधेरे में होगा, वह प्रकाश की खोज करेगा। प्रकाश की खोज अंधेरे में होने का लक्षण है।

यश की खोज होने का लक्षण है। हीनता के भाव को मनोवैज्ञानिक इन्फीरियरिटी कहते हैं। जिस व्यक्ति में जितनी हीनता का भाव होगा, उसमें बड़े पदों पर होने की उतनी ही आकांक्षा पैदा होगी। क्योंकि अपनी हीनता को भुलाने का और कोई उपाय नहीं है। सिवाय इसके कि बड़ी से बड़ी कुर्सियों पर बड़े से बड़े पदों पर बैठ जाया जाए।

लेकिन स्मरण रखें, चाहे जितना ही धन इकट्ठा हो जाय, दरिद्रता नहीं मिटती। चाहे कितने ही बड़े पदों पर पहुँच जाए हीन भाव नष्ट नहीं होते। इसलिये क्योंकि दरिद्रता भीतर है, धन बाहर है। इसलिये तो यह होता है कि एक पद मिले तो उससे बड़े पद की आकांक्षा पैदा हो जाती है। वह पद भी मिल जाये तो उससे और बड़े पद की आकाशंक्षा पैदा हो जाती है। यह ऊपर पहुँच जाने की कोशिश इसका सूबत हैं कि हमें यह बोध है कि हम बहुत हीन हैं, हमें सिद्ध करना है। इसलिये जिन लोगों में हीनता की भावना सर्वाधिक होती है, वे लोग बड़े-बड़े हैं, जिन्हे दुनियाँ बड़ा कहती हैं बड़े काम, बड़े युद्ध। हिटलर, स्टाविल, मुसोलिनी जैसे लोग बहुत हीनता के भाव से पीड़ित थे। सिंकदर, चंगेज खां, तैमूरजंग जैसे लोग बहुत हीनता के भाव से पीड़ित थे।

इन्हें तब तक चैन नहीं था, जब तक इन्होंने नहीं दिखा दिया कि लाखों लोग हमारे कब्जे में हैं। हम उनकी गर्दन जब चाह मोड़ दें। जब तक उन्हें यह विश्वास न आ गया कि हम शक्तिशाली है। तब तक वे भागते गये और यह विश्वास कभी नहीं आता, आखिर तक नहीं आता।

इसलिये सारी दुनिया पर कब्जा हो जाय। करोड़-करोड़ लोगों जीवन हमारे हाथ में हो जाये तो हीन-बुद्धि के अंदर यह भाव पैदा होता है, उसे ऐसा ख्याल आता है कि मैं भी कुछ हो गया। अब वह यह डर छोड़ सकता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। यह डर छोड़ा जा सकता है, क्योंकि इतने लोगों पर मेरा कब्जा है, लेकिन फिर भी भीतर डर बना रहता है। इसलिये जितना जो व्यक्ति शक्तिशाली होता जाता है, शक्ति इकट्ठी करता जाता है, उतनी ही निर्बलता उसको पकड़ने लगती है, उसे अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करनी होती है।

सन्दर्भ-सूची -

१. पण्डितप्रवर आशाधरजी - सागारधर्मामृत/१/११

२. तेषामेव पंचानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठव्रतम्।। भगवती आराधना/विजयोदया टीका/४२३

३. तीर्थंकर, अप्रैल १९९० का डॉ. डी.सी. जैन का लेख।
४. वही।
५. गोपीनाथ अग्रवाल – शाकाहार और मांसाहार
६. जैन दर्शन और विज्ञान पृ. ७
७. तीर्थंकर – अगस्त १९९० पृ. ४१–४२
८. मद्यपानमधुनिशासनपंचफलीविरति पंचकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।। सागारधर्मामृत२/१८
९. जैन प्रतीक (मासिक) पृ. ७ (डॉ. आई.एल.जैन का लेख)
१०. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।
अमृतचन्द्राचार्यः पुरुषार्थसिद्धि–उपाय–४४
११. वही/५३
१२. वही/४५–४६
१३. पद्मचरित/१४/१८८
१४. हरिवंशपुराण/५८/१३९
१५. हिंसावयणं ण वयदि कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि।
णिदुरवयणं पि तहा ण भासदे गुज्झवणं पि।।
हिदमिदवयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धममपयासणवयणं अणुव्वई हवदि सेा विदिओ।।
स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा/३३३–३३४
१६. वही/३३५–३३६
१७. पुरुषार्थसिद्धि–उपाय/१०३
१८. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा/३३७–३३८
१९. पद्मचरित/२/८०
२०. वही/१४/१९४
२१. हरिवंशपुराण/५८/१३३

–डॉ. रमेशचन्द्र जैन
ई–२७, रोहिणी सेक्टर–१, नई दिल्ली

पूजा की वैज्ञानिकता

-ब्र. जयकुमार जैन 'निशांत'

पूजा क्या है? शाब्दिक रूप से आराधना, अर्चना, सम्मान, साद, स्वागत, उपहार देना भेंट चढ़ाना आदि को पूजा कहते हैं।

उद्देश्य - पवित्र करना, छानना, शुद्ध करना, निथारना, फटकना, प्रायश्चित करना, परिमार्जन करना, पहचानना, विवेक करना, उपाय ढूढ़ना, आविष्कार करना आदि।[१]

दाणं पूया सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावय धम्मो।[२]

दान, पूजा, शील और उपवास ये चार प्रकार का श्रावक धर्म कहा गया है।

दाणं पूया मुक्खं सावय धम्मेण तेण विणा।[३]

दान और पूजा के बिना श्रावक धर्म का पालन नहीं किया जा सकता है।

देवपूजागुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने।।[४]

देवपूजा, गुरू की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों के छः कर्त्तव्य हैं, जिनको प्रतिदिन करना चाहिये।

इस तरह श्रावकों की दिनचर्या दान एवं पूजा से ही शुरू होती है। अर्थात् मात्र देवदर्शन से चर्या पूर्ण नहीं होती है क्योंकि देवदर्शन कर्त्तव्य उनके लिये हैं जो पूजा करने के योग्य नहीं है, सक्षम नहीं है, सूतक-पातक की अशुद्धि वाले, गंभीर रोग से ग्रसित है, अंभंग है, शारीरिक विकृति वाले हैं आदि।

पूजन करते समय निम्न सावधानियाँ एवं विचार होना चाहिये -

- मन के विचारों/परिणामों को शुद्ध करना।

- अशुभ को विवेकपूर्वक हटाना, शुभ का प्रयास करना।
- दोषों का प्रायश्चित करना, मन को प्रशस्त-पवित्र करना।
- मन-वचन-काय की प्रवृत्ति एवं इच्छाओं को संयमित करना।
- अशुभ काषायिक परिणति एवं रागद्वेष से बचने का सत्प्रयास करना।

मैं वंदो जिनदेव को करि अति निर्मल भाव।
कर्मबंध के छेदने और न कछु उपाव।।[५]

जिनेन्द्र भगवान को अति निर्मल भावपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ, क्योंकि यदि कर्मछेदने में कोई सहायक है, तो वही एक मात्र उपाय हैं।

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकैं।।[६]

सुहशुद्धपरिणामेहि कम्मक्खाभावे तक्खायाणु ववत्तीदो।[८]

शुभ और शुद्ध भावों से गुणों में तल्लीन होने से कर्मों के क्षयरूप निर्जरा होती है।

वंद तद्गुणलब्धये।।[८]

तत्त्वार्थसूत्र मंगलाचरण सांसारिक एवं लौकिक व्यामोहों को विशुद्धपरिणामों से हटाकर भगवान की आराधना उनके जैसे गुणों की प्राप्ति करना

इन्द्रादिक गणपति थके, कर विनती भगवान।
अपनो विरद निहारिकैं, कीजे आप समान।।[९]

पूजन का फल - सया णिच्चकालं अच्चंति पुज्जंति वंदंति णमस्संति अहमिव इहसंतो तत्थ संताई णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वंदामि णमस्सामि दुक्खक्खओ बोहिलाहो सुगदि गमणं समाहिमरणं जिणगुण संपत्ती होउ मज्झं।।[१०]

मैं सदा जिनेन्द्र भगवान की अर्चना करता हूँ, पूजन करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ क्योंकि दु:खों का क्षय हो, बोधि की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधि से मरण और जिनेन्द्र भगवान के गुणों की संपत्ति प्राप्त हो।

मनः प्रसत्यै वचसः प्रसत्यै कायप्रसत्यै च कषायहानिः।[११]

पूजा करने की वैज्ञानिक विधि – कब? क्यों? कहाँ? कितना? कैसे?

पूजा के अंग – अभिषेक, आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन।

अभिषेक का उद्देश्य – भगवान के शीर्ष पर मात्र जल की धारा करना या संकल्प पूर्वक मंत्र पढ़ते हुये तन–मन की प्रशस्तओं महसूस करना। प्रतिकूलता में भी स्वयं को स्थिर करते हुये अनुकूलतता के पुरुषार्थ हेतु शक्ति संचित करना।

पावन मेरे नयन भये तुम दरशतैं,
पावन पानि भये तुम चरणनि परसतैं
पावन रसना मानी तुम गुणगानतैं
पावन भयी पर्याय मेरी मैं भयो पूरनधनी।
मैं शक्तिपूर्वक भक्ति कीनी पूर्ण भक्ति नहीं बनी।।

आकर्षण – बीजाक्षर संवौषट् स्वयं को भगवान के गुणों में आकर्षित करना उनका स्मरण करना।

आह्वान – किसका–कैसे एवं कहाँ?

मित्र का जिक्र आते ही चित्त में उसका चित्र उभर आता है और पूरा ध्यान उस पर एकाग्र हो जाता है फिर तीर्थंकर भगवंत का स्मरण क्यों नहीं है?

हम लौकिक वस्तुओं और परिवेश से इतनी अंतरंगता से जुडे हैं, कि साक्षात् आचार्य/मुनिराज या मंदिर में बैठकर भी हमारा ध्यान हटकर उनकी और पहुँच जाता है क्यों?

स्थंभन – बीजाक्षर ठः ठः।

स्वयं को मन–वचन–काय से भगवान के गुणों एवं स्वरूप में स्थिर करके अपने भीतर की ओर लौटने का संकल्प अर्थात् अपने मन–वचन–काय को बाहर नहीं भटकने देने का संकल्प।

सन्निधिकरण – वशीकरण – बीजाक्षर वषट्।

अपनी आत्मशक्ति, संकल्पशक्ति, मन–वचन–काय की शक्ति को तीर्थंकर भगवान के गुणों में पूर्ण निमग्न करना संसार के व्यामोह से

हटकर स्वयं को भगवान के प्रति पूर्व समर्पित करना की संसार के है या नहीं न जाये।

पूजन – अष्ट द्रव्य का अवलंबन लेकर अपने विकारों परदृष्टिपात करके उनको जीवन से अलग करने के सत्प्रयास की शक्ति उद्घाटित करना। प्रभु का अवलम्बन लीकर विवेक पूर्वक काषायिक परिणामों सांसारिक आसक्ति एवं शरीर के प्रति आकर्षण को क्षीण करने का पुरुषार्थ इसके लिये शरीर शुद्धि, वस्त्रशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि के साथ मनन–वचन–काय की एकाग्रता अनिवार्य है। तथा निर्जरा –

वाष्पाकासातुरश्वास श्लेष्मालसविजृम्भौ
अशुद्धदेहवस्त्राभ्यां जिनार्चादूषणं भवेत्।।[१२]

वाष्प, काम से आतुर (पीड़ित), श्वास श्लेष्मा करते हुये, आलस, जम्भाई, अशुद्ध देह और वस्त्र से जिनपूजा दूषण है।

जल – जल अमृत है, जीवन है, जीवन का आधार है, मंत्र एवं भावना को सहज स्वीकार करता है, मल का निष्कासनकरता है, जल पर कई प्रकार के मंत्रों के प्रयोग दृष्टतव्य हैं।

मुनि मन सम उज्जल नीर प्रासुक गंध भरा।

१. अभिषेक एवं शांतिधारा की विधि में मंत्रोच्चारणपूर्वक जलधारा से वह जल प्रतिमा/यंत्र में आरोपित मंत्र मंत्र शक्ति तथा धारा, करने वाले के मंत्रोच्चारण एवं भावना से मंत्रित होकर कुष्ट एवं कैंसर जैसे असाध्य रोगों का प्रतिकार करता है।

२. आर्यिकारत्न दृढ़मति माताजी को सन् २००८ में बंडा (सागर) के चातुर्मास में हाथों में जल से एलर्जी हो गई थी, उन्होंने अष्ट प्रातिहार्य वाली पिंडाक्षरों की शांतिधारा के गंधोदक से इस रोग का शमन किया।

३. आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के संघस्थ ऐलक निःशंकसागरजी महाराज (समाधिस्थ) की हृदय की तीनों आर्टरीज पूर्णतः ब्लॉक थी। डॉ. ने उन्हें पूर्ण विश्राम का निर्देश दिया परन्तु वह अष्ट प्रातिहार्य की पिण्डाक्षरों वाली शांतिधारा एवं उनके मंत्र जाप की शक्ति से ८–१० कि.मी. की विहार करके वर्षों धर्म प्रभावना करते रहे।

४. णमोकार की आराधना एवं दृढ़ संकल्प शक्ति से श्री गुलाबचन्द्रजी गुजरात ने गले के कैंसर को ठीक कर के वर्तमान चिकित्सा पद्धति एवं डॉक्टरों को चकित यिका था। उनकी चिकित्सा राजीव गाँधी हास्पीटल में चल रही थी। डॉक्टरों ने मना कर दिया था तब उन्होंने यह प्रयोग किया था।

५. उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना।
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः।
त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः।
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः।।[१३]

भक्तामर के विभिन्न काव्यों पर वैज्ञानिक शोध द्वारा सिद्ध हो चुका है कि मन–वचन–काय की एकाग्रता से भक्तामर के पाठ करने तथा उउसके अभिमंत्रित जल के द्वारा ट्यूमर एवं कैसंर जैसे रोगों का शमन किया जा रहा है।

भक्तिः सुन्दर रूपं।[१४]

भक्ति से विशेष ऊर्जा की प्राप्ति होती है जिससे काया सुन्दरता को प्रापत होती है।

जल पर अनेक प्रकार के वैज्ञानिक शोध किये गये जिनके कई विस्मयकारी परिणाम देखने में आये हैं।

१. डॉ. मासारु इमोटो का वाटर सक्सपेरीमेंट – जल भी सोचता है।[१५]

अलग–अलग बोतलों मं जल भरकर उन पर शुभभावना वाले तथा अशुभ भावना वलो लेविल लगाकर रखा गया फिर उनका क्रिस्टीलाइजेशन किया, जिस पर शुभभावना लिखी गयी थी उसके सुंदर पुष्प जैसे क्रिस्टल बने, जिस पर अशुभभावना लिखी गयी थी, उसके टूटे–टूटे क्रिस्टल बने।

इसे इन्टरनेट पर देख सकते हैं।

२. णमोकार से मंत्रित जल वाले गमले में पेड़ की वृद्धि शीघ्र हुई, पुष्प भी शीघ्र आये। सामान्य में समयानुसार तथा जिसे अशुभ चिंतन वाले जल से सिंचित किया गया था उसकी वृद्धि अत्यंत क्षीण रही।[१६]

आधुनिक विज्ञान भी आज प्रार्थना, आराधना एवं मंत्र ऊर्जा को स्वीकारने पर बाह्य हो गया है। आवश्यकता है निष्ठा एवं सपर्मण पूर्वक अनुष्ठान करने की। विज्ञान के अनुसार ऊर्जा परिर्तित होती है नष्ट नहीं होती। पूरा ब्रह्मांड अनंत ऊर्जा से भरा है, जिसे हमारा शरीर निरंतर ग्रहण करता है। जिस प्रकार ट्रांजिस्टर निश्चित किलोहार्टज पर अलग-अलग स्टेशनों की उस ऊर्जा ग्रहण कर उस कार्यक्रम को प्रसारित करता है। उसी प्रकार टेलीविजन अलग-अलग चैनल पर सम्पूर्ण विश्व के कार्यक्रम वहाँ की ऊर्जा को ग्रहण कर दृश्य-श्रव्य रूप में दिखाता है। उसी प्रकार हमारा शरीर हमारी श्रद्धा, मानसिक विशुद्धि के साथ ध्यान केन्द्रित कर, विदेह क्षेत्र में विराजित साक्षात् तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि ग्रहण कर सकता है।

प्रत्येक प्राणी के शरीर से विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा का विकिरण आभामण्डल के द्वारा होता रहता है। आभामण्डल की ऊर्जा लेश्या पर आधारित होती है यही कारण है कि संतों के सान्निध्य में विशेष शांति एवं ऊर्जा मिलती है, गुरु सान्निध्य में कठिन से कठिन व्रतोपवास सहज ही सम्पन्न हो जाते हैं। तीर्थक्षेत्रों की ऊर्जा से कई किलोमीटर की यात्रा भी साहोत्साह सम्पन्न हो जाती है, जिसके साक्षी हम सभी हैं।

तीर्थंकर भगवान के समवशरण की पुण्य ऊर्जा इतनी सशक्त होती है कि जाति विरोधी जीव भी वैरभाव छोड़कर मैत्री भाव से विराजते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व के साथ-साथ तीर्थंकर प्रकृति का भी आस्रव बंध कर लेते हैं।

हमारे जिनालय भी शुभ ऊर्जा या पुण्य वर्गणाओं के अक्षय भण्डार हैं, जिस प्रकार घंटा बजाने से निरंतर ऊर्जा निकलती है, उसी प्रकार मंत्रोच्चार से स्तुति, प्रार्थना, आरती, पूजा, सामायिक, ध्यान, जाप से भी निरंतर ऊर्जा विकसित होती है। मंदिर में जब भक्त श्रद्धा, समर्पण एवं आह्लादपूर्वक प्रवेश करता है तो वह मंदिर की पुण्य वर्गणाओं से सराबोर हो जाता है पूरा शरीर उस ऊर्जा को भावनानुसार ग्रहण करता है जो उसे पापाचारण, हिंसा, आतंक, भय से मुक्त कर सदाचरण व्रतोपवस

की शक्ति प्रदान करती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो सात्त्विक भोजन करने वाले श्रावकों के शरीर में पाचन के पश्चात् ऐसे रस बनते हैं, जो शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाते हैं, तथा तामसिक भोजन करने से श्रावक के शरीर में उत्तेजना बढ़ाने वाले रसों का स्राव होता है। जिससे हमारी मानसिक चिंतनधारा एवं परिणामों पर प्रभाव पड़ता है।

अंत:स्रावि ग्रन्थियों से स्राव (रस) जीव के परिणामानुसार निकलता है यथा शोक के समय सीरोटिन निकलता हैं जो शारीरिक शक्ति को क्षीण करता है। हर्ष एवं उल्लास के समय एंडार्फिन निकलता है। हमारी शारीरिक क्षमता निरोगता, संवदेना, प्रसन्नता उत्साह आध्यात्मिक शांति एवं शक्ति को बढ़ाता है। क्रोधावेश के समय नार रङ्गिनिलिन निकलता है जो शारीरिक तनाव, मानसिक विकृति, अशांति, भय, पीड़ा, मांसपेशियाँ में उत्तेजना, आँखें लाल होना आदि को बढ़ाता है। भक्ति श्रद्धा समर्पण के समय एड्रीनिलिन निकलता है जो हमारे परिणामों को शांत करके आत्मसाधना या ध्यान को विशुद्ध करके ऊर्ध्वारोहण में सहयोगी बनता है।

विज्ञान ने आत्मा को जर्मन वैज्ञानिक प्रो. मेक्स प्लांक की क्जांटम थ्योरी के आधार पर स्वीकार किया है। इस थ्योरी के अनुसार मानसिक अनुभूति, इच्छाशक्ति, स्मृति आदि अभौतिक अनुभूतियाँ अभी उसकी पकड़ से बाहर है। रूसी वैज्ञानिक सेमयोन किर्लियान एवं श्रीमती बेलन्टीना किर्लियान के प्रयोग से विद्युत् कामोत्तेजना के समय प्रोस्टोजिन निकलता है जो हमारे क्निारो को विकृत करता है जिसके परिणाम आज हम समाचार-पत्रों में निरंतर पढ़ते हैं।

चुम्बकीय ऊर्जा (आभामण्डल) को प्राणियों एवं पेड़-पौधों में सिद्ध किया तथा १९६८ में रूसी वैज्ञानिक बी ह्यूसिन तथ वी ग्रिसचैकों ने सूक्ष्म शरीर (आभामण्डल) के अतिरिक्त एक और ऊर्जा शरीर 'बायोलॉजीकल प्जाजमा वॉडी' के रूप में सिद्ध किया है। इस ऊर्जा शरीर को विख्यात मनोवैज्ञानिक श्रीमतीरलीन गैरेट एडलमैन सिगमण्ड

फ्रायड ने पदार्थ हीन (अरुपी शक्ति) सत्ता आत्मा या चेतन तत्त्व माना है जो शरीर को संचालित करता है।[१७]

जैन दर्शन के सात तत्त्व एवं नौ पदार्थ जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप के लेश्या के अनुसार प्रभाव की ओर दृष्टिकोण सकरात्मक हो रहा है, खोज आरंभ हो गयी है। जिस तरह मोबाइल की माइक्रो सिम या एस.डी.कार्ड में हम इच्छानुसार मैटर केा डिलीट या जोड़ सकते हैं। जिस प्रकार सिम अलग-अलग मोबाइल में खुजती है, पर उसमें जो भी एड किया जात ाहै वही खुलता है। उसी प्रकार आत्मा तैजस एवं कार्माण शरीर की सिम किये गये आयुबंध से मिले शरीर (मोबाइल) में खुलने लगती है।

जिस प्रकार मोबाइल के माध्यम से हम अपने विदेशी मित्रों से सेकण्ड मात्र में सम्पर्क कर लेते हैं अर्थात् इस मोबाइल का विदेश स्थित मोबाइल से ऊर्जात्मक सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी से भी भावनात्मक संबंध होता है जिससे वह आत्मिक शक्ति एवं संबल प्राप्त कर सकता है।

उत्तल लैंस सूर्य की ऊर्जा को एक स्थापर केन्द्रित करके कागज आदि पदार्थों को जला देता है, उसी प्रकार शुभ भावों से सामायिक, ध्यान, पूजा आदि से प्राप्त ध्यान ऊर्जा को जब मानसिक लैंस के माध्यम से आत्मा पर केन्द्रित किया जाता है तो वह आत्मप्रदेशों से संलग्न कार्माण वर्गणाओं को निर्जरित कर देता है, जैसे-जैसे यह क्षय को प्राप्त होती है वैसे-वैसे आत्मशांति, आत्मबल, ज्ञान बढ़ने लगता है। धवला ग्रन्थ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने इसे विशेष रूप से निरुपित किया है।

जिणबिम्ब-दंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्य वि मिच्छात्तादि
कम्मकलावस्स सयदंसणादो।[१८]

ध्यान की अपूर्व स्थिति में परिणमों की विशुद्धि उसके कर्मक्षय में सहयोगी बनती है। वह अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषाय के साथ मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व का क्षय, क्षयोपशम या उपशम करके मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर उठकर

सासादन एवं मिश्र गुणस्थान से क्रमशः शुभ को बढ़ाता है। साधक व्रतों को स्वीकार कर अशुभ प्रकृतियों का क्षय क्षयोपशम करते हुये शुभ की वृद्धि कर देशविरत एवं प्रमत्तविरत गुणस्थान में पहुंचकर दिगम्बर श्रमण के रूप में अपने शुद्धोपयोग की ओर दृष्टिपात करता है। निरंतर उपयोग की स्थिरता एवं निष्ठापूर्वक मूलगुणों के पालन से वह भव्य सम्यग्दृष्टि जीव अप्रमत्त, विरत, अपूर्वकर, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशांत मोह को पार करके क्षीण मोह गुणस्थान में शुद्धोपयोग की उत्कृष्टता अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त कर जीवन मुक्त हो जाता है।

सयोग केवलि अंत में योगनिरोध को धारण करके वह जीव सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

यही पूजा का महत्त्व एवं चरम निष्कर्ष है।

सन्दर्भ-सूची -

१. शिवरामआप्टे शब्दकोष पृष्ठ ६२८
२. रयणसार-आचार्यश्री कुंदकुंदस्वामी/१०
३. कषायपाहुड-आचार्यश्री गुणधरस्वामी/९४
४. पद्मनंदिपंचविंशतिका-आचार्यश्री पद्मनंदि/६/७
५. विनयपाठ
६. छहढ़ाला/१/१
७. कषाय पाहुड़ आचार्य गुणधर/१/२/५
८. तत्त्वार्थसूत्र/मंगलाचरण/१
९. विनयपाठ
१०. चैत्यभक्ति आचार्य पूज्यपादस्वामी
११. प्रतिष्ठापाठ आचार्य जयसेन
१२. व्रतोद्योतन श्रावकाचारं पृ.२५५ श्लोक ४६२
१३. भक्तामर-स्त्रोत्र/४५
१४. रत्नकरण्डश्रावकाचार-आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी
१५. नवयुग मासिक
१६. यह प्रयोग आचार्य कल्याणसागरजी महाराज द्वारा किया गया।

१७. कादम्बनी मासिक नवम्बर १९९५
१८. षट्खण्डागम पुस्तक-६

-ब्र. जयकुमार जैन निशांत
पुष्प भवन, टीकमगढ़ म.प्र.
९४२५१४१६९७

प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण का वैज्ञानिक महत्त्व

ब्र. डॉ. अनिलकुमार जैन, जयपुर

जैनाचार्यों ने न केवल आचार के विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया है, अपितु उसके भंग होने पर प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण की व्यवस्था भी की है। जैनाचार में नियम भंग या अपराध के लिये प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जिसे हम दण्ड व्यवस्था के रूप में जानते हैं, वह जैन परम्परा में प्रायश्चित्त-व्यवस्था के रूप में ही मान्य है, किन्तु दोनों में सिद्धान्ततः अन्तर है। प्रायश्चित्त में अपराध-बोध की भावना से व्यक्ति में स्वतः प्रेरणा से स्वयं ही किया जाता है, जबकि दण्ड अन्य व्यक्ति के द्वारा दिया जाता है। जैन परम्परा अपनी आध्यात्मिक प्रकृति के कारण सकारात्मक जीवन में प्रायश्चित्त का ही विधान करती है। यद्यपि जब साधक अन्तः प्रेरित होकर आत्मशुद्धि के लिये स्वयं प्रायश्चित्त की याचना नहीं करता है तो संघ-व्यवस्था के लिये उसे दण्ड देना होता है, किन्तु इस दण्ड का उद्देश्य भी आत्मविशुद्धि ही रहता है।

प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ - प्रायश्चित्त शब्द को परिभाषित करते हुये आचार्य अकलंक देव ने कहा है -

प्रायः साधुलोकः प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्।
अपराधोः वा प्रायः चित्तं शुद्धिः प्रायस्य चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्।।[1]

अर्थात् प्रायः साधु लोक, जिस क्रिया में साधुओं का चित्त हो वह प्रायश्चित्त है। यहाँ पर प्रायः शब्द को पाप के रूप में तथा चित्त शब्द को शोधक के रूप में परिभाषित किया गया है। आचार्यश्री वीरसेनस्वामी कहते हैं -

प्रायः इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।[2]

अर्थात् प्रायः यह पद लोकवाची है और चित्त से अभिप्राय उसके मन का है। इसलिये उस चित्त को ग्रहण करने वाला कर्म प्रायश्चित्त है।

इस दृष्टि से यह कहा गया है कि जिस कर्म से साधुजनों का चित्त प्रसन्न होता है वह प्रायश्चित्त है। आचार्य कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं –

जो चिंतइ अप्पाणं णाणसरुवं पुणो-पुणो णाणी।
विवाह-विरत्त चित्तो पापच्छित्तं वरं तस्स।।[३]

अर्थात् जो ज्ञानी मुनि ज्ञान स्वरूप आत्मा का बारम्बार चिंतन करता है और विकथादि प्रमादों से जिसका मन विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट प्रायश्चित्त होता है।

मूलाचार में कहा है कि व्रत में लगे हुये दोषों को प्राप्त हुआ यति जिससे पूर्व किये पापों से निर्दोष हो जाय वह प्रायश्चित्त तप है।[४] इसी ग्रन्थ में प्रायश्चित्त के पयार्यवाची नामों का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि जिसके द्वारा पूर्वकृत कर्मों की क्षपणा, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछण, निराकरण, उत्पेक्षण एवं छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त शब्द के संस्कृत रूप के आधार पर प्रायः शब्द को प्रकर्ष के अर्थ में लेते हुये यह भी कहा गया है कि जिसके द्वारा चित्त प्रकर्षता अर्थात् उच्चता को प्राप्त होता है, वह प्रायश्चित्त है।[६] इसी प्रकार अनेक प्रकार से प्रायश्चित्त के लक्षणों का प्रतिपादन श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों– जीतकल्प भाष्य, निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथचूर्णि आदि में भी किया गया है।

प्रायश्चित्त के भेद – आचारशास्त्रों में प्रायश्चित्त के विविध भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है, मूलाराधना में प्रायश्चित्त के दश भेदों का उल्लेख किया गया है – आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्यत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद प्रायश्चित्त के हैं।[७] तत्त्वार्थसूत्र में इन भेदों का (आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप,

छेद, परिहार और उपस्थापन)उल्लेख है। तत्त्वार्थसूत्र के सभी टीकाकारों ने इन्हीं नव भेदों का ही उल्लेख किया है। अनगार धर्मामृत में व्यवहार नय से प्रायश्चित्त के दश भेद करके कहा है निश्चय नय से असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं।

१. आलोचना – प्रायश्चित्त का सर्वप्रथम रूप वह है जहाँ साधक को स्वयं ही अपने मन में अपराधबोध के परिणामस्वरूप आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न हो। वस्तुत: आलोचना का अर्थ है अपराध को अपराध के रूप में स्वीकार कर लेना। तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा है – विद्या और ध्यान साधनों के ग्रहण करने आदि में प्रश्न विनय के बिना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है।[८]

२. प्रतिक्रमण – देश और काल के नियम से आवश्यक कर्त्तव्य विधानों को धर्म कथादि के कारण भूल जाने पर पुन: करने के समय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है।[९] धवलाजी में कहा है – जब अपराध छोटा–सा हो, गुरु पास न हों तब प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है।[१०]

३. तदुभय – दु:स्वप्न देखने आदि के अवसरों पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है। धवलाजी में कहा है – दु:स्वप्न देखने आदि के अवसरों पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है।[११]

४. विवेक – शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न से परिहार करते हुये भी किसी कारणवश अप्रासुक के स्वयं ग्रहण करने या ग्रहण कराने में छोड़ हुये प्रासुक का विस्मरण हो जाये और ग्रहण करने पर उसका स्मरण आ जाये तो उसका पुन: उत्सर्ग करना विवेक प्रायश्चित्त है। धवलाजी में कहा है – जिस दोष के होने पर उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है, उस दोष के होने पर वह विवेक नाम का प्रायश्चित्त होता है।[१२]

५. व्युत्सर्ग – दुस्वप्न, दुश्चिन्ता, मलोत्सर्ग, मूत्र का अतिचार, महानदी और महा अटवी के पार करने आदि में व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

६. तप – जिसकी इन्द्रियाँ तीव्र हैं, जो जवान है, बलवान है और सशक्त है, ऐसे अपराधी साधु को दिया जाता है।

७. छेद – जिसने अपराध किया है, जो उपवास आदि करने में समर्थ है,

सब प्रकार बलवान है, सब प्रकार शूर और अभिमानी है, ऐसे साधु को दिया जाता है।

८. मूल – अपरिमित अपराध करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसान, कुशील और स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्ग में स्थित हो, उसे दिया जाता है।

८. परिहार – तीर्थंकर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य, गणधर और महर्द्धिक मुनिराज इनकी आसासना करने वाला परिहार नामक प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।

१०. श्रद्धान या उपस्थान – जो साधु सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यात्व में प्रवेश कर गया है, उसको पुनः दीक्षा रूप वह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका दूसरा नाम उपस्थान है। इसका अर्थ है महाव्रत का मूलोच्छेद होने पर पुनः दीक्षा देने को उपस्थान कहते हैं।

प्रायश्चित्त का प्रयोजन – आचार्य अकलंकदेव ने कहा – प्रमाद, दोष, व्युदास, भाव प्रमाद, निशल्यत्व, अव्यवस्था निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता आराधना सिद्धि आदि के लिये प्रायश्चित्त से विशुद्ध होना आवश्यक है।[१३]

प्रायश्चित्त का महत्त्व – अपनी गर्हा करने से, दोषों का प्रकाशन करने से और उनका संवर करने से किये गये अतिदारुण कर्म कृश हो जाते हैं, उनका समूह नष्ट हो जाता है।[१४] आचार्यश्री कुंदकुंदस्वामी कहते हैं – बहुत कहने से क्या? अनेक कर्मों के क्षय का हेतु ऐसा जो महर्षियों का उत्तम तपश्चरण है, वह सब प्रायश्चित्त जानो।[१५]

प्रायश्चित्त में सावधानियाँ – १. प्रायश्चित्त की व्याप्ति अंतरंग परिणामों से अधिक है। अतः गलती होने पर भी परिणामों को विशुद्ध रखना आवश्यक है।

२. अपराध होते ही प्रायश्चित्त लेना चाहिये।

३. बाह्य दोष का प्रायश्चित्त स्वयं तथा अंतरंग दोष का गुरु के निकट लेना चाहिये।[१६]

४. आत्मभावना से च्युत होने पर पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है।[१७]

५. दोष लगने पर प्रायश्चितत होता है, हमेशा नहीं।
६. प्रायश्चित्त शास्त्र को जाने बिना प्रायश्चित्त देने का निषेध है।
७. प्रायश्चित्त साधक की शक्ति अनुसार देना चाहिये।

प्रायश्चित्त और आधुनिक दण्ड सिद्धान्त –

दण्ड और प्रायश्चित्त की अवधारणाओं में एक मौलिक अन्तर है। जहाँ प्रायश्चित्त अन्त:प्रेरणा से स्वत: लिया जात हौ, वहाँ दण्ड व्यक्ति को बलात् दिया जाता है। अत: आत्मशुद्धि प्रायश्चित्त से ही संभव है, दण्ड से नहीं। दण्ड में प्रतिशोध, प्रतिकार या आपराधिक प्रवृत्ति के निरोध का दृष्टिकोण ही प्रमुख होता है।

पाश्चात्य विचारकों ने दण्ड के तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं –

१. प्रतिकारात्मक सिद्धान्त,
२. निरोधात्मक सिद्धान्त,
३. सुधारात्मक सिद्धान्त।

१. प्रतिकारात्मक सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि दण्ड के समय अपराध की प्रतिशर्त की जाती है। अर्थात् अपराधी ने दूसरे की जो क्षति की है उसकी पूर्ति करना या उसका बदला देना ही दण्ड ही मुख्य उद्देश्य है।

२. निषेधात्मक सिद्धान्त मूलत: यह जानकर चलता है कि अपराधी को दण्ड इसलिये नहीं दिया जाता है कि उसने अपराध किया है अपितु इसलिये दिया जाता है कि दूसरे लोग अपराध करने का साहस न करें। समाज में आपराधिक प्रवृत्ति को रोकना ही इस दण्ड का उद्देश्य है। इसमें छोटे अपराध के लिये भी कठोर दण्ड की व्यवस्था होती है, किन्तु इसमें अपराध करने वाले व्यक्ति को समाज के दूसरे व्यक्तियों के लिये आपराधिक प्रवृत्ति से भयभीत करने के लिये साधन बनाया जाता है। दण्ड का यह सिद्धान्त न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता है। इसमें दण्ड का प्रयोग साध्य के रूप में नहीं अपितु साधन के रूप में किया जाता है।

३. सुधारात्मक सिद्धान्त, इसमें अपराधी भी एक प्रकार का रोगी है। अत: उसकी चिकित्सा अर्थात् उसे सुधारने का प्रयत्न होना चाहिये।

यदि हम इन सिद्धान्तों की तुलना जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था से करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि जैन विचारक अपनी प्रायश्चित्त व्यवस्था में सुधारात्मक सिद्धान्त में सहमत होकर यह मानते हैं कि व्यक्ति में स्वत: ही अपराधबोध की भावना उत्पन्न करा सकें एवं आपराधिक प्रवृत्तियों से दूर रखकर अनुशासित किया जावे। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जब तक व्यक्ति में स्वत: ही अपराध के प्रति आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होगी, तब तक वह आपराधिक प्रवृत्तियों से विमुख नहीं होगा। इस आत्म-ग्लानि में साधक इसी भावना से हमेशा पीड़ित नहीं रहता है किन्तु अपराध को दोष के रूप में देखता है और आध्यात्मिक विकास के पथ पर आगे बढ़ता है।

प्रतिक्रमण - प्रतिक्रमण प्रायश्चित का ही एक भेद है। अपराध या नियम भंग को अपराध के रूप में स्वीकार कर पुन: उससे वापस लौट आना अर्थात् भविष्य में उसे नहीं करने की प्रतिज्ञा करना ही प्रतिक्रमण है। दूसरे शब्दों में आपराधिक स्थिति में अनपराधिक स्थिति में लौट आना ही प्रतिक्रमण है, आलोचना और प्रतिक्रमण में अन्तर यह है कि आलोचना में अपराध को पुन: सेवन न करने का निश्चय नहीं होता है, जबकि प्रतिक्रमण में ऐसा करना आवश्यक है।

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है अथवा दूसरों के द्वारा कराया जाता है, और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, इन सबकी निवृत्ति के लिये कृत-पापों की समीक्षा करना और पुन: नहीं करने की प्रतिज्ञा करना प्रतिक्रमण है।

प्रमाद के द्वारा किये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसको प्रतिक्रमण कहते हैं। आचार्य अकलंक देव ने कहा है - कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है।[१८]

शुद्ध नय की अपेक्षा से प्रतिक्रमण का स्वरूप बताते हुये आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं -

पूर्वकृत जो अनेक प्रकार के विस्तार वाला शुभ व अशुभ कर्म

है, उससे जो आत्मा अपने को दूर रखता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।[१९]

प्रतिक्रमण के भेद - मूलाराधना में प्रतिक्रमण भेद बताते हुये कहा है कि पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है अर्थात् दीक्षा ग्रहण से लेकर सब तपश्चरण के काल तक जो दोष लगे हो, उनकी शुद्धि करना, दूसरा विविध प्रतिक्रमण है, वह जल के बिना तीन प्रकार का आहार का त्याग करने में जो अतिचार लगे, उनका शोधन करना और तीसरा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है, उसमें जीवन पर्यन्त जल पीने का त्याग किया था, उसके दोषों की शुद्धि करना है। अतिचारों से निवृत्ति होना वह प्रतिक्रमण है वह दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण ऐसे सात प्रकार है। (गाथा १२०-६१३) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से प्रतिक्रमण के छह भेद हैं।[२०]

प्रतिक्रमण का विषय - सचित्त, मिश्ररूप जो त्यागने योग्य द्रव्य है, वह प्रतिक्रमितव्य है, घर आदि क्षेत्र हैं, दिवस मुहूर्त आदि काल है। जिस द्रव्य आदि से पापास्रव हो वह त्यागने योग्य है मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, उसी तरह असंयम का प्रतिक्रमण क्रोधादि कषायों का प्रतिक्रमण और अशुभ योगों का प्रतिक्रमण करना चाहिये।[२१]

सन्दर्भ-सूची -

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२२
२. धवला पुस्तक१३/५९
३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा/४५५
४. मूलाचार/३६१
५. वही/३६३
६. अभिधान राजेन्द्र कोष/५/८५५
७. मूलाराधना/३६२
८. तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२२
९. वही
१०. धवला १३/६०

११. वही
१२. वही
१३. तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२२
१४. धवला/१३/६०
१५. नियमसार/११७
१६. प्रवचनसार/२११-२१२
१७. इष्टोपदेश/३९
१८. तत्त्वार्थराजवार्तिक ६/२४
१९. समयसार/३८३
२०. भ.आ.वि.११६
२१. मूलाराधना ६१६-६१७

-ब्र. डॉ. अनिलकुमार जैन
जैनदर्शन विभागाध्यक्ष,
श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय,
सांगानेर, जयपुर राज.

दक्षिण पूर्व एशिया में जैन पुरावशेष

-डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन

विश्व के किसी भी राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, धर्म-सम्प्रदाय, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से निश्चयात्मक मन्तव्य प्रकट करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इस विषय में द्वितीयक स्त्रोतों से दिये गये निर्णय और भी कठिन हैं। लेखन की प्रामाणिकता के लिए द्वितीयक संदर्भों का मूल सामग्री के साथ सत्यापन तथा सम्बन्धित राष्ट्र की संस्कृति-सभ्यता और वहां के धार्मिक सम्प्रदायों एवं उनके विचारों से भी परिचित होना आवश्यक है, अन्यथा उस लेखन में पूर्ण प्रामाणिकता नहीं आ सकती। इतिहास लेखन में अज्ञानता और एकाग्रह और भी घातक हैं। वहीं साक्ष्यों के अभाव में अटकलें लगाना विद्वत् जगत में हास्यास्पद है। इसलिए द्वितीयक स्त्रोतों के साथ मूल सामग्री- शिलालेख, प्रशस्तियाँ, ताम्रलेख, मूर्तिलेख, मूर्तिकला, वास्तुस्थापत्य, प्राचीन साहित्य आदि को आधार बनाकर तत्कालीन भौगोलिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के समाकलन पूर्वक प्रदान किये गये ऐतिहासिक साक्ष्यों से ही सत्य के निकट पहुंचा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति एक विशाल भू-भाग पर विस्तृत थी। वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं के साहित्य से इस तथ्य की पुष्टि होती है। अंग, बंग, कलिंग आदि विभिन्न जनपदों में विभक्त इस महान् देश के सुवर्णद्वीप, हंसद्वीप, यवद्वीप, पुष्करद्वीप, नागद्वीप आदि विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों के साथ व्यापारिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सम्बन्ध थे। इस व्यापकता के कारण इतिहास वेताओं द्वारा इसे बृहत्तर भारत (ग्रेटर इंडिया, फर्दर इंडिया) जैसे नामों से अभिहित किया गया है। भारत का साम्राज्य प्राचीन गान्धार, द्वारावती, फुनान, श्रीक्षेत्र, जावा, मलय, श्याम

और चम्पा आदि तक विस्तृत था। जिसका वर्तमान रूप अफगानिस्तान, पाकिस्तान, बंग्लादेश, श्रीलंका, बर्मा, इंडोनेशिया, जावा-सुमात्रा, बोर्नियो, कम्बोडिया, लाओस, मलेशिया, वियतनाम आदि देश हैं। सम्प्रति इन देशों में स्थित पुरावशेषों-प्रासादों, भवनों, मूर्तियों, स्तूपों एवं अन्य भग्नावशेषों आदि से बृहत्तर भारत की भारतीय संस्कृति के स्वर्णयुग का अनुमान किया जा सकता है। यहां के बोलते पुरा भग्नावेशेष, मूर्तिलेख, प्रस्तरलेख आदि भारतीय संस्कृति के उत्थान-पतन की जीवन्त गाथा कहते हैं।

वर्तमान स्वरूप में दक्षिण पूर्व एशिया में स्थित मन्दिर, पैगोडा, मूर्तियां, स्तूप आदि ब्राह्मण धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित माने जाते हैं। अवधेय हो कि लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व प्रायः यह भी जन-सामान्य को अवगत नहीं था कि दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति का अपार पुरावैभव भरा पड़ा है। इसलिए इस ओर स्वतः ही ध्यान आकर्षित होता है कि क्या दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म होने पर भी क्या वहां जैन धर्म का अस्तित्व नहीं था?

ऐतिहासिक सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म मात्र एक सम्प्रदाय नहीं था, अपितु वह एक प्राणीमात्र के कल्याण के लिए धर्म था। यही कारण है कि हिंसा, उत्पीड़न, शोषण और अमानवीय कृत्यों के विरोध में तीर्थकर पार्श्वनाथ के पश्चात् श्रमण परम्परा के पोषक दो महान् पुरोधाओं-बुद्ध और अपरिग्रह की आवाज समूचे विश्व में बुलन्द की। यह बात अलग है कि बाद में जनकल्याण के लिए उपयोगी धर्म की देशनाओं के लिए उन्होंने अपने स्वतंत्र पथ चुन लिये। दोनों महापुरुषों के निर्वाण के पश्चात् उनके अनुयायियों के द्वारा उनकी मूर्तियां बनाकर पूजा-अर्चना की जाने लगी।

जैन परम्परा में तीर्थकर पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी से पूर्व बाईस और तीर्थकर माने जाते हैं जिन्होंने मानव कल्याण के लिए ही जैन धर्म को प्रतिष्ठापित किया। उनमें आद्य तीर्थकर ऋषभदेव, जैन धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं। जैन अनुश्रुतियों से यह भी ज्ञात होता है कि

प्राणीमात्र का कल्याणोन्मुख जैनधर्म विश्व के प्रायः अधिकांश भागों में पालन किया जाता था। धर्म गुरुओं ने विश्व के अधिकांश देशों में जाकर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया। कृत्रिम-अकृत्रिम, चैत्य-चैत्यालय, इस लोक के साथ दूसरे लोकों में भी अवस्थित हैं।

आगमिक साहित्य, काव्य, कथा-ग्रन्थ एवं प्रस्तर आलेखों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तीर्थंकर महावीर के सन्देशों को मौर्य सम्राट अशोक के पोते सम्राट सम्प्रति ने देश और विदेश में प्रचारित-प्रसारित करवाया था। उसने दक्षिण पूर्व एशिया के चीन, सुवर्णभूमि, अपरान्तक, युनान आदि देशों में श्रमणों के लिए विहार और मन्दिर बनवाये थे। पालि, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में रचित साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं कि जैन व्यापारी दक्षिण पूर्व एशिया में व्यापार के लिये जलमार्ग, कौशेय मार्ग, थलमार्ग-उत्तरापथ, दक्षिणापथ आदि मार्गों से आवागमन करते रहे हैं। ईसा की लगभग प्रथम शताब्दी में कालकाचार्य, सागर श्रमण आदि साधुओं के भी दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में विहार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इससे यह भी प्रतीत होता है कि दक्षिण पूर्व एशिया में प्रथम शताब्दी के पूर्व से ही वहाँ जैन धर्म विद्यमान रहा है। इस दृष्टि से वहां जैन उपासना स्थलों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। यद्यपि कि अपने वर्तमान स्वरूप में वहाँ के मन्दिर, मूर्तियाँ, पैगोडा, स्तूप आदि पुरावशेष हिन्दू और बौद्ध संस्कृतियों का मानकर यूनिस्को द्वारा उनमें अधिकांश को विश्व धरोहर के रूप में संरक्षित किया गया है, फिर भी मन्दिर, मूर्तियों आदि के भग्नावशेषों को देखकर वहां सदियों पूर्व विकसित हुई जैन संस्कृति के प्रकाश पुंज की रश्मियों का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तु स्थापत्य कला, प्रस्तर आलेख एवं अन्य पुरा सामग्री के आधार पर पुरातत्वविद्, इतिहासकार, विद्वानों आदि द्वारा शोध, अन्वेषण पूर्वक किये गये प्रयत्नों से जैन संस्कृति विषयक प्रमाणीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्यपरक सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

द्रुतगामी यातायात और आधुनिक संचार व्यवस्था के इस युग

में जैन धर्मानुयायियों और जैन विद्या के मनीषियों का दक्षिण पूर्व एशिया के अनेक देशों से सम्पर्क स्थापित हुआ है और उन्होंने वहाँ जैन मूर्तियों, मंदिरों, स्तूपों के सदृश भग्नावशेषों का अवलोकन कर उसकी संगति उपलब्ध प्राचीन सन्दर्भों के साथ बैठाकर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

हमें भी दक्षिण पूर्व एशिया कें प्रायः सभी देशों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ और वहां के प्राचीन अवशेषों के देखने के पश्चात् यह अनुभव हुआ कि वह समग्र क्षेत्र अवश्य ही अतीत में जैन सांस्कृतिक विरासत का समृद्ध क्षेत्र रहा होगा। क्योंकि वहां जैन पुरावशेषों को सूचित करने वाले अनेक अवशेष उपलब्ध हैं। इसलिए प्रथम दृष्टया पुरातत्व विशेषज्ञों का वहां उपलब्ध अग्रलिखित – बिन्दुओं पर ध्यान जाना आवश्यक है –

1. अनेक मन्दिरों का स्थापत्य, शिल्पकला और शैली जैन मन्दिरों जैसी है।

2. हजारों खण्डित मूर्तियाँ मन्दिरों, मन्दिरों के परिसरों में रखी हुई हैं, जिनमें हिन्दु और बुद्ध मूर्तियों से भिन्न अनेक मूर्तियाँ सम्भवतः जिन मूर्तियाँ हैं।

3. अनेक मन्दिरों के गर्भगृह में वेदियों पर मूल प्रतिमाएं स्थापित नहीं हैं और प्रायः वेदिकाएँ अपने मूल स्थान से विस्थापित हैं, यदि वे वेदियाँ किसी अन्य धर्म विशेष से सम्बन्धित होती तो उनके ही द्वारा स्वयं अपनी ही प्रतिमाएं और वेदिकाएं क्यों विस्थापित की जातीं।

4. अनेक मन्दिरों की दीवालों, फलकों, तोरणद्वारों, और मसूरक आदि पर जिन मुद्रा युक्त मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

5. पल्लव और ख्मेर लिपि के संस्कृत, पालि और प्राकृत में उत्कीर्ण कतिपय प्रस्तर शिलालेखों में वीर, जिन, शान्तिनाथ, श्रमण प्रभूति शब्द जैन तीर्थकरों के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं।

6. लाओस के पाण्डुलिपि संग्रहालय में पायीं जाने वाली हजारों ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों में जैन विद्या विषयक पाण्डुपियाँ पाये जाने की पूर्ण सम्भावना

है।

इत्यादि और भी वहां ऐसे सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि पुराकाल में हिन्दू और बौद्ध संस्कृतियों के साथ जैन संस्कृति भी वहां पल्लवित और पुष्पित होती रही। ऐसा होते हुए भी इतिहासकारों और समीक्षक विद्वानों द्वारा वहां के हिन्दू और बौद्धों के सांस्कृतिक अवदान का तो मूल्यांकन किया गया है, परन्तु जैनों का उन्होंने नामोल्लेख तक भी नहीं किया, यह अवश्य विचारणीय है। अनेक यूरोपियन लेखक भी दक्षिण पूर्व एशिया के इतिहास लेखन में जैनों के अवदान का उल्लेख नहीं किये जाने पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। जोन गाई लिखते हैं - Two Indic religions, Brahmanism and Buddhism, make an early appearance in Southeast Asia,...of the third major religion of the first millennium Indian Subcontinent, Jainism, no trace has been found, a Curious absence given the eminent place Jain merchants assumed in the history of Indian commerce. Canonical Jain texts refer to those who ventured to Sea to trade, (Lost Kingdoms, p.273)

कम्बोडिया में बैंटे छम्र, टोन्ले बटी, ता प्रोहम, नोकोर बैचई, ता प्रोहम केल आदि ऐसे प्राचीन खण्डहर मन्दिर हैं, जहां पर जिनमुद्रा में अनगिनत मूर्तियां देखी जा सकती हैं। अंकोर वाट, प्रसात प्रीह थीट टीयुक छा, ता प्रोहम, प्रसात कोल को, बैण्टे कैडई आदि मन्दिरों में भी जिन मुद्रा में अनेक मूर्तिया पायी जाती हैं। अपने वर्तमान स्वरूप में हिन्दु और बुद्ध मन्दिर कहे जाने वाले विश्व धरोहर के रूप में संरक्षित इन मन्दिरों का मूल स्वरूप क्या रहा होगा, ये तो निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता, पर वहां विद्यमान हिन्दु बौद्ध और जैन अवशेष, पुराकाल में जैन संस्कृति की विद्यमानता को अवश्य सूचित करते हैं। ऐसा होते हुए भी एक साथ एक मन्दिर परिसर में तीनों धर्मों के अस्तित्व को भी नकारा नहीं जा सकता क्योंकि दक्षिण पूर्व एशिया में शैलेन्द्र वर्मन, जयवर्मन द्वितीय, जयवर्मन सप्तम आदि अनेक धार्मिक साम्प्रदायिक

सद्भावी राजा हुए हैं। कम्पोंग चाम प्रदेश के प्रसात प्रोह थीट टीयुक् छा से प्राप्त एक शिलालेख में मन्दिर को जमीन प्रदान करने वाले के रूप में सेठी बोरा का उल्लेख पाया जाना वहां जैन धर्मावलम्बियों के अस्तित्व को सूचित करता है।

एक ही धर्म विशेष के राजाओं द्वारा अपनी प्रशस्तियों में उत्कीर्ण कराये गये प्रस्तर शिलालेख जैसे उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर दक्षिण पूर्व एशिया का लिखा गया इतिहास लगभग आठवीं शताब्दी के बाद से पाया जाता है। इससे पूर्व कम्बोडिया के प्रथम शताब्दी तक के इतिहास की सूचना चीनी यात्रियों द्वारा प्रदान की गई हैं, जो कि वे वहाँ स्वयं नहीं गये। उन्होंने इसे फुनान के अन्तर्गत चेनला राज्य का नाम दे दिया। प्रथम शताब्दी से पूर्व का इतिहास प्राप्त नहीं होता है।

वहाँ के ख्मेर निवासियों के विषय में इतनी ही जानकारी प्राप्त होती है कि वे प्रथम शताब्दी से पूर्व नग्न रहते थे, वे सभ्य और नैतिक थे, उनकी कला और संस्कृति विकसित थी तथा वे नाग तथा नाग सहित देवों, यक्षों आदि की उपासना करते थे।

प्रतीत होता है कि वहां के मूल निवासी पार्श्व परम्परा से प्रभावित रहे हों, क्योंकि कलिंग में रहने वाले इस परम्परा के हजारों लोग सम्राट अशोक के भय से कलिंग छोड़कर इधर चले गये थे। इनमें मौन भी थे, जो भारत में ऋषभ परम्परा की पोषक माने गये हैं। आज भी दक्षिण पूर्व एशिया में मौन बहुतायत में पाये जाते हैं। कम्बोडिया के निवासियों का मूल व्यवसाय खेती और फलोत्पादन है, इसके साथ ही आज वहां टूरिज्म ने मुख्य व्यवसाय का रूप ले लिया है। यहां के निवासी शान्त, विनम्र हैं और प्रायः वे दिन में ही भोजन कर लेते हैं। वियतनाम में एक कोकोनट सम्प्रदाय है, जो मात्र नारियल का पानी पीकर ही जीवित रहता है। कम्बोडिया के कम्पोंग चाम प्रोविन्स में नाम चेयुग प्रे पहाड़ी पर अष्टमी के दिन बुद्ध अनुयायी अपने साधुओं के सान्निध्य में एक प्राकृतिक स्रोत से जल लाकर दिन में अपने उपास्य का अभिषेक करते हैं। सभी अनिवार्य रूप से दिन में ही शाकाहारी भोजन करते हैं और रात्रि में ध्यान

करते हैं, यहां के ग्रामीणों की ऐसी मान्यता है कि ऐसा करने उनके सभी कार्य सिद्ध होते हैं।

इससे यह प्रतीत होता है कि दक्षिण पूर्व एशिया के निवासियों पर जैन तीर्थकरों के उपदेशों का प्रभाव ईशा पूर्व से ही विद्यमान रहा होगा, बाद में अन्य संस्कृतियों के प्रभाव से उनकी उपासना पद्धतियों में परिवर्तन होता चला गया। पुराकाल में अन्य व्यापारियों की तरह जैन व्यापारियों भी वहां गये और उन्होंने तत्कालीन राजाओं के सहयोग से जिनालयों की भी स्थापना की। बाद में धार्मिक क्रान्तियों के कारण मन्दिर, मूर्तियां आदि ध्वस्त किये गये, जिनके अवशेष वहां अब भी विद्यमान हैं। बृहत्तर भारत में वहां की जो भी स्थिति रही हो, पर दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति के होने के अवशेषों का पता लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व चला। यहां के इतिहास लेखकों ने एक धर्म विशेष के उपलब्ध शिलालेखों के आधार पर अपने निष्कर्ष दिये। दूसरे वे सम्भवत: जैनधर्म से अनभिज्ञ थे और उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि जैनधर्म शब्द का भले ही प्रयोग न किया गया हो पर उसका प्रतिपादन जिन, जिनालय, अर्हत्, श्रमण आदि शब्दों द्वारा किया गया है। कुछ लेखकों ने इन शब्दों का बुद्ध विषयक मानकर प्रतिपादन किया हैं: कुछ विद्वानों ने महावीर को भी बुद्ध मानकर अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। आश्चर्य है कि जैन समाज ने यह मानकर कि दक्षिण पूर्व एशिया में जैन या जैनधर्म नहीं है, इसलिए वहां जैन पुरावैभव के अन्वेषण में अपनी कोई रुचि नहीं दिखलाई। आज आवश्यकता इस बात की है कि विद्वान् मनीषी दक्षिण पूर्व एशिया के मूल निवासियों के इतिहास, पुरातात्विक सामग्री और शिलालखीय साक्ष्यों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर अपने स्वर्णिम अतीत की विरासत को प्रकाशित करने में प्रामाणिक पुष्ट सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं।

-डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन
।।-ए-७८, नेहरु नगर, गाजियाबाद उ.प्र.
९८१०७९२५८७

मूल जैन सिद्धांत विज्ञान की कसौटी पर

- सुधीर जैन, एनडीटीवी, गाजियाबाद

किसी धर्म की वैज्ञानिकता का आकलन वैसे तो बहुत मुश्किल काम है। लेकिन जैन दर्शन के पास विचार के रूप में एक ऐसा उपकरण है कि यह काम उसके लिए आसान है। यह उपकरण है स्यादवाद। इस उपकरण के सहारे हम देख सकते हैं कि किस लिहाज से जैन धर्म आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर विज्ञान सम्मत है और किस लिहाज से अलौकिक धारणाओं पर आधारित है।

हमें यह भी मानकर चलना पड़ेगा कि आधुनिक विज्ञान का जो सर्व सम्मत रूप है वह सिर्फ इंद्रियगोचर तत्वों या वस्तु या पदार्थ का ही पर्यवेक्षण और परीक्षण करता है। आधुनिक विज्ञान या वैज्ञानिकों की एक अच्छी बात यह है कि वह यह घोषणा करता है कि वह सीमित है। अपनी सीमाओं के कारण वह परमत्व को स्वीकार नहीं कर पाता है। यानि वह मानकर चलता है कि उसके लिये परम की अधिकल्पना संभव नही है। परम ताप या दाब या आयतन की जितनी भी परिकल्पनाएं मानव को उसकी अपनी सीमाओं का बोध करवाती हैं। विज्ञान नगण्य मात्रा को शून्य मानकर काम चलाता है और अपनी कल्पना से बड़ी मात्रा को अनंत मान कर चलता है।

अब अगर जैन दर्शन या धर्म की मूल प्रतिस्थापनाओं को देखें तो वह भी भौतिक जगत में किसी परम शक्ति को स्वीकार नही करता। तीर्थकर महावीर के बाद इस बारे जिन आचार्यों ने दूसरे मतों के आचार्यों से शास्त्रार्थ किए उनसे यह बात सिद्ध होती है। खासतौर पर सृष्टि के निर्माण पर होने वाले वाद विवाद में जब यह बात आती थी कि सृष्टि की रचना ईश्वर ने की या नहीं तब जैन दर्शन यही बात कहता था कि अगर

ईश्वर ने सृष्टि की रचना की तो कहां बैठकर की और कब की। यानी स्थान और समय पहले से ही निर्मित रहे होंगे। यह वह समय था जब जैन आचार्य अपनी तार्किकता के आधार पर स्वयं को विज्ञान सम्मत सिद्ध कर रहे होंगे। अपनी ज्ञान परंपरा के हिसाब जैन सिद्धांत यह मानता है कि सृष्टि प्रकृति की रचना है। और प्रकृति को वह अनादि और अनंत मान कर चलता है। जरा गौर से देखें तो आधुनिकतम विज्ञान के पास भी इसी बात को मानकर चलने के अलावा कोई दूसरा विश्लल्प है नहीं। और संतोष की बात यह है कि अपने सिद्धांतों के कारण ही जैन दर्शन और आधुनिकतम विज्ञान को फिलहाल किसी दुविधा या विवाद का सामना नहीं करना पड़ रहा है।

लोक से परे यानी अलोक का प्रत्यक्षीकरा विज्ञान नहीं करता है। उसकी सीधी साधी प्रतिस्थापना है कि जब तक तक कोई शोध परिकल्पना न बनाई जा सके तब तक किसी सिद्धांत के सम्यकत्व का परीक्षण प्रारंभ ही नहीं हो सकता। अगर सरसरी तौर पर देखें तो जैन दर्शन में मोक्ष की अवधारणा जीवन मरण से मुक्ति तक ही है। जीवन के बाद किसी अलौकिक जीवन की कोई अवधारणा जैन दर्शन में नहीं मिलती। कर्म सिद्धांत के अनुसार राग द्वेश से जो बंध लगते हैं वे इसी संसार में चक्कर लगाते रहने की कल्पना जरूर करते हैं लेकिन किसी अलोक में जाकर सुख दुख भोगने की बात नहीं होती। रही बात इसी लोक में भ्रमण की तो आधुनिकतम विज्ञान आनुवांशिक शोधों से सिद्ध कर रहा है कि एक पीढ़ी के गुण दोष दूसरी पीढ़ी में किस तरह स्थानांतरित हो रहे हैं। इन गुण दोषों को आनुवाशिक श्रेणी में न भी रखें फिर भी रोगों का स्थानांतरण तो पूरी तौर पर सिद्ध हो रहा है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान की विषयवस्तु पदार्थ और उर्जा है। पदार्थ का अध्ययन करते करते भौतिक विज्ञानी परमाणु और उसके मूल कणों यानी प्रोटोन, न्यूटान और इलैक्टान तक पहुंचा और फिर उसने इन तीनों के विभिन्न उपकणों को भी पहचान लिया। अब वह टुकड़े टुकड़े करके उस पदार्थ को पहचानने में लगा है जिसे वह परमाणु का मुल

पदार्थ या कण कह सके। परिकल्पना के रूप् में हम फिलहान उसे बोसोन का नाम दे पाए हैं। लेकिन उसके गुण धर्म को जानने समझने का कुतूहल बाकी है। जबकि जैन दर्शन की प्रतिस्थापनाओं में पुदगल कुछ इसी तरह का कण है। पहले हम परमाणु को ही पुदगल समझने लगे थे। लेकिन जब हमने परमाणु के टुकड़े करने की क्षमता हासिल कर ली तो परमाणु तो भंगुर सिद्ध हो गया लेकिन पुदगल की व्याख्या ज्यों की त्यों रही। क्योंकि पुदगल को हमने लधुतम इकाई मान रखा है।

जैन दर्शन में जीव और अजीव के जिन पर्यायों की प्रतिस्थापना है वे आधुनिक जीव विज्ञान की प्रतिस्थापनाओं से विल्कुल भी टकराव की हालत में नहीं है। अजीव से जीव की उत्पत्ति की अवधारणा आधुनिक विज्ञान की सबसे सनसनीखेज खोज है। जैन ज्ञान परम्परा में इसे किस रूप में और कितने स्पष्ट रूप से कहा गया है इसका जिक तो किया ही जाना चाहिए। अगर ऐसा होता है तो आधुनिक विज्ञान अन्य कई शोध परिकल्पनाओं के निर्माण का मौका हाथ लग सकता है। हालांकि यह हो तभी सकता जब हमारी जैन विद्या के विद्वान और शास्त्री आधुनिक विज्ञान के विकास पर नजर रखें और उधर आधुनिक वैज्ञानिक पारंपरिक ज्ञान से परहेज न करें। वैसे आधुनिक वैज्ञानिक पारंपरिक ज्ञान से परहेज करते नहीं है। इस आलेख के लेखक का अपना जितना शोध अनुभव है उसके आधार पर यह कह लेना चाहिए कि आज के हर किसी अच्छे शोध ग्रंथ की पहली आवश्कता यही बताई जाती है कि हर शोधकर्ता संबधित विषय को एतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जरूर देखे। आज भी अच्छे शोध प्रबंध की एक शर्त होती है कि उसकी शुरूआत या प्रस्तावना किसी न किसी प्राचीन अवघारणा कर जिक करते हुए होती है। भले ही कालातांर में वह अप्रासंगिक सिद्ध क्यों न हो गई हो। इस आधार पर अगर कोई सुझाव देना चाहें तो यहां यह सुझाव दिया जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान का कोई भी विषय हो उसकी प्रस्तावना में या यों कहें कि उस संबंध में प्राचीन ज्ञान का हवाला देना चाहें तो जैन दर्शन के किसी न किसी सिद्धांत या प्रतिस्थापना का जिक जरूर हो सकता है।

एक उदाहरण यह है।

पिछली सदी में ही हमने यह जाना कि पनमाणु के केंद्र में स्थित प्रोटोन और न्यूटान के चारों तरफ जो । इलेक्टान चक्कर काटते हैं उनका व्यवहार द्रव्य और उर्जा दोनों ही प्रकार का है। पहले हम मानते थे कि कोई चीज या तो सिर्फ द्रव्य हो सकती है या सिर्फ उर्जा हो सकती है। इन दोनों गुणों को परस्पर विरोधी या विलोम माना जाता था। लेकिन जानने से पता चला कि इलैक्टान में ये तो दोनों ही गुण एक साथ मौजूद है; जैन दर्शन का सिद्धांत अनेकांत बिल्कुल यही बात कहता आ रहा था। उसके मुताबिक दो परस्पर विरोधी गुण एक ही समय में एक साथ अस्तित्व में रह सकते है। इस जटिल परिस्थिति को स्पष्टता के साथ बताने के लिए जैन दर्शन को वक्तव्य यानी कहने की एक विलक्षण पद्धति का विकास करना पड़ा जिसे स्यादवाद कहते हैं। जैन दर्शन के विद्वानों के लिए यह कितनी अभिमूत करने वाली बात होती जब यह कहा जाता कि जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धांत स्यादवाद के मुताबिक इलैक्टान इस लिहाज से द्रव्य यानी मैटर है और उस लिहाज से उर्जा यानी एनर्जी है। यह प्रसंग आधुनिक विज्ञान और जैन दर्शन की एकात्मकता सिद्ध करने के लिए सबसे अच्छा उदाहरण हो सकता था और अगर जिक करने लगें तो आज भी हो सकता है।

कुछ बातें आधुनिक दर्शनशास्त्र और प्राचीन दर्शनशास्त्र के बारे में भी हो सकती हैं। हां इतनी सतर्कता जरूर बरतना पड़ेगी कि पहले हम जो कहते आए हैं उसके बारे में यह आग्रह न हो कि विगत में कहा गया सबकुछ सम्यक ही है। स्यादवाद के मुताबिक सिंद्धांत भी समय सापेक्ष हो सकते हैं। इसके अलावा यह भी हो सकता है कि जैन परंपरा की अबतक की यात्रा में बहुत कुछ ऐसा जुड़ गया हो जो हमारी प्राचीन जैन विद्या में न रहा हो। मसलन यह सूत्र कि अहिंसा परमोधर्म। इस सूत्र के बारे में सोच विचार का एक अनुभव इस लेखक के पास है।

दिगंबर संप्रदाय से इतर एक अन्य आम्नाय के आचार्य के सानिध्य में राजस्थान के गांव पडिहारा में विद्वानों का सम्मेलन आयोजित

था। मेरी जिज्ञासा थी कि अंहिसा परमोधर्मा का सूत्र किस जैन आगम में कहा गया है। आचार्यश्री ने अपने विद्वान मुनियों की तरफ देखा और कुछ ही देर में बात यह कहते हुए आगे बढ़ाई कि इस सूत्र को लेकर शंका क्या है? उत्तर में यह कहा गया।

कार्य कारण संबंध के अनुसार हिंसा का कारण परिग्रह सिद्ध होता है। यानी परिग्रह कारण है और उसका प्रभाव हिंसा है। इस तरह अगर हिंसा का अभाव करना हो यानी हिंसा को समाप्त करना हो तो परिग्रह का अभाव करना चाहिए। इस तरह अगर पांचों व्रतों या धर्मों में सर्वप्रथम धर्म कहा जाना हो तो अपरिग्रह परमोधर्मा कहा जाना चाहिए।

आचार्यश्री ने इस विषय को तत्काल अपने धर्म उदबोधन का मुख्य विषय बनाया। अपने संध्याकालीन धर्म उदबोधन में भी उन्होंने पांचवी शताव्दी से लेकर बीसवी शताब्दी तक आगमों के शोधन पर हुई वाचनाओं का इतिहास बताया और यह बताया कि प्राचीन ग्रथों की बार बार प्रतिलिपियां बनाने के उपकृम में विक्षेप की संभावना बन जाती है। खैर यह प्रसंग इस सुझाव के लिए है कि आज जैन विद्वानों और शास्त्रियों के सामने करने के लिए यह महत्वपूर्ण काम भी है कि मुद्रण और प्रतिलिपियों के उपकम में प्राचीन ग्रंथों के मूल रूप् की शुद्धता कायम रखने के काम में योगदान देते रहने का काम भी है।

जैन दर्शन को विज्ञान सम्मत या तक सम्मत सिद्ध करने के उपकम में एक उदाहरण और दिया जा सकता है। यह उदाहरण किसी व्यवस्थित पाठयकम की सार्वकालिकता सिद्ध करने के काम भी आ सकता है। मसलन, तीर्थकर महावीर की देशना में एक सूत्र है कि अत्थि सत्थ परेण परं। विद्वान मुनियों ने इसका हिंदी अनुवाद इस तरह किया है कि शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होते जाएंगे। ढाई हजार साल पहले तीर्थकर महावीर की कही इस बात को अगर उस समय की परिस्थितियों को साथ में रखकर सोचें तो बड़ी आसानी से अनुमान लगा सकते हैं कि वह समय वैसा समय था जब युद्ध और हिंसा अपने चरम पर थी। इतिहास और धर्म कथायें बताती है परमास्त्र ही निश्चिंत रहने का सहारा रहा

होगा। वैसे समय में चौबीस तीर्थंकर का यह बताना कि जो शस्त्र अभी परम लग रहा है उससे भी तीक्ष्ण शस्त्र बन जाएगा । यानी कोई भी शस्त्र सुरक्षा की गारंटी नहीं दे सकता। क्या कालांतर में इस सूत्र के सम्यकत्व में कोई संदेह बचा रहा? जैन दर्शन के इस समयसिद्ध और स्वयंसिद्ध सूत्र को क्या आज की परिस्थितियों में बार बार सामने रखने की जरूरत नहीं है। आस्था के रूप में नहीं बल्कि ताकिकता के आधार पर। खासतौर पर आज के ताकिक मिजाज के युवा वर्ग को ऐसे सूत्र आधुनिक विज्ञान के नियमों या सिद्धांतों जैसे ही लगेंगे।

देश और काल की अनिवार्यता देखिए कि आज का शिक्षित और प्रशिक्षित युवा वर्ग इस समय निश्चिंतता और स्वतंत्रता की मांग कर रहा है। देश की परिस्थितियों का तत्काल रूप देखें तो इस समय का युवा वर्ग अपनी इच्छाओं की असीमितताओं को समझ चला है। उसकी मांग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तक मर्यादित होती जा रही है। अगर हम निष्कर्ष निकालना चाहें तो यह भी निकाल सकते हैं कि नई पीढ़ी को परिग्रह और अपरिग्रह का विवेक भी हो चला है। युवाओं में अनावश्यक संग्रह और कृपणता की प्रवृत्ति आश्चर्यजनक रूप् से घटती दिख रही है। जैन दर्शन का अपरिग्रह का सिद्धांत उन्हें आकर्षक भी लग सकता है। बस उन्हें इस तरह से बताने भर की देर है कि हमारा धर्म कोई आस्था विश्वास या सिर्फ उपासना पद्धति वाला धर्म ही नहीं है बल्कि यह सुविचारित और परीक्षित सिद्धांतों वाला जीवन दर्शन है।

धार्मिक क्रियाओं का वैज्ञानिक प्रभाव

पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन रजवाँस

कर्मों को नष्ट करने वाला, संसार के दु:खों से बचाकर, मोक्षसुख प्राप्त कराने वाला धर्म होता है। कर्मों का क्षय जहाँ भावों की विशुद्धि से सम्भव है,वहीं मोक्षसुख की प्राप्ति शुद्धाचरण से होती है। अत: धर्म, भावों की विशुद्धि एवं शुद्धाचरण रूप अन्तरंग और बहिरंग धार्मिक क्रियाओं से इष्ट उद्देश्य की पूर्ति का कारक होता है।

व्यक्ति के प्रतिसमय कुछ न कुछ क्रियात्मक परिणमन या परिस्पन्दन होता रहता है, जो शुभाशुभ भावों की अपेक्षा शुभाशुभ कर्मों का आस्रव करता रहता है। जो क्रियाएँ संसार के दु:खों से मुक्त करें वे धार्मिक क्रियाएँ हैं और जो संसार भ्रमण का कारण बने वे धार्मिक क्रियाएँ नहीं हैं। धार्मिक क्रियाएँ मन को विशुद्ध बनाने में सहायक होती हैं। मन की विशुद्धि मोक्ष मार्ग प्रशस्त करती है। अत: धार्मिक क्रियाओं का विज्ञान समझकर व्यक्ति को उन धार्मिक क्रियाओं के सम्यक् क्रियान्वयन में संलग्न रहना चाहिए।

धार्मिक क्रियाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1- मुनियों की धार्मिक क्रियाएँ

2-श्रावक की धार्मिक क्रियाएँ

1- मुनियों की धार्मिक क्रियाएँ - पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार का चारित्र ही तेरह क्रियाएँ हैं। अर्हदादिक की भक्ति, ज्ञानियों का वात्सल्य, श्रमणों के प्रति वन्दना, अभ्युत्थान, अनुगमन, वैयावृत्त्य करना, आहार व नीहार, तत्त्वविचार, धर्मोपदेश, पर्व के दिनों में उपवास, चातुर्मास योग, शिरोनति व आवर्त, आदि कृतिकर्म सहित

प्रतिदिन देववन्दना, स्वाध्याय, रात्रियोग धारण, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि ये सब क्रियाएँ शुभोपयोगी साधु के प्रमत्त अवस्था में होती हैं।

मुनियों की धार्मिक क्रियाओं का वैज्ञानिक प्रभाव – जैनमुनि वस्तुतः प्रकृति पुरुष होते हैं। वे प्रकृति के अनुरूप ही आचरण करते हैं। उनका पदविहार, शयन, निहार, अस्नान व्रत, केशलोंच आदि क्रियाएँ जहाँ पर्यावरण को प्रदूषण से बचाती हैं, वहीं गाँव–गाँव, जन–जन तक धार्मिक क्रियाओं से सुख शान्ति का संदेश देती हैं। इनका आहार पूर्ण वैज्ञानिक होता है। गर्म पानी, खड़े–खड़े कर–पात्र में एक बार आहार चर्या स्वास्थ्य वर्धक, सात्विक विचारों एवं सकारात्मक चिन्तन की जनक होती है।

डॉक्टर स्वस्थ्य रहने के लिए पानी गर्म करके पीने का निर्देश करते हैं। जिसे जैन मुनि करोड़ों वर्ष से जो आहार–विधि अपना रहे हैं आज उसी आहार विधि की वैज्ञानिक पुष्टि कर रहे हैं। हित–मित–प्रिय सम्भाषण, गुप्तियाँ, समितियाँ देखकर चलना, उठाना रखना, जल और मिट्टी के बिना कोई भी वस्तु बिना दी हुई ग्रहण नहीं करना, सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना रखने से सभी जगह शान्ति का वातावरण बनता है।

इनकी चर्या आत्मनिर्भर बनने का संदेश देती है। इनके संदेश विश्व शान्ति के मूल मन्त्र हैं। इनका परिग्रह रहित जीवन संक्लेश परिणामों से बचाता है। संक्लेश परिणाम शुगर, ब्लेडप्रशर, आदि अनेक रोगों को जन्म देते हैं। ब्रह्मचर्य इनके जीवन के उत्कर्ष की प्रथम सीढ़ी है। अनैतिकता, दुराचार के दूषित वातावरण में आपका ब्रह्मचर्य व्रत निर्दोष पालन हो रहा है। इससे एड्स जैसे जानलेवा रोगों से बचा जा सकता है। मुनि जीवन पूर्ण वैज्ञानिक और प्राकृतिक है, इनकी क्रियाओं का प्रभाव सामान्यजन पर भी पड़ता है, जिससे वे सन्मार्ग पर चल रहे हैं ।

2–श्रावक की धार्मिक क्रियाएँ – शुभाशुभ कर्मों के आस्रव में शुभाशुभ क्रियाओं को कारण माना है। ये क्रियाएँ अनेक हैं किन्तु तत्त्वार्थ–सूत्रकार आचार्य उमास्वामी महाराज ने छठवें अध्याय के पाँचवें सूत्र में आस्रव के भेदों का कथन करते हुए पच्चीस क्रियाओं का वर्णन किया

है। 1-सम्यक्त्व क्रिया, 2-मिथ्यात्वक्रिया, 3-प्रयोगक्रिया, 4-समादानक्रिया, 5-ईर्यापथक्रिया, 6- प्रादोषिकीक्रिया, 7-कायिकीक्रिया, 8-आधिकरणिकीक्रिया, 9-पारितापिकीक्रिया, 10-प्राणातिपातिकीक्रिया, 11दर्शनक्रिया, 12-स्पर्शनक्रिया, 13-प्रात्ययिकीक्रिया, 14-समन्तानुपातक्रिया, 15-अनाभोगक्रिया, 16-स्वहस्तक्रिया, 17-निसर्गक्रिया, 18-विदारणक्रिया, 19-आज्ञाव्यापादिकीक्रिया, 20-अनाकांक्षक्रिया, 21-प्रारम्भक्रिया, 22-पारिग्राहिकीक्रिया, 23-मायाक्रिया, 24-मिथ्यादर्शनक्रिया, 25-अप्रत्याख्यानक्रिया ये पच्चीस क्रियाएँ कार्य-कारण के भेद से अलग-अलग भेद को प्राप्त होकर इन्द्रियादिक कर्म के आस्रव के द्वार हैं। इसमें सम्यक्त्वक्रिया की व्याख्या करते हुए श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि

चैत्यगुरुप्रवचन पूजादि लक्षण सम्यक्त्ववर्धनी सम्यक्त्वक्रिया।

अर्थात् चैत्य, गुरु, शास्त्र की पूजादि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व की क्रिया है। ये क्रियाएँ शुभाशुभ आस्रव के प्रसंग में कही गई हैं, अतः ये शुभाशुभ रूप हैं। ये मुनि और श्रावक दोनों को समान रूप से प्रभावी होती हैं किन्तु त्रेपन क्रियाएँ श्रावकों के लिए ही कहीं हैं जिसमें आचार्यों की मत भिन्नता दिखाई देती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार में श्रावक की त्रेपन क्रियाएँ इस प्रकार कही हैं।

गुणवय तव सम पडिमा दाणं जलगालणं अणत्थमियं ।
या दसण णाण चरित किरिया तेवण्ण सावया अणिया। 153।

आठ मूलगुण, बारहव्रत, बारह तप, समताभाव, ग्यारह प्रतिमा, चारदान, पानी छानकर लेना, रात्रि भोजनत्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन करना। ये श्रावक की त्रेपन क्रियाएँ हैं। आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में श्रावक की क्रियाएँ इस प्रकार कही हैं।

ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः श्रावकाध्याय-संग्रहे।
सद्दृष्टिभिरनुष्ठेयामहोदकांः शुभावहाः।50 ।
गर्भान्वयक्रियाश्चेव तथा दीक्षान्वय क्रियाः ।

कर्तृन्वयक्रियाशश्चेति तास्त्रिधैवंबुधैर्मताः ।। 51 ।।

जैनदर्शन में आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण के 38वें सर्ग में कहा है कि श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए श्रावकाध्याय संग्रह में तीन प्रकार की क्रियाएँ कही हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषों को इन क्रियाओं का पालन अवश्य करना चाहिए। ये उत्तम फल देने एवं शुभ करने वाली हैं।

1. गर्भान्वय क्रिया 2. दीक्षान्वय क्रिया 3. कत्रन्वय क्रिया।

1. गर्भान्वय क्रिया- ये क्रियाएँ तिरेपन हैं -

1.आधान, 2.प्रीति, 3.सुप्रीति, 4.धृति, 5.मोद, 6.प्रियोद्भव, 7.नामकर्म, 8.बहिर्यान, 9.निषधा, 10.प्राशन,11. व्युष्टि,12. केशवाप, 13.लिपि संख्यान, 14.उपनीति, 15.व्रतचर्या, 16.व्रतावतरण, 17.विवाह, 18.वर्णलाभ, 19. कुलचर्या, 20. गृहीशिता, 21. प्रशान्ति, 22. गृहत्याग, 23. दीक्षाद्य, 24.जिनरूपता, 25.मौनाध्ययनवृति 26. तीर्थकृत भावना, 27. गुरुस्थानाभ्युगम, 28. गणोपग्रहण, 29.स्वगुरुस्थान संक्रान्ति, 30.निःसंगत्वात्म भावना, 31.योगनिर्वाण सम्प्राप्ति, 32. योगनिर्वाणसाधन, 33. इन्द्रोपपाद, 34.अभिषेक, 35.विधिदान, 36. सुखोदय, 37. इन्द्रत्याग, 38. अवतार,39. हिरण्योत्कृष्टजन्मता, 40. मन्दरेन्द्राभिषेक,41. गुरुपूजोपलम्भन, 42. यौवराज्य, 43. स्वराज्य, 44.चक्र लाभ, 45. दिग्विजय, 46.चक्राभिषेक, 47.साम्राज्य, 48. निष्क्रान्ति, 49. योगसन्मह, 50.आर्हन्त, 51. तद्विहार, 52.योगत्याग, 53. अग्र निवृत्तिता ।

2. दीक्षान्वय क्रिया - ये क्रियाएँ अड़तालीस हैं -

1.अवतार, 2.व्रतलाभ, 3..स्थानलाभ, 4. गणग्रहण, 5.पूजाराध्य, 6.पुण्ययज्ञ, 7.दृढ़चर्या, 8.उपयोगिता,9.उपनीति, 10.व्रतचर्या, 11.व्रतावतरण, 12.विवाह, 13.वर्णलाभ, 14. कुलचर्या, 15. गृहीशिता, 16.प्रशान्ति, 17. गृहत्याग,18.दीक्षाद्य, 19.जिनरूपता, 20.मौनाध्ययनव्रतत्व 21.तीर्थकृत भावना, 22.गुरुस्थानाभ्युगम, 23. गणोपग्रहण, 24. स्वगुरुस्थान संक्रान्ति, 25.निःसंगत्वात्मभावना, 26.योगनिर्वाण सम्प्राप्ति, 27.योगनिर्वाणसाधन, 28.इन्द्रोपपाद, 29.अभिषेक, 30.विधिदान, 31.सुखोदय, 32.इन्द्रत्याग, 33. अवतार,

34.हिरण्योत्कृष्टजन्मता, 35.मन्दरेन्द्राभिषेक, 36. गुरुपूजोपलम्भन, 37.यौवराज्य, 38.स्वराज्य, 39.चक्रलाभ, 40.दिग्विजय,41.चक्राभिषेक, 42.साम्राज्य, 43. निष्क्रान्ति,44.योगसन्मह, 45.आर्हन्त, 46.तद्विहार, 47.योगत्याग,48.अग्र निवृत्तिता ।

3.कत्रन्वय क्रिया- ये क्रियाएँ सात हैं -

1.सज्जाति, 2. सद्गृहित्व, 3. पारिव्राज्य, 4. सुरेन्द्रता, 5. साम्राज्य, 6. परमार्हन्त्य, 7. परमनिर्वाण।

ये क्रियाएँ पुण्य करने वाले लोगों को प्राप्त हो सकती हैं और जो समीचीन मार्ग की आराधना करने के फलस्वरूप प्रवृत होती हैं। ।

विज्ञान - किसी विषय के सिद्धान्तों का विशेष रूप से विवेचित ज्ञान, विज्ञान कहलाता है। विज्ञान विशेष ज्ञान को कहते हैं। यह पदार्थ की सूक्ष्म विवेचना करता है। केवलज्ञानी परमोत्कृष्ट वैज्ञानिक होते हैं। वे पदार्थ के स्वरूप के सम्पूर्ण ज्ञाता होते हैं। उनके उपदेश से प्राप्त ज्ञान के द्वारा आचार्यों ने कार्य, क्रिया विधि, एवं विधिविधान का निर्धारण किया है। जिनके गूढ़ रहस्यों को हम अपनी अज्ञानता के कारण नहीं जान पा रहे थे किन्तु वर्तमान में अनुसंधान कर्ताओं ने जो उपलब्धियाँ प्राप्त की उनके आधार पर उन्हें धर्म और अध्यात्म स्वीकार होता जा रहा है। जब तक शोध नहीं किया गया था तब तक धार्मिक क्रियाएँ रूढ़िवाद लगती थी। किन्तु जब उनका मर्म समझ में आया तब धार्मिक क्रियाओं के प्रति आस्था दृढ़ होती गई। आज वैज्ञानिक जो वर्षों के श्रम से नवीन शोधकर रहे हैं जैनाचार्यों ने उन्हें सैकड़ों वर्ष पहले बता दिया था।

धार्मिक क्रियाओं का वैज्ञानिक पक्ष - कोई भी धार्मिक क्रिया निष्प्रयोजनीय नहीं है। जीवन को ऊर्जावान बनाने के लिए सभी आवश्यक क्रियाओं को करने का जो सिद्धान्त पूर्वाचार्यों ने निर्धारित किया है, उसे ही आज वैज्ञानिक बहुत श्रम करके उनकी सिद्धि कर रहे हैं और नयी खोज बताते हैं। आगम ग्रन्थों में वर्णित श्रावक की धार्मिक क्रियाओं रूढिवाद या पिछड़ी, विचारधारा बताने वाली युवा पीढ़ी विज्ञान को आधार बना कर उन्हीं क्रियाओं को करने के लिए बाध्य हैं। इन

धार्मिक क्रियाओं के वैज्ञानिक पक्ष पर दृष्टि डालते हैं।

शान्तिधारा – भगवान के समक्ष मंत्रोच्चार पूर्वक धारा देने में ऐसी विद्युत शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द शान्त हो जाता है। नैतिक भावनाओं का उदय होता है। अनैतिक वासनाओं का दमन होकर नैतिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। ज्ञान का प्रकाश व्याप्त हो जाता है। मंत्रों के निरन्तर उच्चारण स्मरण और चिन्तन से आत्मा में अनेक प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जिसके द्वारा भावों की विशुद्धि, आत्मशोधन एवं मन के विकारी भाव समाप्त हो जाते हैं। मानसिक, वाचनिक, कायिक अन्तरंग एवं बाह्य दोष लगने पर शान्तिधारा कर दोषों का शमन किया जाता है।

गर्भाधान संस्कार – गर्भ धारण की योग्यता गर्भाधान है। वह जिन कारणों से प्रकट होती है उन कारणों से गर्भाधान शक्ति को जानकर जो क्रिया की जाती है, वह गर्भाधान क्रिया है। जैसे महल की स्थिरता नींव से होती है वैसे ही मानसिक और शारीरिक शुद्धि गर्भाधान से ही प्रारंभ होती है। तीर्थकर के गर्भ में आने के छह माह पहले से देवियाँ आकर गर्भाधान संस्कार करने लगती हैं। गर्भाधान संस्कार से बालक शारीरिक, मानसिक रूप से बलिष्ठ, दीर्घायु, स्वस्थ, निरोग एवं शीघ्र बौद्धिक विकास करने वाला होता है ।

प्रीति संस्कार – गर्भस्थ शिशु के प्रति वात्सल्य एवं उसे सुसंस्कार देने का भाव रखना प्रीति संस्कार है। इस अवस्था में माँ के स्नेह, प्रीति, प्रसन्नता एवं संस्कारित सन्तान उत्पन्न करने की भावना, आने वाली संतान को पुष्टता प्रदान करती है। गर्भवती को गर्भस्थ शिशु, परिजन, एवं जिनेन्द्र भगवान की भक्ति पूजा, पाठ, आराधना एवं स्वाध्याय में प्रीति करना चाहिए जिससे गर्भस्थ शिशु का बौद्धिक विकास होता है।

सुप्रीति (पुंसवन) संस्कार – भगवती आराधाना में कहा है –

मासेण पंच पुलगा ततो हुति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवगाणि य पारस्स जायति गब्भमि। 1003 ।

गर्भ में स्थित माता का रज और पिता का वीर्य रूप बीज दस

दिन तक कलल रूप में, दस दिन तक कालिमा रूप में, एवं दस दिन तक स्थिर अवस्था में रहता है। इसके पश्चात एक मास तक बुलबुले की तरह, एक मास तक घनभूत अर्थात् कठोर रूप एवं एक मास में मांस के पिण्ड रूप होता है।

पाँचवें मास में उस मांस पिण्ड में से दो हाथ, दो पैर, और सिर के रूप में पाँच अंकुर निकलते हैं। छटवें मास में उसके अंग और उपांग बनते हैं। (अंग–दो पैर, दो हाथ, एक नितम्ब, एक छाती, एक पीठ, और एक सिर। उपांग– कान, नाक, गाल, ओठ, आँख और अंगुलि आदि।) पाँचवें मास में शिशु के अंगोपांग बनते हैं अत: गर्भवती को प्रीति पूर्वक शिशु के संरक्षण, संवर्द्धन एवं संस्कारित करने का भाव होना सुप्रीति संस्कार है। गर्भवती के भावों की विद्रुपता, संक्लेशता एवं कठोरता से शिशु के अंगोपांग विकृत होते हैं। सुप्रीति संस्कार गर्भवती के मन को प्रशस्त करता हैं। जिससे बालक सर्वाग सुन्दर एवं बलवान होता है।

धृति संस्कार – भगवती आराधना में कहा है –

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिण्यती।
दणमट्ठममासे णवमे दसमे यणिग्गमण। 1004।

सातवें मास में उस गर्भस्थ पिण्ड पर चर्म, नख और रोम बनते हैं। आठवें मास में उसमें हलन चलन होने लगता है। नौवें अथवा दसवें मास में उसका जन्म होता है। अत: सातवें मास में मन की स्थिरता के लिए धृति संस्कार किया जाता है।

गर्भ बढ़ने एवं हलन–चलन से शारीरिक विषमता के कारण परिणाम विचलित न हो अत: धैर्य धारण करने एवं गर्भ की पुष्टता के लिए जहाँ शरीर की स्वस्थता अनिवार्य है वहीं मानसिक प्रसन्नता भी आवश्यक होती है। अत: गर्भवती की प्रसन्नता एवं धार्मिक वातावरण से मन को दृढ़ता प्रदान करने के लिए धृति संस्कार किया जाता है। गर्भवती के इस अवस्था में स्वप्र और दोहला उत्पन्न होते हैं। जिससे गर्भस्थ शिशु के भविष्य, प्रकृति एवं व्यक्तित्व के विषय की जानकारी होती है। इससे

इस संस्कार के माध्यम से गर्भवती का मन विशुद्ध बनाया जाता है।

मोद-संस्कार (गोद भराई)- गर्भावस्था की पीड़ा का विस्मरण, शिशु के आने का उत्साह एवं माँ बनने का कर्तव्य बोध कराने के लिए गर्भवती को वस्त्राभूषण प्रदान कर उसके मन को प्रसन्न रखना मोद संस्कार है। माँ की प्रसन्नता से गर्भस्थ बालक ऊर्जावान बनता है अत: प्रसव में कोई बाधा नहीं होती है।

इस संस्कार में गर्भवती की गोद में मांगलिक द्रव्य, मेवा, वस्त्र, आभूषण से भरकर शिशु के आने की कामना की जाती है। मांग में सिंदूर भरने की क्रिया की जाती है अत: इसे सीमन्तनी क्रिया कहा जाता है।

नामकर्म- नाम के अनुरूप गुण न होने पर भी लोक व्यवहार के लिए नामकरण किया जाता है। वह नामनिक्षेप कहलाता है इसके बिना लोकव्यवहार नहीं चलता है। श्रेष्ठ नामकरण उसका उच्चारण करने वाले की वाणी एवं मन ने संस्कार और प्रभाव प्रदान करता है। अच्छा नाम होने से बालक भी प्रसनता एवं गौरव का अनुभव करता है तथा नाम अच्छा न होने पर वह खेद, दीनता एवं हीन भावना से भर जाता है। अत: विधि पूर्वक श्रेष्ठ नामकरण करना चाहिए। इससे उसका नाम सभी लोगों में प्रचलित हो जाता है।

वहिर्यान संस्कार- नवजात शिशु के शरीर में खुले वातावरण की जलवायु को अचानक सहन करने की शक्ति नहीं होती है। । उसे अनेक संक्रमण होने की संभावना रहती है अत: बालक को सावधानी पूर्वक बाहर लाते हैं। उसका जीवन श्रेष्ठ बने इसलिए सर्वप्रथम मंदिर ले जाना चाहिए। वह बालक जिनेन्द्रभगवान के दर्शन कर अपनी जीवन यात्रा प्रारंभ करता है। यह प्रथम जिनेन्द्रभगवान का दर्शन उसके जीवन का मंगलाचरण है।

निषद्या संस्कार - इस संस्कार में बालक को पहली बार बैठाने की क्रिया की जाती है। इसमें बालक के जीवन को क्रियाशील, गतिशील, सक्रिय एवं विकसित कर पद्मासन आदि आसनों में बैठकर वह जाप, ध्यान आदि के माध्यम से कर्मक्षय एवं मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने की

भावना की जाती है।

अन्नप्राशन संस्कार – जन्म से माँ का दूध ही बालक का आहार होता है किन्तु छह माह के बाद उसका शारीरिक विकास होने से पाचनतंत्र भी विकसित हो जाती है अतः उसे ठोस आहार की आवश्यकता होती है। वह ठोस आहार भी सुपाच्य, मर्यादित, शाकाहारी आदि गुणों से सहित हो। इस प्रथम आहार ग्रहण का प्रक्रिया को अन्नप्राशन संस्कार के रूप में किया जाता है जिससे उसका आहार जीवन भर व्यवस्थित एवं संतुलित रहे।

व्युष्टि (वर्षवर्धन) क्रिया – व्युष्टि (वर्षवर्धन) क्रिया वर्षगाँठ को कहते हैं। बालक एक वर्ष में सभी ऋतुओं के प्रभाव से अनुकूलता बनाकर जीवन यात्रा को कुशलता पूर्वक पूर्ण करने के संकेत देता है। अतः हम हर्ष मनाते हैं। वर्षगाँठ मनाना हमें संदेश देता है कि हमारी आयु से एक वर्ष कम हो गया है। आपको संसार के माया जाल में न उलझ कर आत्म कल्याण का मार्ग अपनाना चाहिए। व्युष्टि (वर्षवर्धन) क्रिया जहाँ वृद्धि, विकास, उत्थान का द्योतक है और उत्साह, उमंग एवं कर्तव्यबोध कारक है वहीं आयु ह्रास सिद्धान्त का भी सूचक है, जो जीवन यात्रा का दिग्दर्शन करता है।

केशवाष्प (चौलकर्म) क्रिया – गर्भ के विविध रसायनों से बालक का समस्त शरीर प्रभावित रहता है। बार–बार मालिश आदि करने से शरीर की चमड़ी निकल जाती है और नई चिकनी चमकदार चमड़ी आ जाती है। किन्तु बालों का परिवर्तन मुण्डन संस्कार के द्वारा ही होता है। इससे सिर के रोम छिद्र खुल जाने से नये, घने एवं स्वस्थ बाल आ जाते हैं।

इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य जैन श्रमणों की निर्ग्रन्थ परम्परा को वृद्धिंगत करना है। इसके माध्यम से मुनियों के केशलोंच के संस्कार दिये जाते हैं। इसलिए यह संस्कार प्रायः तीर्थक्षेत्रों पर ही किया जाता है।

लिपिसंख्यान संस्कार – शिक्षा ग्रहण के योग्य बालक का स्वस्थ मानसिक विकास पाँच वर्ष की आयु तक ही हो पाता है। अतः पाँचवें

वर्ष में लिपिसंख्यान संस्कार करना चाहिए। इसका उद्देश्य शिक्षा प्राप्तकर जैनागम के अध्ययन से आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। यह संस्कार जिनवाणी रूप सत्साहित्य की अभिवृद्धि का कारण है। इस संस्कार से बालक दूषित साहित्य से बचता है।

शिक्षा जहाँ विचारों की अभिव्यक्ति, संस्कारित जीवन शैली, सत्साहित्य के अध्ययन से वस्तु स्वरूप के ज्ञान का कारण होती है वहीं नव चिन्तन पूर्वक पूर्वाचार्यों के विचारों को सरल, देशमय भाषा में जन-जन तक पहुँचाने के लिए साहित्य सृजन में भी सहायक होती है।

उपनीति (यज्ञोपवीत) संस्कार - यज्ञोपवीत, ब्रह्मसूत्र, श्रावक का चिह्न, रत्नत्रय का सूचक, एवं यज्ञचिह्न के रूप में जाना जाता है। इस संस्कार से बालक धर्म के प्रति आस्थावान एवं क्रियावान बनता है। इसे सम्यक्त्व अर्हत संस्कार भी कहते हैं। जैन परम्परा में आठ वर्ष के बाद बालक को सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य कहा है अत: आठ वर्ष का होने पर वह अभिषेक, पूजा एवं आहार दान आदि का अधिकार प्राप्त करता है। यह संस्कार बालक के जीवन का महत्त्वपूर्ण संस्कार है जिससे वह मोक्षमार्ग पर चलने के लिए सम्यक्त्वाचरण चारित्र को धारण करता है।

व्रतचर्या संस्कार - अध्ययन काल पूर्ण होने तक विषय विकारों के चिन्तन तक से बचने के लिए सामान्य श्रावकोचित संयमाचरण को धारण करना व्रतचर्या संस्कार है। जीवन को पापों, नैतिक पतन और नवयौवन के परिवर्तनों को विकार मार्ग पर जाने से बचाने के लिए तथा तेजस्वी व्यक्तित्व, शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए व्रतचर्या संस्कार महत्त्वपूर्ण है ।

विवाह संस्कार - सागारधर्मामृत श्लोक नं. २ में कहते हैं -

धर्म सन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्त कुलोन्नतिम्।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥ 60 ॥

अर्थात् धर्म के लिए सन्तान को अथवा धर्म परम्परा चलते रहने को, विघ्न रहित स्त्री संभोग को, चारित्र तथा कुल की उन्नति को और देव, गुरु, अतिथि आदि के सत्कार को चाहने वाले पाक्षिक श्रावक को

प्रयत्न पूर्वक उत्तम कन्या से विवाह करना चाहिए। विवाह के मूल उद्देश्य को गृहस्थ धर्म अन्त तक नहीं भुलाना चाहिए।

श्री सोमदेवसूरि ने नीतिवाक्यामृत में लिखा है कि विवाह करके दाम्पत्य जीवन प्रारम्भ करना चाहिए क्योंकि विवाह के अनेक सुफल है। जैसे–धर्म संतति, (धार्मिक संतान के द्वारा) निर्वाध संभोग जिससे आवारागर्दी से बचाव होता है। चारित्र का उन्नत होना, वंश परम्परा का चलना, अतिथि सत्कार–अतिथि में मुनि व्रती आदि बन्धु–बान्धव आदि आगन्तुकों का सत्कार पत्नि के द्वारा ही संभव है अतः दाम्पत्य जीवन, धर्म और समाज के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। जहाँ–जहाँ धर्म है, वहाँ–वहाँ दाम्पत्य जीवन अवश्य रहता है। दाम्पत्य जीवन की परम्परा अनादिकाल से है। इस परम्परा का निर्दोष, निर्वहन करके धर्म और समाज को उन्नत बनाकर अपने दाम्पत्य जीवन को सफल और आदर्श बनाना चाहिए। पत्नि की भूमिका गृहस्थ जीवन में सहचर के रूप में रही है। वह अपने पति की मित्र, सलाहकार, एवं संरक्षिका के रूप में प्रतिष्ठित होती है। पलि के समान व्यक्ति का कोई बन्धु नहीं होता है ।

वर्णलाभ संस्कार –विवाह के बाद आजीविका, धार्मिक कार्यों की जिम्मेदारियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा, पारिवारिक कर्तव्यों के प्रति निष्ठा, स्वतंत्रता एवं उत्साह के लिए पिता बालक को समुचित धन सम्पति एवं आवास आदि देता है वह वर्णलाभ संस्कार है। इससे बालक का मनोबल, आत्मबल एवं इच्छाशक्ति जाग्रत होती है जो उसके चहुमुखी विकास के कारण होते हैं।

शिलान्यास – गृहारंभ के बाद नींव में शिला स्थापित करना शिलान्यास है। इसे विधि विधान पूर्वक करना चाहिए क्योंकि भवन निर्माण में नींव का बहुत महत्व होता है। शुभ मुहूर्त में रखी गई नींव में पारा, हल्दी, सुपारी, पीला सरसों, स्वस्तिक, कलश जलते हुए दीपक रखने से जहाँ भवन को सुदृढ़ बनाकर शीघ्र निर्माण की पूर्णता करती है वहीं उसमें रहने वालों की सकारात्मक ऊर्जा प्रदान कर उनके मन को प्रशस्त रखती है।

मंत्रोच्चारण पूर्वक रखी गई शिला मंत्रित होकर जो भवन बनाती है, उसमें रहने वाले शुभ परिणामों से सुख पूर्वक जीवन यापन करते हैं। उनके भाव सदैव वात्सल्य, दया, स्नेह एवं धर्ममय होते हैं। जो व्यक्ति की प्रगति के कारण बनते हैं। वैज्ञानिकों ने डाउजिंग के द्वारा भूमि की ऊर्जा का परिज्ञान करके उसकी नकारात्मक ऊर्जा को सकारात्मक ऊर्जा में परिवर्तित के लिए पारा आदि डालने का निर्देश दिया है जिसे जैनाचार्यों ने बहुत पहले शास्त्रों में लिख दिया था।

गृहप्रवेश– नवनिर्मित गृह में निवास करने के लिए जाना गृहप्रवेश है। गृह जहाँ श्रावक धर्म पालन का साधन है वहीं मुनि धर्म में सहायक होता है। श्रमण संस्कृति उन्नयन में गृह का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गृहप्रवेश के समय की जाने वाली धार्मिक क्रियाओं से घर सकारात्मक ऊर्जा से भर जाता है। हवन का धुआँ, केशर से बनाए गये स्वस्तिक एवं वन्दनवार आदि लगाने से पूरा घर जाग्रत हो जाता है।

गृहप्रवेश शुभमुहूर्त में करने से सात्विक विचार, साधु की आहार चर्या, व्रतों का पालन, सुसंस्कारों का उद्भव एवं परस्पर में वात्सल्य का प्रादुर्भाव होता है। वास्तुशान्ति संस्कार– शान्तिधारा, शान्ति मंत्र का 21 हजार जाप, शान्ति विधान, वास्तु शुद्धि विधान,एवं वास्तु शान्ति मंत्रों से हवन एवं दशांश आहुति देना और सम्पूर्ण घर की शुद्धि एवं सकरात्मक ऊर्जा प्रदीप्त करना वास्तुशान्ति संस्कार है। – घर में किसी प्रकार का विघ्न, उपसर्ग, कलह, तनाव, प्राकृतिक प्रकोप, हत्या, आत्महत्या एवं वास्तु दोष आदि होने पर वास्तुशान्ति संस्कार किया जाता है। इससे उपद्रव शान्त होते हैं। वातावरण अनुकूल होता है। अशुभ कर्मों का प्रभाव एवं शत्रुओं का विद्वेष कम हो जाता है। वात्सल्य भाव, प्रेम, स्नेह आदि सकारात्मक विचारों का प्रादुर्भाव होता है।

धार्मिक क्रियाएँ और उनका महत्व – ऊर्जा विज्ञान ने भी सिद्ध किया है कि जिस भावना से प्ररित होकर हम कार्य करते हैं वहाँ का वायुमण्डल हमारे आभामण्डल से निकली किरणों से उसी प्रकार का हो जाता है। एवं वहाँ उपस्थित प्राणियों को उसी अनुसार प्रभावित भी करता है।

अर्थात् शुभ भावों से किए गये धार्मिक कार्यों का परिणाम शुभ होता है, जो हमारी अन्तर्दशा को बदलता है। जिन क्रियाओं से परिणाम विशुद्ध होते है, वातावरण ऊर्जावान् बनता है और सब जीवों की कल्याणकारी होती हैं वे धार्मिक क्रियाएँ कहलाती हैं। आचार्यों ने ऐसी अनेक क्रियाओं का कथन किया है।

आदिपुराण में जिनसेनाचार्य जी ने धर्मकथा के उपदेश, गर्भाधान आदि संस्कारों की विधि एवं कृषि आदि कार्य करने को अनुष्ठान कहा है। विधि, पद्धति, नियम, ढंग, तरीका भी कह सकते हैं। तीनों सन्ध्याओं में विधिविधान पूर्वक की जाने वाली महापूजा विधान कहे जाते हैं। मंत्रों के जाप एवं उनकी दशांश आहुतियों के द्वारा जो मंत्राराधन किया जाता है वह अनुष्ठान कहलाता है।

विधि–विधान जाप अनुष्ठान पूर्वक किये जाते हैं। जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, आत्माराधन, अशुभकर्म संयोगों की शान्ति, भावों की विशुद्धि, धर्मप्रभावना, सभी जीवों के सुखी होने की कामना, प्रकृति प्रकोप, उपसर्ग, दुष्काल के दु:खों, आपत्ति विपत्ति के निराकरण के लिये भी विधि विधान किये जाते हैं। इन अनुष्ठानों को दस भागों में विभाजित किया जा सकता है :–

1. पंचकल्याणक, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मंदिर वेदी कलशारोहण आदि।
2.सिद्धचक्र , इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र आदि विधान ।
3. व्रताराधना, उद्यापन विधान।
4. गृहशुद्धि, गृहप्रवेश, शान्तिकर्म आदि।
5. जन्मदिन, नामकरण, विवाह, अन्तिम संस्कार।
6. गीतों, भजनों, संगीत के माध्यम से किये जाने वाले अनुष्ठान।
7. अभिषेक पूजन में आत्माराधना, गुणानुवाद या मनोकामना पूर्ति के उपाय।
8. चौबीस समवशरण, चौबीस इन्द्रों, चक्रवर्तियों द्वारा किया गया अनुष्ठान।

इनके माध्यम से धर्म प्रभावना, कर्म निर्जरा, भाव विशुद्धि, कार्य सिद्धि के साथ सुख वैभव एवं सद्गति की प्राप्ति होती है।

पंचकल्याणक का वैज्ञानिक प्रभाव– पंचकल्याणक महोत्सव में तीर्थंकर के जीवन का चित्रण किया जाता है। जिस प्रकार नाटक या चलचित्र देखते समय हम उस रूप हो जाते हैं। पात्र हमारे परिचित होते हैं वे रूप बदल कर अभिनय करते हैं। हम उनका असली परिचय भूलकर उनके अभिनय का ही रूप स्वीकार कर अपने भावों की अभिव्यक्ति भी वैसे ही करके भावों को शुभाशुभ रूप करते हैं। उसी प्रकार हम पंचकल्याणक महोत्सव में तीर्थंकर के जीवन चरित्र को देखकर अपने परिणामों को विशुद्ध करते हैं। सामान्य मनुष्य कैसे अपने जीवन को उच्च शिखर पर ले जाता है? या वह मनुष्य से कैसे भगवान् बन जाता है? यह सब देखकर अपने जीवन को अशुभ कार्यों से बचाकर धार्मिक कार्यों में लगता है और जीवन को श्रेष्ठ बना लेता है। पंचकल्याणक आदि धार्मिक अनुष्ठान मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। ऐसा प्रचुरता से देखा जाता है।

मंत्र जाप– मंत्र, मन को सुधारने का तंत्र कहा जा सकता है। मन के तंत्र को जाग्रत करने के लिए तंत्र की आवश्यकता होती है। मंत्र जाप करने वाले के भावानुरूप आभामण्डल निर्मित होता है। मंत्र की ऊर्जानुसार आभामण्डल बदलता रहता है। मंत्र की शुभाशुभता से आभामण्डल की प्रकृति प्रभावित होती है। इसके साथ मंत्र के अक्षर ब्रह्म या नाद के कारण कई रोगों का उपचार भी किया जा सकता है। मंत्र के प्रभाव से विष भी निर्विष होते देखे गये हैं। मन की चंचलता, विकार, अशान्ति, बैर, अज्ञानता एवं अशुभ कर्मों के उदय के परिणाम आदि को भी दूर किया जा सकता है।

देव दर्शन– श्रावक देवदर्शन करने जब मंदिर जाता है, तब जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का अवलोकन करते समय दृष्टि पैतालीस ऑस की रहती है, आँखों की पलके ढीली होती हैं, परिणामतः शरीर भी ढीला होता है। सिर उठाकर मूर्ति के दर्शन करने से वीतरागी मूर्ति का का भाव श्रावक के मन पर प्रतिबिम्बित होकर वीतराग भाव जागृत करता है। इससे मन शान्त होता है और श्रावक अलग मनोवृत्ति में प्रवेश करता है।

वीतरागता के दर्शन कर मनोभाव शुद्ध हो जाते हैं नवीन कर्म टल जाते हैं।

देव पूजा –पूजक के आभामण्डल और मानसिक प्रक्षेपण के द्वारा मूर्ति और पूजक के बीच एक विद्युत मण्डल का निर्माण होता है। इस प्रकार पूजा में एक क्रिया घटित होती है, जिससे पूजक का मन प्रशस्त हो जाता है। कषाय मंद हो जाती है। जो पुराने संस्कारों को नष्ट कर नये संस्कारों का बीजारोपण करते हैं।

कम्प्युटर टाइपिंग तंत्र के अनुसार प्रथम बार टाइप किये हुए कोई भी शब्द में से कोई अशुद्ध अक्षर निकाल कर उस जगह नये शब्द या अक्षर टाइप किये जाते हैं। उसी प्रकार पूजा के समय भी यही क्रिया होती है। पुराने समय से चले आ रहे नाना प्रकार के बैर, भय, कषाय, एवं विषयासक्ति आदि संस्कार मिटाने और उनके स्थान पर समता, दया, मैत्री, अनुकम्पा, आस्तिक्य एवं भक्ति के संस्कार आने लगते हैं।

विधानादि अनुष्ठानों की वैज्ञानिकता– एक से ज्यादा दिन तक विधि पूर्वक की जाने वाली बड़ी पूजा विधान कहलाते हैं। वर्तमान में श्रावकों की यही सबसे श्रेष्ठ धार्मिक क्रियाएँ हैं। विधानों के आयोजनों में लगभग 8 या 9 दिन लग जाते हैं। इन दिनों में विधान कर्ता एक समय सात्त्विक भोजन करता है, ब्रह्मचर्य से रहता है। मंत्र–जाप कर परिणाम विशुद्ध करता है। जिससे उसके जीवन में विशेष परिवर्तन आ जाता है। एक समय भोजन से वह स्वस्थ लाभ करता है। व्यसनों से मुक्त रहता है। शरीर का शोधन हो जाता है। क्रूरता, दुष्टता आदि खोटे परिणाम समाप्त हो जाते हैं। क्रोध उत्पन्न नहीं होता है। बैर–भाव नहीं रहता है। जिससे वह अनेक रोगों से बच जाता है। लम्बे समय तक क्रोध या बैर करने से कैंसर, गंजापन, अल्सर एवं पाँव फटने की बीमारियाँ होती है।

पूजन के वस्त्र और उनकी शुद्धि – पूजन के वस्त्र श्वेत या पीत ही होने चाहिए, रंगों का भी मन मतिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है। श्वेत रंग विकार रहितता, वीतरागता, निर्मलता, शान्ति, क्षमा, संतोष, त्याग और परिष्कृत बोध का प्रतीक है। श्वेतरंग के वस्त्र पहिनने से इस प्रकार के

गुण आत्मा में प्रकट होते हैं। एक विशिष्ट आरोग्यता, ऊर्जा, प्राप्ति का अनुभव होता है। तनाव, क्रोध और क्रूरता के भावों को मिटाने के लिए ललाट एवं हृदय में श्वेतरंग का ध्यान तथा श्वेत रंग लाभ दायक होता है। श्वेतवस्त्र पहिनकर मन्त्रजाप, पूजन आदि अनुष्ठान करने से आत्म शान्ति की वृद्धि होती है।

पीलारंग प्रीति, सहिष्णुता, वात्सल्य, समर्पण और सरलता का प्रतीक है। यह रंग भाईचारे की वृद्धि करता है। नाड़ीतन्त्र की दुर्बलता को हटाने के लिए पीलेरंग की अवधारणा बहुत लाभदायक है।

काला नीला रंग क्रूरता, नीचता, दुश्चरित्रता, कायरता, दुष्टता और निर्दयता का प्रतीक है। अतः काले नीले कपड़े पहिनकर पूजादि नहीं करना चाहिए। वस्त्रों का प्रभाव मन पर पड़ता है अतः धोती दुपट्टा ही पूजन के लिए श्रेष्ठ वस्त्र कहे गये हैं। कुर्ता पायजामा, पेन्ट-शर्ट आदि पहिनने के बाद पूजा के निर्मल भाव नहीं बन पाते हैं। गीले, फटे, कटे, मैले, ऊनी, रेशमी आदि वस्त्र भी पूजन के योग्य नहीं होते हैं। वस्त्रों की शुद्धि का भी बहुत महत्व है। शुद्ध वस्त्रों से जहाँ मन शुद्ध होता है वहीं व्यक्ति अनेक रोगों से सहज ही बच जाता है। ऑपरेशन कक्ष में डॉक्टर शुद्ध वस्त्र पहिनकर ही जाता है वहाँ सामान्य वस्त्रों का निषेध रहता है।

नव तिलक - ललाट प्रदेश में आज्ञाचक्र आदि कई केन्द्रों एवं नाड़ियों का समुदाय भी अवस्थित है। यहाँ तिलक लगाने से कई शक्तियाँ जाग्रत होती हैं। आरोग्य की प्राप्ति होती है। कण्ठ स्थान में विशुद्धिचक्र होता है। इसमें अंतरंग बहिरंग स्वच्छता के तत्व रहते हैं। दोष- दुर्गुणों को दूर करने की एवं अतीन्द्रिय बोध की क्षमता यहीं होती है। नाभिप्रदेश में मणिपुर चक्र है। यह साहस, उत्साह, धैर्य और पराक्रम की वृद्धि के साथ मनोबल को भी दृढ़ करता है। हृदय स्थान पर अनाहतचक्र है। यह भाव संस्थान एवं कोमल संवेदनाओं का स्रोत है। दो कान, दो बाहु, दो कलाईयों पर तिलक लगाए जाते हैं इनका भी अध्यात्मिक और वैज्ञानिक मूल्यांकन है।

परिक्रमा - मंदिरों में शिखर, संगीत, एवं मंत्र की ध्वनियों से एकत्रित

हुई ऊर्जा–शक्ति, तैजस– विद्युत को ग्रहण करने के लिए परिक्रमा एक सशक्त माध्यम है। भगवान, गुरु या मंदिर के चारों ओर घूमते हुए उनके आभामण्डलों से अथवा उनके आसपास बह रही शुभ रूप पौद्गलिक तरंगों से सकारात्मिक ऊर्जा को ग्रहण कर प्रभावित होता है। परिक्रमाएँ तीन पाँच, सात नौ,सत्ताइस, इक्यावन एक सौ आठ आदि संख्या में भी लगाई जाती हैं। इनका भी अपना प्रभाव व महत्व है।

घण्टा ध्वनि– घण्टे पर जब आघात पड़ता है तो उसके इलेक्ट्रॉन उछल कर दूर दूर तक फैलते हैं और वातावरण को प्रभावित करते हैं। ये अत्यन्त शक्तिशाली इलेक्ट्रॉन मानसिक उत्साह, उच्च मनोबल, साहस और निर्भयता जैसे भावों की शक्ति के रूप में मनुष्य को प्राप्त होते हैं। ध्वनि के साथ कम्पन अवश्य होता है अत: घण्टा बजाने वाला रोगाणुओं से मुक्त हो जाता है। सूर्यास्त के बाद वातावरण में सूक्ष्म जीवों की बहुलता हो जाती है। घण्टे की ध्वनि से उनका घात हो जाता है अत: जैन धर्म में रात्रि में घण्टा बजाना प्रतिबंधित है।

बर्लिन विश्वविद्यालय में 1928 के प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि घण्टा या शंख ध्वनि से बैक्टीरिया नष्ट हो जाते हैं। 27 घन फुट प्रति सेकेण्ड वायु शक्ति वेग से घण्टा या शंख बजाया जाए तो 1200 फु ट दूरी तक के बैक्टीरिया नष्ट हो जाते हैं। प्राचीन काल में रोग आदि फैल जाने पर घण्टा पर मंत्र लिखकर जोर जोर से बजाया जाता था जिससे सभी जीव रोग मुक्त हो जाते थे घण्टा नाद बहुत लाभदायक, आरोग्यप्रद, स्फूर्तिदायक और चेतनाशक्ति में वृद्धि करने वाला होता है।

अभिषेक और गन्धोदक – जिनाभिषेक वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध हो चुका है। प्रत्येक धातु की अलग–अलग चालकता होती है। अत: जब धातु की प्रतिमा पर प्रासुक जल की धारा करते हैं तो धातु के सम्पर्क से जल का आयनीकरण होता है, जिसके कारण निकलने वाले ऋणाआयनों को शरीर ग्रहण करता है। जो शरीर में स्थित स्वास्थ रक्षक हीमोग्लोबिन में वृद्धि करते हैं। धातु में न्यूट्रीन इतने सूक्ष्म परिणाम के होते हैं कि वे दूसरे कणों से प्रभावित नहीं होते हैं। लेकिन उन में एक निश्चित ऊर्जा

होती है। जब किसी प्रतिमा पर पानी डालने पर वे ऊर्जा कण पानी में आ जाते हैं। परिणाम स्वरूप वह पानी अभिषेक जन के रूप में महत्वपूर्ण हो जाता है।

धनाणु ऋणाणु या अन्य कण इतने सूक्ष्म होते हें कि जिन्हें नंगी आँखों से नहीं देखा जा सकता है, कुछ कणों को माइक्रोस्कोप से देखा जा सकता है। मूर्ति धातु की हो या पाषाण की उस पर जल गिरने से रासायनिक क्रिया होती है, जिससे वह जल ऊर्जा शक्ति को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार विद्युत उत्पन्न करने के लिए पानी को बड़े बड़े यन्त्रों से संघट्टित किया जाता है,उसी प्रकार अभिषेक जल संघट्टित होने से ऊर्जामय हो जाता है। अभिषेक के समय उच्चारित मंत्रों से अभिमंत्रित जल एक साथ कई शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। प्रथम तो वह धातु स्त्रवित जल है। द्वितीय उसमें धातुओं की रासायनिक क्रिया से उत्पन्न ऊर्जा है। तृतीय मंत्र शक्ति एवं ध्वनि तरंगों का भी प्रभाव है। अभिषेक, गन्धोदक के प्रभाव से कई रोगों का निदान, बुद्धि का विकास, धैर्य–वृद्धि, समृद्धि और आर्थिक उन्नति भी होती है।

वीतराग जिनबिम्ब का सातिशय महत्व है। उसमें प्राण प्रतिष्ठा एवं सूरिमंत्र के द्वारा पवित्र पुण्य परमाणुओं का संचय और अप्रतिहत शक्ति का जागरण हो जाता है। इसीलिए जिनबिम्ब से मन्त्रपूत जल स्पर्श को प्राप्त होकर विशिष्ठ गुणों से युक्त होजाता है। उसमें बिम्बगत गुणों की प्राप्ति हो जाती है। यही कारण है कि जिनबिम्ब स्पृष्ट जल की गन्धोदक संज्ञा पड़ जाती है। इसकी आचार्यों ने विशिष्ट महिमा बतलायी है।

दीपक और आरती – दीपक के कई वैज्ञानिक रहस्य हैं। दीपक की ऊर्जा सबसे बड़ी ऊर्जी मानी गई है। उससे सतत् विद्युत प्रवाह बाह्य वातावरण की ओर होता है। जहाँ हमेशा दीपक जलता है वहाँ अतिरित ऊर्जा का प्रभाव रहता है। घी का दीपक ही श्रेष्ठ होता है क्योंकि उसकी ऊर्जा अधिक प्रभावक, शुद्ध और शक्तिशाली होती है। जलते हुए घी के दीपक की ऊर्जा शक्ति प्राणवायु के साथ शरीर में प्रविष्ट होती है,जिससे शरीर में निरोगता और स्फूर्ति आती है। उससे निकलने वाला धुआँ

आँखों की ज्योति बढाता है और कीटाणुनाशक होता है। दीपक को वातावरण में जितना घुमायेंगे, उछालेंगे उतनी अधिक ऊर्जा उत्सर्जित होती है।

संगीत–गीत और नृत्य – संगीत मनुष्य के उल्लसित मन की अभिव्यक्ति है। इसके माध्यम से मन की कुण्ठाएँ विसर्जित होती है। संगीत के द्वारा अनेक रोगों के उपचार किए जा रहे हैं। फ्रांस और अमेरिका औषधीय प्रयोग शालाओं में विज्ञानवेत्ता संगीत की भावी उपयोगिताओं को लेकर अनुसंधान कर रहे हैं। संगीत में बड़ी क्षमताएँ हैं। इतिहास में कई उदाहरण है कि संगीत से पानी बरस जाता था, अग्रि जल जाती थी, ओलावृष्टि बन्द हो जाती थी। संगीत में उत्साह, ऊर्जा और सक्रियता के साथ–साथ शरीर को निरोग बनाने की क्षमता है। जब कहीं सुन्दर संगीत बजता है तब हमारे शरीर में स्पन्दन शुरु हो जाता है। एक विशिष्ट गुदगुदा सा आनन्द आने लगता है। यह शरीर के साथ–साथ भावों– परिणमों को भी प्रभावित करता है।

संगीत के कई प्रकारों से प्रयोग हुए है । जिससे किसी भी प्रकार के भावों को उत्सर्जित किया जा सकता है। जैसे वीररस से उत्साह, भक्तिरस से भक्ति, शान्तरस से शान्ति, और श्रृंगार रस से प्रेम वात्सल्य के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। भक्तिरस से स्पन्दित व्यक्ति भक्ति प्रदर्शन नृत्य के माध्यम से करता है। नृत्य से पूरे शरीर का व्यायाम हो जाता है। पूरे शरीर में ऊर्जा प्रवाहित हो जाती है। खून प्राणवायु के साथ शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचता है। नृत्य में हाथ में लिए हुए दीपक की विद्युत पूरे शरीर के साथ वातावरण को भी प्रभावित करती है। संगीत–गीत, नृत्य–भक्ति प्रदर्शन . के साथ–साथ आत्मा को अशुभ से बचाने, शुभ में लगाने और शरीर को स्वस्थ बनाने के सशक्त साधन हैं।

मन्त्र जाप– मंत्र की आराधना से संकल्प शक्ति का विकास होता है। मंत्र जाप से बहुत शक्ति विकसित होती है। प्रबल होती है। इससे अनेक प्रकार का कवच हमारे चारों ओर बन जाता है। जिससे बाहर का आक्रमण चेतना की प्रभावित नहीं कर पाता है। आभामण्डल, लेश्याओं

का घेरा और एक विचित्र प्रकार का ओरा ये सारे हमारे शरीर के आस पास। चारों ओर एक वलयाकार में घेरा बन ज़ाता है। यह सारा मंत्र शक्ति का प्रभाव है। मंत्र एक शक्ति है ऊर्जा है। इसके माध्यम से रोगों को, आर्थिक परिस्थिति को,अन्य व्यक्तियों को, शरीर के नाड़ी तंत्र और पूरे विश्व को भी प्रभावित किया जा सकता है। सुषुम्रा आदि नाड़ियों, ग्रन्थियों के साथ–साथ आत्मा के भावों में भी परिष्कार मंत्र जाप द्वारा लाया जा सकता है। मंत्र जाप से आत्मिक शक्ति का विकास सहज की होता है।

हवन – हवन कुण्ड में अग्रि प्रजवलित करते ही यज्ञ स्थल की वायु हल्की होकर ऊपर उठती है। जिससे चारों ओर की वायु रिक्त स्थान की पूर्ति हेतु आती है। हवन पदार्थ की वाष्प उस वायु में उपस्थित जहरीली गैसों को नष्ट करके वातावरण स्वच्छ करती है। इनमें मुख्यत: सल्फर डाइ ऑक्साइड(जिससे कैंसर होता है) नाइट्रस आक्साइड, क्लोरीन, कार्बनमोनोआक्साइड आदि के प्रभाव को कम करने की अद्भुत क्षमता हवन के धुएँ में होती है।

हवन सामग्री में सुगन्धित द्रव्य जैसे जावित्रि, पाँचों चन्दन, नागरमौथा, छबीला, कपूर, शुद्ध घी आदि वनस्पितियों का प्रयोग किया जाता है। इनमें अधिक मात्रा में एल्काइटस, एमाइन्स, पिकोनिकल, साइक्लिक एवं टरपिनाइड्स रसायन पदार्थ पाये जाते हैं। हवन सामग्री के सुगन्धित द्रव्य जलने से निकले तैलीय पदार्थ की वाष्प जिसमें मुख्यत: एथिलीन आक्साइड, प्रापिलीनआक्साइड, फार्मल्डिहाइड, फिलोन, एसिटिलीन, बीटाप्रापियो लेक्टोन पाये जाते हैं, जो वायु मण्डल में प्रदूषण फैलाने वाली गैसों एवं अशुभ वर्गणाओं को नष्ट कर के वायुमण्डल को विकार रहित करते हैं। डाक्टरों ने परीक्षण के द्वारा सिद्ध किया है कि हवन से उत्पन्न गैसों में चेचक, रक्त विकार, आन्त्र रोग, निमोनिया, हैजा, तपेदिक, आदि रोगों के कीटाणु को दूर करके पर्यावरण को कीटाणु रहित करने की विशेष क्षमता है।

सभी धार्मिक क्रियाएँ किसी न किसी उद्देश्य को लिए हुए होती

हैं। इससे जहाँ मन स्वस्थ, शरीर निरोग, होता है वहीं दैनिक जीवन चर्या भी सम्यक्त्व बन जाती है। परिणाम विशुद्ध होते हैं, जिससे शुभास्त्रव होने लगता है। इन सबका कारण धार्मिक क्रियाएँ की धार्मिकता तो है ही साथ ही इनकी वैज्ञानिकता का आधार भी महत्वपूर्ण रहता है। पूर्वाचार्यों ने मानव जीवन को धार्मिक एवं सुखमय बनाने के लिए ऐसी ही क्रियाओं को धर्म का स्वरूप प्रदान किया है। आज वैज्ञानिक उनके कारणों को खोज रहे हैं और उन में वे रहस्य उद्घाटित कर रहे हैं जो उनके विज्ञान की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं। इससे वे इन धार्मिक क्रियाओं को भी महत्व देने लगे हैं।

वर्तमान में युवा पीढ़ी वैज्ञानिक तकों को ही प्रमाणीक मान लेते हैं। ऐसे युवाओं को इन धार्मिक क्रियाओं का वैज्ञानिक पक्ष महत्वपूर्ण है क्योंकि ये विज्ञान की भाषा शीघ्र समझ कर विश्वास भी करते हैं। मन्दिर, मूर्ति, अभिषेक, पूजा, भक्ति, विधान आदि समस्त धार्मिक क्रियाएँ जीवन उत्थान के प्रथम सोपान हैं। उनके बिना हम अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाते हैं, चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक । धार्मिक क्रियाएँ हमारे तन-मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं, जिससे हमारे जीवन की गति सम्यक्त्व बनी रहती है। जो धार्मिक क्रियाएँ नहीं करते हैं उनका जीवन अस्त-व्यस्त या कलह, चिन्ता, रोग और असहिष्णुता से भरा होता है। नारकियों के समान जीवन जीना पड़ता है। किन्तु धार्मिक क्रियाओं में लगा व्यक्ति स्वर्गीयसुख का वेदन यहाँ रहकर भी करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि धार्मिक क्रियाओं का हमारे जीवन पर अत्यन्त महत्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

सन्दर्भ-सूची -

1-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 4 पृष्ठ 404
2- सवार्थसिद्धि अध्याय 6 सूत्र 5
3-रयणसार 153
4-आदिपुराण 38 सर्ग 50, 51
5- आदिपुराण पर्व 38/50,51

6–भगवती आराधना 1003
7–भगवती आराधना 1004
8– संस्कार संहिता अध्याय 3
9–सागार धर्मामृत अध्याय 2/60
10– जैन विवाह विधि पृष्ठ 5
11–संस्कार संहिता अध्याय 4
12– पंचकल्याणक की वैज्ञानिक विवेचन पृष्ठ 1, 2
13– जैनाचार विज्ञान
14– पुष्पांजलि 2, 150

– पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन
रजवाँस, सागर म.प्र.

सम्पादकीय

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बडौत

विद्वत्संगोष्ठियाँ तत्त्वज्ञान के प्रसार-प्रचार का सशक्त माध्यम हैं। इसी कारण अनेक आचार्य और मुनिवर विद्वत्संगोष्ठियाँ कराने के लिये जैन समाज को प्रेरणा प्रदान करते हैं, उन्हीं में परमपूज्य पुष्पगिरि प्रणेता आचार्यश्री पुष्पदन्तसागर महाराज के परमशिष्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी संस्कार प्रेरक मुनिश्री सौरभसागर महाराज अपने प्रत्येक वर्षायोग में ज्ञान की प्रभावना हेतु विद्वत्संगोष्ठी कराने की समाज को प्रेरणा प्रदान करते हैं। मुनिश्री का २०१६ का वर्षायोग भारत की राजधानी दिल्ली के उपक्षेत्र रोहिणी सेक्टर ११ में हुआ। वर्षायोग में भक्ति और ज्ञान के अनेक आयोजन रखे गये उन्हीं में '**जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान**' इस विषय पर एक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी को आयोजित किया गया। संगोष्ठी में जैनधर्म और विज्ञान के अध्येता मनीषी सम्मिलित हुये।

'जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान' विषय पर संगोष्ठी दो हेतुओं से आयोजित की गई एक वर्तमान का युवा शास्त्रीय कथनों पर विश्वास करके सन्तुष्ट नहीं होना चाहता है क्योंकि वह तो विज्ञान की कसौटी पर परख करना चाहता है। दूसरा मुनिश्री ने निज अध्यवसाय से आधुनिक विज्ञान को जाना समझा और जैन विद्या के परिप्रेक्ष्य में तत्त्वज्ञान जो जनसामान्य के लिये समझाने में कारण है, उसको मुनिश्री सौरभसागर महाराज उपयोगी दिया। विद्वान् और समाज मुनिश्री द्वारा दी गई आलेखों की समीक्षायें और तात्त्विक प्रवचन से अत्यधिक लाभान्वित हुये।

मुनिश्री ने आलेखों की समीक्षा करते हुये कहा - यह सत्य है कि विज्ञान ने दिक् और काल पर विजय पा ली है और वैज्ञानिक तकनीक ने मनुष्य के हाथ में परमाणु की असीम शक्ति दी है। जिससे

भौतिक संसाधनों में मनुष्य सन्तुष्ट हो गया है किन्तु आत्मिकता और आत्मीयता के क्षेत्र में वह अत्यन्त विपथ हो गया है, उसकी महत्त्वाकांक्षा ने उसे तोड़कर रख दिया है।

डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है – मनुष्य जो बनना चाहता है और जो है, उसके बीच विनाशकारीअसन्तुलन है यही विरोध हमारी अशान्ति का कारण है। हम बात समझदार व्यक्तियों की तरह करते हैं पर व्यवहार पागलों की तरह करते हैं।

संगोष्ठी में विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य ने बाह्य पदार्थों को तो अन्त तक जान लिया है, परन्तु उसे अपने अन्तर का अपने आप का कोई पता नहीं है। वह अपने सामने ही दीन–हीन हो गया है। आत्मा का ज्ञान न होने के कारण वह बाहर शरण की तलाश में भटकता है, परन्तु उसे कहीं भी शरण नहीं मिलती है। जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि बाह्य संसार की कोई भी वस्तु धरा–धाम, धन–सम्पत्ति, स्त्री–पुत्र कोई भी हमारी शरण नहीं हो सकते हैं। धर्मात्मा मनुष्य आत्मा में शरण पा सकता है परन्तु आधुनिक मनुष्य कभी भी अपने आप में और धर्म में नही हैं, वह सदैव बाह्य जगत् में भटकता रहता है। पर की तलाश निरर्थक है, जो भी पर है वह सहारा नहीं हो सकता है एक मात्र आत्मा ही सहारा है। आत्मा सहज और संसार असहज है। सहज आत्मा की अनुभूति/ संवेदन के लिये जैन धर्म में सामायिक, ध्यान, प्रायश्चित, प्रतिक्रमण आदि उपाय बताये गये हैं। इन्हीं क्रियाओं को करने से मानव आत्मा के निकट पहुँचता है साधक तो साक्षात्कार करने में भी सफल हो जाता है। गृहस्थ उक्त उपायों द्वारा जीवन के द्वन्द्वों दुःखों से छुटकारा पाकर सहजता का अनुभव करता है। सुख का अनुभव करता है। इत्यादि जानकारी मुनिश्री सौरभसागर महाराज और संगोष्ठी में चालीस विद्वानों द्वारा समाज को दी गई। दिल्ली रोहिणी क्षेत्र की समाज और संगोष्ठी के काल में बाहर से आई हुई समाज ने संगोष्ठी से विशेष ज्ञान लाभ लिया। इसलिये संगोष्ठी आयोजक सेक्टर ११ रोहिणी की जैन समाज ने संगोष्ठी की सुव्यवस्था की और विद्वानों का यथायोग्य सत्कार

किया। विद्वानों की सर्वसुविधा व्यवस्था करने में संयोजक श्री पुष्पेन्द्र जैन, प्रधान श्री नरेन्द्र जैन गन्नौर वाले, सचिव श्री एन के जैन, श्री एम के जैन, श्री एम के जैन इंजीनियर, गौरव जैन आदि ने अहर्निश कार्य किया इनके और सम्पूर्ण रोहिणी समाज के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। रोहिणी सेक्टर-११ की व्यवस्थाओं को सभी विद्वानों ने सराहा।

परम पूज्य ज्ञानयोगी संस्कार प्रेरक मुनिश्री सौरभीसागर की तात्त्विक समीक्षाओं और सामायिक प्रवचनों ने विद्वानों का मन-मोह लिया। पूज्य श्री के वात्सल्य को पाकर भी हम सभी विद्वान् कृत्कृत्य हुये उनके प्रति आभार मानते हैं। समागत देश के मूर्धन्य हुये उनके प्रति आभार मानते हैं। समागत देश के मूर्धन्य विद्वानों का पधारना निश्चित ही संगोष्ठी की सफलता का निमित्त रहा है। सभी समागत विद्वानों के प्रति आदर भाव व्यक्त करता हूँ। जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान विषय पर आयोजित संगोष्ठी में मूर्धन्य विद्वानों के द्वारा पठित आलेखों का प्रकाशन दिली रोहिणी सेक्टर ११ के द्वारा प्रकाशन किया जाना महत्त्वपूर्ण है। मैं सभी के प्रति पुनः आभार व्यक्त कर अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ।

अध्यक्ष -
अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्
मण्डी, आनंदगंज, बडौत २५०६११
९८३७०४३२२१

प्रवचनांश

- मुनिश्री सौरभसागर जी महाराज

मानव जीवन में ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। संसार में प्रत्येक जीव के पास ज्ञान है। जो अनन्त की क्षमता में परिवर्तित हो सकता है, जो केवलज्ञान रूप है, इसलिये आध्यात्मिक ज्ञान हो या आधुनिक ज्ञान-विज्ञान रूप दिव्यध्वनि कारी रूप है, धारण करने वालों के ऊपर निर्भर करता है कि वह ज्ञान सु है या कु - भक्तामर स्तोत्र में भी कहा गया है कि -

भाषास्वभावपरिणामगुणैर्प्रयोज्यः।

ज्ञान की क्षमता का श्रुत रूप वर्णत तो व्याख्या से मात्र ६०० वर्ष चला पर धरसेनाचार्य की दूर दृष्टि ने दो मुनिराज पुष्पदन्त एवं भूतबलि को सम्पूर्ण ज्ञान समर्पित कर शब्द को अक्षर रूप में प्रस्तुत कर द्रव्य, पदार्थ, तत्त्व, अस्तिकाय आदि प्रकट कर षट्खण्डागम जैसा महान् ग्रन्थ दिया उनका ही उपकार मानते हुये वीरसेन स्वामी ने कहा है।

आचार्य पुष्पदन्तसागरजी महाराज कहते हैं कि जब ज्ञान अपनी सरलता, विनम्रता खो देता है तब वह ज्ञान बोझ बन जाता है, बोध का जागरण नहीं करता। इसलिये अज्ञान शास्त्र अध्ययन से नहीं सन्त समागम से टूटता है - दर्शनविशुद्धि है।

ज्ञान आत्मा के विकास में प्रमुख कारण होता है, इसलिये ज्ञान के उपार्जन के कारण या निमित्त बनाये जाते हैं उन्हीं निमित्तों में विद्वत्संगोष्ठी एक विशेष निमित्त है, मैं प्रतिवर्ष चातुर्मास में विद्वत्संगोष्ठी की प्रेरणा देता हूँ जिससे विद्वानों एवं समाज को ज्ञान के आदान-प्रदान का अवसर मिलता है इसमें मैं भी यथासम्भव ज्ञान का आदान-प्रदान करता हूँ। ज्ञान के, आराधना के आयोजन में नई-नई चर्चायें निकलकर आती है,

नवीन-नवीन विषय भी उद्घाटित होते हैं। विगत २२ वर्षों में सम्पन्न हुई संगोष्ठियों में अनेक सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विषयों पर विस्तार पूर्वक चर्चा और वार्तायें हुई है।

दिल्ली महानगर के रोहिणी उपक्षेत्र में २०१६ के चातुर्मास में 'जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान' विषय पर विद्वत्संगोष्ठी आयोजित की गई जिसमें विविध विषय आधुनिक विज्ञान से सम्बद्ध प्रस्तुत हुये। विद्वानों ने अपने क्षयोपशम व आगम के आधार पर आलेख तो प्रस्तुत किये उनमें वैज्ञानिक और धार्मिक गहराई की और आवश्यकता थी क्योंकि जैनधर्म का वैज्ञानिक पक्ष मजबूत है, जैनाचार्यों ने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्यों का विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अद्भुत चित्रण किया है। द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप को जैन धर्म के आलोक में वर्णन तो है किन्तु वैज्ञानिकों द्वारा द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप को वैज्ञानिक आधार से प्रस्तुत करना एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। पंचास्तिकाय, नवपदार्थ आदि के वैज्ञानिक पक्ष भी अपने आप में जैनधर्म का वैशिष्ट्य। जहाँ तक जैन सिद्धान्त की विवेचना की बात है। आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया है, वैज्ञानिक उतने सूक्ष्म विवेचन करने में अक्षम है। वैज्ञानिक तो ऊपरी धरातल पर ही टिके हैं और स्थूल, विश्लेषण करके सन्तुष्ट है, जबकि जैनाचार्यों ने विषयों की गहराई में पहुँच कर उन विषयों की विवेचना की है जो आधुनिक विज्ञान के लिये चुनौती बना हुआ है।

इस **जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान** विषय पर आयोजित संगोष्ठी में सम्मिलित होने वाले सम्पूर्ण मनीषियों को आशीर्वाद। संगोष्ठी संयोजक डॉ. श्रेयांस कुमार जैन बडौत को आशीर्वाद। संगोष्ठी की व्यवस्था बनाने वाले रमेश जैन (झज्जर वाले), शरदराज कासलीवाल, पुष्पेन्द्र जैन, एन.के. जैन, नरेन्द्र जैन (गन्नौर वाले), मनोज जैन, दीपक जैन एवं समस्त श्री पुष्पवर्षायोग समिति, रोहिणी दिल्ली का सराहनीय योगदान रहा एवं पं. संदीप जैन 'सजल' हस्तिनापुर ने भी व्यवस्था में योगदान देकर सहयोग किया है, इन सभी को मेरा मंगलमय आशीर्वाद।

१. जैनदर्शन समझौता नहीं समझदारी को स्वीकार करता है।

२. समझौता का अर्थ शिथिलता है, समझदारी का अर्थ परिस्थिति के अनुसार आचारण को सुरक्षित रखना है।

३. समझौता में मजबूरी होती है, समझदारी में ईमानदारी और जिम्मेदारी होती है।

४. पहले मुनि वनों में रहते थे, शहर-नगर में आ गये तो चर्या के साथ समझौता नहीं किया, समझदारी का प्रयोग करके चरणानुयोग को सुरक्षित रखकर समझदारी का प्रयोग किया है।

५. सिद्धान्त की दृष्टि से देखेंगे तो तीर्थों पर रहने वाला साधु उदिष्ठ आहार करता है, गाँव, शहर, नगर में रहने वाला सहज करता है, क्योंकि तीर्थों पर जाकर भोजन ग्रहण करने वाला श्रावक आजकल नहीं गाँव शहर में रहकर मर्यादित भोजन करने वाले आज भी है।

६. आजकल वॉटसप्प के माध्यम से अनर्थदण्ड ज्यादा होते हैं जो अप्रयोजनीय बातों का विस्तार देकर करते हैं यह शाब्दिक अनर्थदण्ड है।

७. वर्तमान में जितनी भी क्रियायें मनोरंजन की है वह सब अनर्थदण्ड है। अनर्थदण्ड करने मिल जाये ता खुश होकर व्यसनों की ओर जा रहा है, धन की बर्बादी कर रहा है, न मिले तो दु:खी होकर अवसाद (डिप्रेशन) में जा रहा है।

८. मानसिक, कायिक, वाचनिक पापों से बचने के लिये अनर्थदण्ड व्रत है।

९. कार्य सार्थक हो तो कोई न कोई अर्थ है और यदि कार्य व्यर्थ हो तो वह अनर्थदण्ड है।

१०. अति बुद्धिवादिता अहंकार की आराधना है, ओंकार की साधना नहीं है।

११. आज से ३००-४०० साल पहले के साधु टीवी, फेसबुक, वाट्सएप आदि पोस्टर में नहीं आये पर आज तक आपके दिल में बसे हैं, जिसका कारण उच्चज्ञान और आचरण है उनके ग्रन्थ व सहन क्षमता है विज्ञापन

नहीं।

१२. धर्म रिवर्स (अपनी ओर ले लो)को और विज्ञान रिसर्च को मानता है।

१३. भीड़ में बुद्धि नहीं भेड़ चाल होती है, इसलिये भीड़ में एक की त्रुटि उपद्रव करती है और सभी देखादेखी उपद्रव में सम्मिलित हो जाते हैं।

१४. श्रुतपंचमी का महापर्व षट्खण्डागम ग्रन्थ की आराधना से प्रारंभ हुआ इसलिये **मंगल पुष्पदन्ताद्यौ** बोलकर हम उनके प्रति बहुमान व्यक्त करते हैं। क्योंकि मंगलाचरण चार कारणों से किया जाता है। वीरसेन स्वामी ने कहा है कि महावीर स्वामी के पश्चात् गौतमस्वामी है तत्पश्चात् पुष्पदन्त-भूतबलि के नाम का उल्लेख किया है।

१५. डॉक्टर बनकर मरीज को देखोगे तो रोगी नजर आयेगा, अभिभावक बनकर देखोंगे तो रोग निकालने का भाव उत्पन्न होगा, तथाकथित ज्ञानी (छिद्रान्वेषी)बनकर साधु को देखेंगे तो शिथिलाचारी नजर आयेगा, श्रद्धात्मक दृष्टि से देखोगे तो **दोषवादे च मौनम्** का भाव उत्पन्न होगा।

१६. साधु की त्रुटि देखकर साधु ही ज्यादा बकवास करें तो वह अपनी ही दिगम्बर मुद्रा को लांछित करता है। समाचार विधि का पालन कर दोष बताता है तो सम्यक्त्व के स्थितिकरण अंग का पालन करता हुआ अपने मिथ्यात्व को गलाता है। साधुता के प्रति श्रद्धाभाव बढ़ाता है।

१७. चारित्र से भ्रष्ट इंसान तर सकता है, दर्शन से भ्रष्ट इन्सान नहीं। इसलिये पुलाक, वकुश मुनि भी भावलिंगी कहे गये हैं इसलिये आचार्यों ने कहा कि **सिज्झंति चारित्र महादंसण महा न सिज्झंति।**

१८. भगवान महावीर स्वामी ने पथ दिया है पंथ नहीं। पथ की मान्यता गृहीत मिथ्यात्व है जो वस्त्रधारियों की देन है।

१९. धर्म और धर्मात्मा को सूक्ष्म बुद्धि से नहीं शुभ व शुद्ध बुद्धि से देखा जाता है।

२०. जैनत्व के संस्कार देने वाले लगभग १८ गुरुकुल में कुछ लुप्त हो गये, कुछ सुप्त हो गये, कुछ चुस्त हो गये हैं, पर गुरुकुल पंथवादी

बनाकर धर्म, मंदिर, साधुता में भेद कर रहे हैं, जैनत्व का अस्तित्व नहीं विकसित कर पा रहे हैं।

२१. पंथवाद के नाम पर गुरुकुलों से धार्मिक शिक्षा तो मिल रही है पर धार्मिक षट् कर्त्तव्य मूलक संस्कार नहीं।

२२. वर्तमान के शिक्षण संस्थान पंथवाद को बढ़ावा दे रहे हैं, देव-शास्त्र-गुरु की आराधना के भावों को मजबूत नहीं करा रहे हैं।

२३. गुरुकुल जैन शिक्षा का साधन मात्र है यदि उसके साथ सच्चाई, दृढ़ता, शान्ति, समपर्णता, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति सहज श्रद्धा का गुण प्रकट नहीं हुआ तो वह शिक्षा गधे की पीठ पर चन्दन का भार है वह समाज को लाभ नहीं हानि पहुँचाती है। गुरुकुल की शिक्षा का उद्देश्य मात्र धार्मिक क्रिया को धन कमाने का साधन नहीं बल्कि समाज के भीतर व्याप्त अज्ञानता को दूर करते हुये देव-शास्त्र एवं दिगम्बर गुरु की सेवा करना है यह उद्देश्य सफल न हो तो शिक्षा में किया गया खर्च व्यर्थ है।

२४. गुरुकुल में विद्यार्थी की बुद्धि का विकास होना चाहिये, बुद्धि में विकार नहीं, व्यक्तिवादी-पंथवादी मानसिकता प्रकट करना अपनी ही शिक्षा को अमान्य करना है। जहाँ **आप्तागम-तपोभृताम्** के प्रति श्रद्धा विनय नहीं वह शिक्षा बोध नहीं है बोझ है।

२५. वर्तमान में साधुओं में भी ज्ञानी साधु बहुत है पर यशस्वी नहीं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, परिषह सहना मजबूरी या महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति ये कारण हो सकते हैं। परन्तु अदर्शन, अज्ञान, प्रज्ञा, सत्कार-पुरस्कार आदि परिषह सहन करना साधना है, आज के युग में यह परिषह सहन करने वाले साधु भले ही यशस्वी न हो पर वन्दनीय अवश्य है।

२६. जो आचार्य पुष्पदंत-भूतबलिजी प्रणीत षट्खण्डागम को श्रद्धा से मानेगा वह कभी पन्थवाद को महत्त्व नहीं देगा।

२७. जो अपने आपको विद्वान् कहते हैं वे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनम्र रहे।

२८. बचपन में ईमानदारी, यौवन में उत्साह, बुढ़ापे में अनुभावात्मक

क्रिया श्रेष्ठता का विकास करती है।

२९. अपने आपको ऊँचा दिखाकर किसी को नीचा दिखाना वीतरागता नहीं अहंकार का प्रदर्शन है।

३०. गुणानुवाद को परिभाषा नहीं श्रद्धा की उत्कृष्टता कहते हैं, जो तुलनात्मक अध्ययन नहीं स्वयं की मान्यता की अभिव्यक्ति होती है।

३१. ढंग का जीवन जीने वाला अपना आचरण सुधारता है, ढोंग का जीवन जीने वाला मात्र दूसरे पर टिप्पणी असद् वचन कहता हुआ अपने आप को चन्द्र शबासी में बेच देता है।

३२. स्पष्ट वादिता के नाम पर सत्य को स्वीकार करने के लिये कलेजा चाहिये और उसे कहने के लिये मात्र भेजा चाहिये।

३३. वर्तमान को शानदार, जानदान नहीं ईमानदार और समझदार और जिम्मेदार बनाये।

३४. ऐसा कोई भी मकान नहीं है जिसमें एक द्वार और एक नाली ना हो उसी प्रकार वर्तमान में ऐसा कोई साधु नहीं जिसमें एक गुण और एक दोष न हो।

३५. पण्डित और विद्वान् अगर धार्मिक वातावरण का विस्तार करना चाहते हैं तो अपने नगर में १ घंटा मंदिर में स्वाध्याय करें, स्वयं पूजा करें, संत नगर में आये तो उनका सम्मान करें, लाये ले जाये अपने आप वातावरण में परिवर्तन नजर आने लगेगा।

३६. तडित जल को शास्त्रों में शुद्ध माना है तो हेण्डपम्प का जल भी शुद्ध है। कुआ का पानी नहीं मिल रहा है तो वर्षा का एकत्रित जल पीने की बात कर रहे हैं, अपने पर बीतती है तब उपाय इन्सान स्वय खोजता है, पर आगम की नहीं अपनी व्यवस्था सुरक्षा देख रहा है।

३७. जैसे-जैसे विज्ञान आगे बढ़ रहा है वैसे-वैसे ऋषि और मुनियों की वाणी पर अपनी मुहर लगा रहा है।

३८. अवलोकन, विश्लेषण, प्रयोग फिर व्याख्या करें तब पुण्य-पाप ही नहीं, अहिंसा ज्यादा नजर आयेगी।

३९. धर्म में विज्ञान अवश्य होता है, विज्ञान में धर्म हो या न हो क्योंकि

विज्ञान रिसर्च को स्वीकारता है, धर्म रिचर्स, तीर्थंकरों के उपदेश, आचरण की ओर लौटने की प्रेरणा देता है।

४०. धर्माराधक धर्म विशेष के आचरण की बात करते हैं, धर्मोपदेशक मात्र धर्म की बात करता है, धर्म का प्रतिपादन करते हैं, मानना न मानना श्रोता के समझ पर छोड़ देते हैं।

४१. धर्म के पास दर्शन (विचार) भी है, आचरण भी (आचार), विज्ञान के पास मात्र दर्शन होता है आचरण नहीं।

४२. धर्म भीतर के भावों को देखता है, पाप को पकड़ता है, विज्ञान बाहर के पदार्थ को देखता है, मात्र अपराध को पकड़ता है।

४३. वर्तमान विज्ञान शरीर के तल पर जीता है, वीतराग विज्ञान आत्मा के तल पर जीता है, इसलिये विज्ञान आधुनिक है धर्म आध्यात्मिक होता है।

४४. वीतराग विज्ञान परिणामों के अनुसार निर्णय करता है, आधुनिक विज्ञान परीक्षणों के आधार पर निर्णय करता है।

४५. अध्यात्म से रहित कोई भी जीव नहीं है पर प्रकटीकरण की साधना का अभाव है।

४६. आदिनाथ से लेकर महावीर तक साधनों से वस्तु का परीक्षण नहीं किया, साधना से ध्यान, चक्षु से वस्तु का ज्ञान किया और यर्थाथ रूप का प्रतिपादन किया है, उनका माइक्रोस्कोप यंत्र उपकरण उनका केवलज्ञान था।

४७. आदिनाथ पुराण की संस्कार की क्रियाओं का पालन करता है पंथवादिता नहीं, आचारण का सुधार, संस्कारों का जन्म जैनत्व का बोध है जो जन को जैन में परिवर्तित करता है क्योंकि जन में मनुष्य मात्र है, जैन शब्द में आचार और विचार की दो मात्रा अवतरित होती है।

४८. आजकल गृहस्थों के गर्भ से मृत्यु तक के संस्कारो में से एक अन्त्येष्ठि संस्कार शेष बचा है, बाकी सब खो गये तो परमेष्ठी को स्वीकारता है, वहाँ पूर्वाग्रह से मुक्त विद्वत्ता का जागरण होगा वहाँ विभेद नहीं, विवाद नहीं, संवाद होगा, स्याद्वाद होगा।

४९. जो सम्यक् आचारण का दें पुरस्कार उसी का नाम है संस्कार, इसलिये पहले सदाचार फिर जैनाचार फिर श्रावकाचार फिर श्रमणाचार है।

५०. जो धर्म एवं श्रद्धा से युक्त होगा वह परिचय एवं अधिकार का प्रयोग नहीं करेगा वह आगम को ही मान्यता देगा।

५१. आगम में मुनि और आर्यिका में भेद किया है तभी इसको महाव्रती कहकर भी कुछ आचरण की भिन्नता प्रकट कर दी पर श्रावक और श्राविका में भेद नहीं किया इसलिये उनके आचरण में षट्कर्त्तव्य की क्रिया में भेद नहीं है।

५२. मुनियों के आचरण में मात्र 2 या 3 ग्रन्थ है पर श्रावकचार के १०८ ग्रन्थों में ४३ उपलब्ध प्रकट है क्योंकि जिस काल में जिस दुराचरण की पाप की बहुलता देखी उसी को मुख्यता देकर आचरण की शुद्धता उत्कृष्टता को जन्म देने की बात कही इसलिये समयानुसार मूलगुणों के आचरण नामों में भी परिवर्तन है।

५३. प्रारंभिक श्रावकाचारों में श्रावकों के उत्कृष्ट आचरण का प्रतिपादन है, माध्यम अंत के श्रावकाचारों में छोटे-छोटे आचरण नियम बताकर श्रावकत्व को सम्भालने की चेष्ठा की गई है।

५४. जैन शासन में षट् खण्डागम को स्वीकारा है पंच-परमागम को श्रुतपंचमी का जनक नहीं माना। समझौता में मजबूरी होती है, समझदारी में ईमानदारी और जिम्मेदारी होती है।

५५. आगम को मानने वाला विचारों की टूटन की चर्चा भले करे पर सामाजिकता में टूटन को बचाता है और मुद्रा एव मान्यता स्यात् के सूत्र को अंगीकार कर पिच्छी, कमण्डल, नग्नता, केशलोंच, करपात्राहारी को देख सहजता से विनम्र हो जाता है।

५६. जैनत्व के संस्कार गर्भगत हो, जन्मगत हो, विवाहगत हो, वर्षगाँठ हो, सन्तान आगमन हो, मुण्डन हो, कोई भी संस्कार हो मात्र वीतरागी भगवान से जुड़ा है वह भावना है, मिथ्यात्व नहीं वह जिनधर्म से जुड़े रहने का साधन है। पन्थ का नाम देकर अन्य ग्रन्थों से आया ऐसा

स्वीकार कर मिलावट कहकर नकारने से वह मिथ्यावी है व वह उनके पास जायेगा।

५७. **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** की विशालता को स्वीकारने में जीवन खप जायेगा अभी तो **परस्परोपग्रहो जैनानाम्** ही स्वीकार ले ताकि जैनत्व संघठित हो सके।

५८. जब १८वे पुष्पवर्षायोग २०१२ सम्मेदशिखरजी में ५ आचार्य, २० साधु, १५ आर्यिका आदि लगभग ४६ पिच्छी के मध्य जब श्रमण (साधु) और श्रावक पर गोष्ठी का माध्यम हुआ – तब देखा कि कुछ श्रमण सत्कार–पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन आदि परिषह सहन कर रहे जो कि ज्ञानी है, तपस्वी है पर उनका यश नहीं है। इसलिये उनकी विशेषता की पहचान नहीं होती है।

५९. जैनदर्शन में पहला आचारांग, दूसरा सूत्रकृतांग, तीसरा व्याख्याप्रज्ञप्ति है, यानि पहले आचारण करो, सूत्र को समझो फिर व्याख्या करो अन्यथा मौन रहना ही श्रेष्ठ है।

६०. जैनियों के पास खान–पान की मर्यादा की चर्चा विशेष है क्योंकि खान–पान शुद्ध होता है तो खानदान भी शुद्ध होता है, आहार–शुद्धि, सत्त्व शुद्धि।

६१. खाते–पीते घर का होना पुण्य की बात है, खाने–पीने वाले घर का होना पाप का उदय है।

६२. जब तक व्यक्ति अभक्ष्य नहीं छोड़ता है, तब तक जैनत्व का पूर्ण जागरण नहीं हो सकता है।

६३. त्रसहिंसा कारक पदार्थ का त्याग वाला जैनी मद्य, मांस, मधु का सेवन तो किंचित् भी नहीं करता है, पर ज्ञात ऐलोपैथ, होम्योपैथ, औषधि का त्याग करता है और बाजार से पेक्ड खाद्य सामग्री का भी त्यागी होता है क्योंकि इनमें दो इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीवों की तीव्र मात्रा में हिंसा होती है।

६४. विज्ञान को मानने वाला मात्र बाहर की सफाई पर ध्यान देता है धर्म को मानने वाला बाहर की सफाई और भीतर की शुद्धता, दयालुता का

भी ध्यान रखता है और स्वीकार भी करता है।

६५. सरकारी नौकरी वाले ये मेडिकल के बहाने छुट्टी लेते हैं तो अस्थिर अशुभ असाता कर्म का बन्ध करते हैं।

६६. आचरण भय से, कुल से, नियम से, अधिकार से नहीं भीतर के समर्पण से होना चाहिये, अन्यथा वह अकाम निर्जरा ही कहलायेगी।

६७. इन्सान को काय संभालने के लिये संयम, वचन के लिये मधुरता और मन को नियन्त्रित करने के लिये संतुष्टि की आवश्यकता है।

६८. बहुस्थावर हिंसाकारक पदार्थ का त्याग वाला इन्सान मात्र आलू का नहीं प्याज, लहसुन, गाजर, मूली, शकरकंद, आदि का त्याग करता है, गाजर, मूली पहले छोड़ता है क्योंकि वह एक फल के लिये एक पूरे वृक्ष को उखाड़ना पड़ता है, तामसिक है, जीवाश्म ज्यादा है। पूरा पेड़ उखड़ कर खाने वाला कृष्ण लेश्या परिनामी है।

६९. प्रमादकारक वाली सुस्ती, निद्रा, चिड़चिड़ापन, तामसिक, गरिष्ठ, मादक, नशीली वस्तु का नियमत त्याग करता है क्योंकि ये सक्रियता को निष्क्रियता में बदल देती है।

७०. महावीर की दृष्टि में साधना अहिंसा का पालन तो करना है पर शरीर के स्वास्थ्य का भी ख्याल रखना, भक्ष्य होने पर भी अनिष्टकारक हो और पापों को बढ़ाये उसे भी त्यागना चाहिये ताकि धर्म भी चले और शरीर भी चले।

७१. अनुपसेव्य पदार्थ का सेवन भोगी प्रवृत्ति के कारण इसको वर्तमान में आधुनिकता विलासिता के नाम पर ज्यादा विस्तार हुआ है जो खाने योग्य नहीं है उसे खाना तथा जो वस्त्र उपयोग योग्य नहीं होने पर भी पहनना ऐसे सभी योग, उपभोग, की सामग्री अनुपसेव्य है।

७२. धर्म पालन करने वाले को उद्देश्य स्वरूप परिणाम तीन शब्दों का ख्याल रखना चाहिये, कार्य का उद्देश्य क्या है? इसका स्वरूप कैसा है? और परिणाम क्या होगा?

७३. महावीर की त्याग परम्परा स्वास्थ्य एवं साधना दोनों का ख्याल रखती है।

७४. जैनदर्शन की क्रिया सरल है शब्द कठिन जो व्यवहारिकता का परिचय देती है जिसे कई श्रावक स्वीकारते है जैसे पड़गाहन, उच्चासन, पाद-प्रच्छालन, नमन, पूजन शब्दों में नहीं जानते पर क्रिया में सहजता से यह क्रिया मात्र बुलाना, बैठाना, चरण धुलाना, विनम्रता खाद्य सामग्री की जानकारी है जो व्यवहारिक क्रिया है, आध्यात्मिक उपलब्धि का साधन भी है।

७५. समुद्र में ऊपर तैरोगे तो मछली मिलेगी, भीतर जाओगे तो मोती मिलेगा, धर्म के बाह्य विचार में जाओगे तो विवाद है भीतर जाओगे तो स्याद्वाद शुभ संवाद है।

७६. जो मनुष्य पंक्ति में न बैठने योग्य, पुरुषों के साथ भोजन आदि करते हैं वह इस लोक में निंदित और पर लोक में दु:ख भोगते हैं। आज के हिसाब से अगर आगम वचन को देखे तो संभवत: कोई भी श्रावक विद्वान् सभा में बैठने योग्य भी नहीं है, और शास्त्र गद्दी के लायक तो है ही नहीं, क्योंकि होटलों में खाता है, सरकारी नौकरी करता है, अफसरों की खातेदारी करके उसके साथ ही ख-पी भी लेता है, अन्य भी कई व्यवहारिकतायें निभानी पड़ती है।

७७.पाश्चात्य संस्कृति में दार्शनिक एवं भारतीय संस्कृति में सन्तों ने जन्म लिया है।

७८. अगर आप योगी नहीं बन सके तो उपयोगी अवश्य बने।

७९. सत्य को पाने के लिये, सत्य को पढो, जानो, स्वीकारो एवं सत्य का

८०. खुलासा करो क्योंकि सत्य मुख का नहीं मन का विषय है।

आन्दोलित, उद्बेलित करने वाला नहीं आकर्षित करने वाला उपदेश करना चाहिये क्योंकि भीड़ को आन्दोलित किया जाता है। ईर्ष्यालू और दुश्मन को उद्बेलित किया जाता है तथा आकर्षित उन्हें किया जाता है जिनमें भविष्य के सुधार की संभावना के द्वार खुले होते हैं उन्हें ही आकर्षित उपदेश दिया जाता है।

८१. गृहस्थ तो आज भी भोला और सीधा है तथाकथित ज्ञानी और

स्वार्थी ही उन्हें बिगाड़ते हैं अपना मतलब सिद्ध करने के लिये।

८२. आलू, प्याज, शकरकंद आदि कंद है, गाजर-मूली आदि मूल है, क्योंकि वही जड़ वही मूल है, इसलिये कंदमूल का गृहस्थ को भी त्याग करना चाहिये, हल्दी और सौंठ में क्षार तत्त्व होने से सूखी औषधि के रूप में ग्रहणीय है।

८३. सचित्त फल को अचित्त, छिन्न-भिन्न करके, नमक छिड़कर, कुचलकर, मसलकर, उबालकर लिया जाता है किसी रुग्ण व्यक्ति के आचरण को नहीं थोपा जाता है। कुछ खाद्य-पदार्थ क्षेत्रीय रूप में हेय-उपादेय होते हैं।

८४. भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विकास में जैन संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है। पुरा वैभव के रूप में जैन साहित्य, प्रतिमा, सिक्का आदि बहुत-सी वस्तुयें है।

८५. आजकल एक अजैन प्रतिमा निकल आये तो पूरे देश में हल्ला मच जाता है और यदि जैन प्रतिमा निकल जाये तो कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

८६. अधिकांश प्राचीन प्रतिमायें यक्ष, यक्षिणी, प्रातिहार्य, चिह्नों से युक्त मिलती है, जो अरिहन्त प्रतिमा की द्योतक है, वर्तमान में प्रातिहार्य विहीन प्रतिमा ज्यादा है। इसे भी पंथ से जोड़कर प्रतिमा-विज्ञान, अतिशय, मर्यादा को ही छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया जा रहा है जो दुर्भाग्यपूर्ण है।

८७. वर्तमान में जीव कर्माधीन है स्वाधीन नहीं।

८८. जैसे एक ही बगीचे में आम, चीकू, केले, सनतरे के वृक्ष होते हैं अपनी-अपनी योग्यतानुसार रस, गन्ध, वर्ण ग्रहण करते हैं व जो सारे प्रकृति में विद्यमान है उसी प्रकार जीव भी दुनियाँ में भ्रमण करता है, कर्म के परमाणु चारों ओर फैले हैं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ कर्म ग्रहण करते हैं।

८९. सुख का कारण अहिंसा है, अहिंसा आनन्द की पद्धति है, अहिंसा

जगत की माता है, अहिंसा का जीवन में आना ही शुद्धता का जागरण है।

९०. प्राय: चित्त में आई अशुद्धि, उलझने, द्वन्द्व से पार जाने का माध्यम प्रायश्चित है, जो गुरु के सम्मुख दोष अभिव्यक्ति कर आत्मा का शुद्धिकरण है।

९१. व्रत से खण्डित होकर भी प्रायश्चित लेकर उस व्रत में पुन: स्थापित करने का परम उपकार गुरु करते हैं वह पश्चाताप ही प्रायश्चित है, आत्मशोधन का साधन है।

९२. विजाति के घर भोजन, गर्भपात, हिंसक, पंगत में बैठकर खाना यह दोषकारी ही नहीं पापकारी भी है वह जैन पंक्ति में बैठने लायक नहीं है यह सारे शब्द वर्तमान के गृहस्थ, विद्वान् को जैन होने से ही वंचित कर रहा है। क्योंकि आज ऐसे शुद्ध घर का होना मुश्किल है क्योंकि व्यापार, स्वार्थ, संबंध इन दुर्गुणों को सहज ही घरों में प्रवेश दे दिया है।

९३. चिर-परिचित रूढ़ियों और चिर-परिचित विश्वासों को आघात पहुँचाने वाली हलचलों को हम देखना, सुनना नहीं चाहते हैं, हम ऐसी हलचलों को परम्परा विरुद्ध समझकर उनके प्रति आँख मीच (बंद) लेना उचित समझते हैं किन्तु ऐसा करने से काम नहीं चलता वह हलचल वह क्रान्ति हमें झकझोर रही है और विना होश में लाये नहीं छोड़ती क्योंकि जिनवाणी के जनक पुष्पदन्त-भूतबलि की की स्मृति ही हमारी संस्कृति की स्वीकृति है।

९४. मनुष्य को अपने बंधनों से बिछुड़ते हुये दु:ख होता है इसलिये बहुत सी बातों को हम इसलिये नहीं छोड़ पाते कि वह एक परम्परा बन गई है जिसमें सत्य को स्वीकारने की क्षमता होती है वही परवशता से मुक्त होकर कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

९५. परम्परा में बहुत कुछ अच्छाई होती है पर जब वह बोझ बन जाती है जिसकी बजह से प्रगति अवरुद्ध हो जाती है जो उस जंजीर से छुटकारा पाना ही पंथवाद से मुक्त होना है।

९६. परिस्थितियों से जन्मी परम्परा कुछ समय तक ही सही है उसके बाद मन:स्थिति पूर्व स्थिति को यथास्थिति में लाये वही ज्ञानी है।

९७. सत्य को स्वीकारने में बड़ी बाधा अज्ञान नहीं अपितु ज्ञान का भ्रम है।